नाटककार अश्क

जिनमें रंगमंच सम्बन्धी अश्क जी के सभी
लेख शामिल हैं



मुख्य-लेख

जगदीश चन्द्र माथुर

समीक्षा

गोपाल कृष्ण कौल

कमलेश्वर

दुष्यन्त कुमार

परिचय

भैरव प्रसाद गुप्त

द्वारका प्रसाद

निर्मल चन्द्र श्रीवास्तव

संकलन

कौशल्या अश्क

नीलाभ प्रकाशन

इलाहाबाद १

प्रथम संस्करण १९५४



प्रकाशक

नीलाभ प्रकाशन गृह, ५, खुसरोबाग़ रोड, इलाहाबाद

मुद्रक

जॉब प्रिंटर्स, ६६, हीवट रोड, इलाहाबाद

क्रम

मुख्य-लेख

समीक्षा

मेहमान का गुदगुदाने वाला चित्रण है। 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' नामक संग्रह के लगभग सभी नाटकों में परिस्थितियों का अनूठा चुनाव है। परिस्थिति चरित्र के अनुकूल ही नहीं जान पड़ती, बल्कि पात्रों में व्यक्तित्व का अनिवार्य प्रस्फुटन प्रतीत होती है। जैसे मैंने अन्यत्र लिखा है, जीवन की सतत प्रवाहशील धारा का क्षणिक ठहराव ही मानो अश्क के एकांकियों में मूर्तिमान होकर उतरता है। 'बतसिया' में इस ठहराव ने भँवर का रूप ले लिया है। शेष नाटकों में घटनाचक्र की गुत्थियाँ नहीं हैं, जीवन की शोभा-यात्रा के कुछ दृश्य सामने आते और तनिक ठहर कर फिर गतिशील हो जाते हैं। लेकिन इस अनायास प्रदर्शन के पीछे कितनी तैयारियाँ, कितनी तराश, कितनी नाप-जोख है, इसका अन्दाज़ मननशील पाठक और दर्शक ही लगा सकते हैं।

असल में अश्क की प्रमुख विशेषताएँ हैं श्रमसाध्य और जानदार पात्रों का सृजन। उनका प्रत्येक पात्र अपनी भाव भंगिमा और वाणी के द्वारा पहचाना जा सकता है। लेखक पात्रों के मुख से अपनी प्रवृत्तियों, अपनी भावनाओं का परिचय नहीं देता। लेखक का निजी व्यक्तित्व तो परिस्थितियों की प्रगति और नाटक के सामान्य प्रवाह और आधारभूत भावना में अन्तर्हित रहता है। किन्तु पात्र जो कुछ बोलते या करते हैं, वह उनका अपना है, वे लेखक के ही भिन्न भिन्न नक़ाब नहीं हैं। इस दिशा में अश्क हिन्दी में अनूठे नाटककार हैं। इस गुण की सिद्धि के लिए आवश्यकता है भीषण आत्मसंवरण की; पैनी, समदर्शी दृष्टि की और भिन्न-भिन्न भाँति के चरित्रों के हृदय में पैठकर उनसे समरस होने की क्षमता की।

एक बात और। सम्वाद और कार्य-सम्पादन पात्रों के विकास के आज हिन्दी में चुस्त और तीखे संवाद-लेखकों की कमी

नाटककार अश्क

उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटकों का रचना-काल सन् १६३७ से प्रारम्भ होता है, जब द्विजेन्द्र लाल राय और प्रसाद की शैली में 'जय-पराजय' की रचना हुई। १६३८ में उनके एकांकी 'लक्ष्मी का स्वागत' और 'अधिकार का रक्षक' छपे। 'पापी' और 'वेश्या' इनसे पहले लिखे गये थे, पर छपे बाद में। इन सोलह बरसों में उनके चार एकांकी संग्रह प्रकाशित हुए हैं—'देवताओं की छाया में', 'पक्का गाना', 'चरवाहे', और 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ'; छः स्वतन्त्र बड़े नाटक...'जय-पराजय', 'स्वर्ग की झलक', 'कैद', 'उड़ान', 'छठा बेटा' और 'भँवर' और तीन ऐसे नाटक जिनका आकार एकांकी से बड़ा होते हुए भी मूल प्रेरणा एकांकी की ही है...'आदि मार्ग,' 'अंजो दीदी' और 'पैंतरे'! १६ वर्ष के इस दौरान में अश्क ने तीन बड़े उपन्यास भी लिखे, कई

कहानी-संग्रह, दो मार्मिक खंड-काव्य, फुटकर निबन्ध, संस्मरण इत्यादि और इसी दौरान में उन्होंने तपेदिक के रोगी के रूप में जीवन की उन्मुक्त धरती के सुई की नोक भर अंश के लिए मृत्यु से महाभारत लड़ी, जिसकी झलक 'दीप जलेगा' की चुनौती भरी पंक्तियों में मिलती है। ऐसे साहित्य-साधक की प्रतिभा और अजेय लगन अभिनदनीय है।

किन्तु रचनाओं की संख्या अथवा कलेवर एवं व्यक्तिगत कठिनाइयों और संघर्ष के होते हुए भी साहित्य-साधन इन दोनों के बल पर ही कोई लेखक युग का सफल और समर्थ नाटककार नहीं कहा जा सकता। जिन दिनों जयशंकर प्रसाद की महान रचनाएँ काव्य में छायावाद की प्रतिध्वनि-स्वरूप हिन्दी नाट्य-साहित्य का कंठहार हो रही थीं, उन्हीं दिनों दो प्रवृत्तियाँ चुपचाप हमारी नाट्य-परम्परा की काया-पलट कर रही थीं। एक तो हमारे विश्वद्यालयों और कॉलिजों में छात्र और अध्यापकगण पाश्चात्य देशों के आधुनिक यथातथ्यवादी नाटककारों से परिचित होने लगे थे। उससे पूर्व प्रधानतः शेक्सपियर की कृतियों ही का प्रभाव व्यापक रूप से दृष्टिगत होता था। लेकिन इब्सन, शॉ, गाल्सवर्दी इत्यादि लेखकों की रचनाओं में भारती शिक्षित-समाज को सहसा नये क्षितिज का आभास हुआ। इन कृतियों के सिद्धान्त पक्ष की अवतारणा लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-नाटकों में हुई, यद्यपि यह स्पष्ट था कि रंगमंच सम्बन्धी ज्ञान का अभाव उन्हें एक सिद्धान्तवादी के स्तर से ऊपर न उठने दे सका। दूसरी तत्कालीन प्रवृत्ति थी कॉलिजों के रंगमंचों पर लघु-नाटकों की माँग। सन् ३२, ३३ के आसपास आकर मानो शिक्षित-समाज के दर्शकगण नाटकों की खातिर रतजगा करने के विचार से ऊब चले और रंगमंच के आग्रह के फल-स्वरूप एकांकीयों का लिखा जाना प्रारम्भ हुआ। भुवनेश्वर प्रसाद

और गणेश प्रसाद द्विवेदी ने इस क्षेत्र में कदम बढ़ाया।

यों एक ओर तो पाश्चात्य समस्यामूलक नाट्य-साहित्य से किताबी परिचय प्राप्त लेखकों की रचना और दूसरी ओर अव्यावसायिक रंग-मंच के लिए लघु नाटकों का प्रणयन, इन दो धाराओं का विकास सन् ३६-३७ तक हो चला था और उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटकों का महत्व यही है कि उनमें आगे चल कर इन दोनों धाराओं का समन्वय हुआ। पाश्चात्य नाट्य-साहित्य के किताबी ज्ञान को उन्होंने निजी अनुभव और पर्यवेक्षण के खरल में कूट पीस कर सामाजिक दिग्दर्शन का नवीन और तथ्यपरक रसायन तैयार किया। एकांकियों से उन्होंने रंगमंच के संकेतों और शिल्प को अपनाया, और इस तरह हमारे समकालीन नाटककारों में शायद अश्क ही ने स्पष्ट रूप से प्रसाद के बाद रंगमंच और साहित्य दोनों के मानदण्ड पर सही उतरने वाले नाट्य-साहित्य को प्रस्तुत किया। सफल एकांकीकार तो दूसरे भी हैं। सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं का, प्रधानतः सुपाठ्य सम्वादों (जिन्हें नाटकों की संज्ञा भी दी जाती है) के रूप में निरूपण भी अन्य चिन्तनशील और शब्दों के चितेरे लेखक करते रहे हैं। लेकिन दोनों प्रवृत्तियों का ऐसा सम्मिश्रण कि नाटकों की एक नवीन शैली का ही प्रस्फुटन हो जाय, अश्क ही ने किया है। पक्के इरादे और प्रयोजन के साथ उन्होंने अपने प्रथम नाटक 'जय पराजय' के बाद प्रसाद पद्धति को तिलांजलि दी और जो नूतन प्रेरणा, पृथक दृष्टिकोण एवं आधुनिक शिल्पविधान इस युग में लोकप्रिय हो चले थे, उन्हें एक ढांचे में ढाल कर हिन्दी नाटक को निजत्व और सुस्पष्ट रूप-रेखा प्रदान की। हो सकता है कि जिस पद्धति का सृजन वे करते रहे हैं, वह हिन्दी में जड़ ही न पकड़ सके। भारतीय प्रकृति, रुचि और परम्परा शुद्ध यथातथ्यवादी

साहित्य अथवा कला से मेल ही नहीं खाती। पाश्चात्य देशों में नाटक समाज के आगे दर्पण के तुल्य माना जाता रहा है। भारतीय वाङ्मय में नाटक दृश्य काव्य है—यानी कल्पना अनुभूत रस और अलंकार की वह सामंजस्य पूर्ण अभिव्यंजना जिसका आनन्द सुनकर या पढ़कर ही नहीं रंगमंच पर देखकर उठाया जा सके! इस दृष्टि से तो अश्क के नाटक भारतीय परम्परा में एक असंगति के रूप में प्रतीत होते हैं। उन्होंने जो हिन्दी नाटक को नया मोड़ दिया है, क्या वह स्थायी रह सकेगा? अभी इस प्रश्न का समुचित उत्तर नहीं दिया जा सकता। लेकिन इतना स्पष्ट है कि प्रसाद के बाद हिन्दी नाटक का जो नयी दिशा में उत्थान हुआ है, उपेन्द्रनाथ अश्क उसके प्रमुख प्रतीक और स्तम्भ माने जायेंगे! कारण कि शायद ही अन्य किसी नाटककार ने नयी पद्धति को इतनी लगन के साथ अंगीकार किया है, और इतने परिश्रम और निश्चय के साथ सँवारा है।

यह चर्चा तो रही अश्क के ऐतिहासिक महत्व के बारे में, पर उनकी कला की महत्ता आभ्यांतरिक गुण-दोषों पर भी अश्रित है। उनकी रचनाओं का एक पहलू प्रथम परिचय में ही सामने आ जाता है। 'जय-पराजय' को छोड़कर शायद कोई भी नाटक अश्क के निजी अनुभवों के दायरे के बाहर नहीं है। 'उड़ान' में उन्होंने कुछ कुलाँचे' अवश्य ली हैं और उस नाटक में शंकर के चरित्र-चित्रण के लिए उनकी तूलिका को कल्पना के गहरे रंगों का प्रयोग करना पड़ा है माया की उत्तेजनापूर्ण अनुभूति, उसकी और मदन की प्रथम रूमानी मुलाकात और नाटक का सामान्य वातावरण सभी यथार्थवादी स्वर से भिन्न स्वर की याद दिलाते हैं। किन्तु वस्तुतः 'उड़ान' की भी-प्रेरणा हमारे समाज की दैनिक उलझनों में से ही मिली है। जिस विद्रोह का यहाँ उद्वेलन है,

वह असंख्य नारियों के मौन पीड़ित हृदयों का प्रवक्ता है। अश्क मध्य वर्ग के दाम्पत्य जीवन को गहराई से पैठकर देख चुके हैं और पढ़ी लिखी कुमारियों के विवाह की समस्या का उन्होंने उसी संवेदनशीलता और सांकेतिकता से विवेचन किया है जिसके कारण पाश्चात्य नाटकों में परकिया नायिकाओं और पर-स्त्री-प्रेम का चित्रण भी मर्मस्पर्शी जान पड़ता है। 'भँवर' की नायिका प्रतिभा बुद्धिवादी आवरण के नीचे एक त्रस्त, एकाकी, सतत अभिलाषी आत्मा को छिपाये फिरती है — न पाई जाने वाली सांत्वना की खोज में! 'स्वर्ग की झलक' के रघु की तरह सैंकड़ों नवयुवक आज दिन अपने स्तर से ऊपर फैशनेबल समाज की लड़कियों पर मुग्ध और निकट पहुँचने पर विरक्त होते आ रहे हैं। 'आदि मार्ग' और 'विवाह के दिन' नामक नाटकों में भी इसी समस्या का दैनिक जीवन के अनुभव की सीमाओं में, प्रदर्शन किया गया है। इसके अतिरिक्त 'पापी' और 'लक्ष्मी का स्वागत' के विधुर पति के हृदयद्रावक अन्तर-संघर्ष में तो मानो अश्क की निजी अनुभवों की ताज़ी छाप है। जान पड़ता है, अश्क नाटक लिखते समय जब एक आधारभूत भावना के लिए आँखें दौड़ाते हैं तो वे कल्पना की आँखें नहीं, स्मृति के नेत्र होते हैं। इसलिए मध्यवर्ग की आर्थिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थिति के विश्लेषण में उन्हें लम्बे भाषणों का सहारा नहीं लेना पड़ता, वे केवल परिस्थिति-विशेष के ऊपर से पर्दा उतार कर रख देते हैं। 'छटा बेटा' में नयी और पुरानी पीढ़ी की ज्वलंत झांकी हमें मिलती है। उसमें कहीं पक्षपात नहीं, किन्तु फिर भी उत्तेजना, कसक, जलन, निराशा की चलती फिरती तसवीरें जीवन में ज्यों की त्यों उतार कर रख दी गई हैं। 'आपस का समझौता' का व्यंग्य इसलिए और भी गहरा है कि उसकी जड़ में

है एक विषम आर्थिक समस्या। अश्क गरीब और शोषितों के जीवन से या तो अपने नाटकों के लिए सामग्री लेते ही नहीं और या लेते हैं तो बहुत ठोक बजाकर, यह सोच समझ कर कि वह सामग्री उनके निजी अनुभव की कसौटी पर खरी उतर चुकी है या नहीं। 'तूफ़ान से पहले' और 'देवताओं की छाया में'—यही दो नाटक शोषित जीवन की झाँकियाँ देते हैं और यद्यपि घीसू में प्रेम चन्द के सूरदास के आदर्शवाद की गंध मिलती है, तथापि सन् ४६ के दिनों का स्मरण करते हुए उसका चरित्र अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता। 'देवताओं की छाया में' में तो किसी तरह की अस्वाभाविकता का आभास नहीं। साधारण मुसलमान मज़दूर के जीवन की मर्मस्पर्शिनी ट्रेजिडी के पीछे अश्क की पारदर्शक दृष्टि की शक्ति है। पिछले दिनों अश्क ने बम्बई के सिनेमा जगत् के कृत्रिम, नानवेंद-भावनाओं से शून्य, चापलूसी की दुर्गन्ध में बसे, जीवन का भी नग्न और यथातथ्य वर्णन कुछ नाटकों में किया है। 'पक्का गाना' में यह आक्षेप चुटकी मात्र था, 'मस्केबाजों का स्वर्ग' में वही अट्टहास हो जाता है और 'पैंतरे' में विषाक्त बाण! अतिरंजना तो है, लेकिन फिल्मी जीवन जितना विकार-ग्रस्त है, उसके सुधार के लिए शायद कुछ ऐसी गहरी चोटें ही चाहिएँ। सामाजिक समस्याओं पर आश्रित इन नाटकों के अतिरिक्त अश्क जहाँ जीवन के सबसे अधिक सन्निकट आये हैं, वे हैं उनके नाटक जिनकी आधारभूत भावना उन्हें चारित्रिक विशेषताओं, व्यक्ति-विशेष की किसी सनक या धुन में मिली है। 'जोंक', 'तौलिये' और 'अंजोदीदी' को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। 'तौलिये' की मधु और 'अंजोदीदी' की अंजो में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही नाटकों में बड़े कौशल के साथ नियमबद्ध जीवन को सनक बनाने वाले चरित्र का मखौल उड़ाया गया है। 'जोंक' में अनचाहे

मेहमान का गुदगुदाने वाला चित्रण है। 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' नामक संग्रह के लगभग सभी नाटकों में परिस्थितियों का अनूठा चुनाव है। परिस्थिति चरित्र के अनुकूल ही नहीं जान पड़ती, बल्कि पात्रों में व्यक्तित्व का अनिवार्य प्रस्फुटन प्रतीत होती है। जैसे मैंने अन्यत्र लिखा है, जीवन की सतत प्रवाहशील धारा का क्षणिक ठहराव ही मानो अश्क के एकांकियों में मूर्तिमान होकर उतरता है। 'बतसिया' में इस ठहराव ने भँवर का रूप ले लिया है। शेष नाटकों में घटनाचक्र की गुत्थियाँ नहीं हैं, जीवन की शोभा-यात्रा के कुछ दृश्य सामने आते और तनिक ठहर कर फिर गतिशील हो जाते हैं। लेकिन इस अनायास प्रदर्शन के पीछे कितनी तैयारियाँ, कितनी तराश, कितनी नाप-जोख है, इसका अन्दाज़ मननशील पाठक और दर्शक ही लगा सकते हैं।

असल में अश्क की प्रमुख विशेषताएँ हैं श्रमसाध्य और जानदार पात्रों का सृजन। उनका प्रत्येक पात्र अपनी भाव भंगिमा और वाणी के द्वारा पहचाना जा सकता है। लेखक पात्रों के मुख से अपनी प्रवृत्तियों, अपनी भावनाओं का परिचय नहीं देता। लेखक का निजी व्यक्तित्व तो परिस्थितियों की प्रगति और नाटक के सामान्य प्रवाह और आधारभूत भावना में अन्तर्हित रहता है। किन्तु पात्र जो कुछ बोलते या करते हैं, वह उनका अपना है, वे लेखक के ही भिन्न भिन्न नक़ाब नहीं हैं। इस दिशा में अश्क हिन्दी में अनूठे नाटककार हैं। इस गुण की सिद्धि के लिए आवश्यकता है भीषण आत्मसंवरण की; पैनी, समदर्शी दृष्टि की और भिन्न-भिन्न भाँति के चरित्रों के हृदय में पैठकर उनसे समरस होने की क्षमता की।

एक बात और। सम्वाद और कार्य-सम्पादन पात्रों के विकास के माध्यम हैं। आज हिन्दी में चुस्त और तीखे संवाद-लेखकों की कमी

समीक्षा

[श्री गोपाल कृष्ण कौल]

भारतेन्दु से अश्क तक

उपेन्द्रनाथ अश्क किस साहित्यिक परम्परा के लेखक हैं, उनके साहित्य की विषय-वस्तु और उसके रूप-विधान की क्या विशेषताएँ हैं ? ये विशेषताएँ साहित्य की किस महत्वपूर्ण परम्परा की छाया में विकसित हुई हैं ? उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या है ? और वर्तमान को उन्होंने किया दिया है ? इन सब बातों को जानने के लिए आवश्यक है कि विगत के उन पृष्ठों को खोल कर देखा जाय, जिनमें वर्तमान हिन्दी साहित्य के विकसित और पल्लवित रूप के अंकुर अपनी भवितव्यता लिये हुए उदय हुए—वे अंकुर जिन में आज के महान विटपों की तमाम सम्भावनाएं छिपी थीं।

अश्क के नाटकों में जिस यथार्थवादी सामाजिक चेतना की झलक है, वह हिन्दी साहित्य की उस राष्ट्रीय प्रगतिशील परम्परा से सम्बन्ध

रखती है, जिसका उदय भारतेन्दु के समय में हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हिन्दी के आधुनिक युग का प्रारम्भ हुआ, जब कि देश में अंग्रेज़ी साम्राज्य की जड़ें जम गई थीं और अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार शुरू हो गया था। इस प्रकार एक दूर के देश के राजनीतिक दबाव तथा सांस्कृतिक प्रभाव में देश की सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्पराएं भी करवट बदल रही थीं। साहित्य की दरबारी और रीतिवादी परम्परा का अन्त हो रहा था और खड़ी बोली हिन्दी के नये साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे थे। साहित्य में एक राष्ट्रीय व सामाजिक चेतना की झलक दिखाई देने लगी थी। उस समय धर्म की रूढ़िगत प्रथाओं और मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह हो रहा था, जिसने साहित्य में सामाजिक क्रान्ति की सुधारवादी भावनाओं की प्रेरणा का स्रोत बहाया। स्वामी दयानन्द ने उस समय धार्मिक, सामाजिक रूढ़ियों और अन्य धार्मिक प्रचारों के विरुद्ध जो धार्मिक आन्दोलन शुरू किया था, उसका सामाजिक-सुधारवादी क्रान्ति का पक्ष साहित्य में विशेष रूप से प्रतिबिम्बित हुआ। भारतेन्दु ने अपने साहित्य में—विशेष कर मौलिक नाटकों में—दुर्भिक्ष, महामारी, अनुचित करों के विरुद्ध कलम उठाई। 'भारत-दुर्दशा' नामक उनके नाटक में पराधीनताजन्य भारत की दुर्दशा को दिखाया गया है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में मांसभक्षियों का मज़ाक उड़ाया गया है और 'अँधेर नगरी' नाटक में उस समय के कुशासन पर चोट की गई है। यद्यपि ये नाटक आधुनिक विकसित नाटक कला की दृष्टि से सफल नाटक नहीं हैं तो भी इनमें जिस राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना की झलक है, वह उस युग की विशेषता थी। इस विशेषता ने ही हिन्दी-साहित्य के वर्तमान युग की नींव रखी। इसलिए कला की वर्तमान कसौटी पर उस समय के नाटक भले

ही खरे न उतरें, किन्तु उनका ऐतिहासिक मूल्य और महत्व है और वे हिन्दी में एक नयी परम्परा का सूत्रपात करते हैं।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को हम निःसंकोच इस नयी परम्परा का सूत्रधार कह सकते हैं। उनसे पहले हिंदी में जो चार नाटक मिलते भी हैं— जैसे महाराज जसवन्त सिंह द्वारा १७०० में किया गया संस्कृत नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' का ब्रज-भाषा-अनुवाद अथवा वाजिद अली शाह के दरबारी कवि 'अमानत' द्वारा १८५३ में लिखा गया रहस 'इन्द्रसभा' या फिर गिरधर दास का 'नहुष' या विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द रघुनन्दन'—ये सब हिंदी में किसी नयी साहित्यिक परम्परा की नींव नहीं बन पाये। मौलिक नाटकों की परम्परा भारतेन्दु ही ने शुरू की। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' उनका सर्व-प्रथम मौलिक नाटक है।

हिन्दी के प्रारम्भिक नाटकों पर संस्कृत-शैली का प्रभाव अधिक है। भारतेन्दु भी इस प्रभाव से नहीं बच सके। लेकिन प्रभाव यह उनके यहाँ वाह्य या ऊपरी नहीं था, क्योंकि यह स्वाभाविक था। प्रारम्भ के हिन्दी नाटककारों के सामने संस्कृत नाटक-साहित्य और नाट्य-सिद्धान्त का विशाल भण्डार उनकी नाट्य-रचना की एकमात्र आधारभूमि था। उसे सहज रूप से अपना कर ही वे हिन्दी नाटक की परम्परा की नींव डाल सकते थे। इसलिए वह मात्र प्रभाव न होकर, उस समय उनकी प्रतिभा के विकास के लिए, साहित्य की भारतीय परम्परा की एक विरासत था, जिसे साथ लेकर ही वे हिन्दी के नवयुग का द्वार खोल सकते थे। फिर भी भारतेन्दु ने पूर्ण रूप से संस्कृत-शैली का ही

अनुकरण नहीं किया। उनका परिचय बंगला-नाटकों और अँग्रेज़ी साहित्य से भी हो गया था, इसलिए संस्कृत की प्राचीन नाट्य-शैली में अनेक नवीन परिवर्तनों के साथ उन्होंने हिन्दी नाटकों की रचना की। भारतेन्दु ने 'नाटक' शीर्षक निबन्ध में लिखा है :

> "अब नाटक में कहीं 'आशीः' प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी', कहीं 'विलोभन', कहीं 'संफेट', 'पंचसंधि', वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिंदी नाटक में इनका अनुसंधान करने, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रख कर हिंदी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्ष रख कर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उलटा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है। संस्कृत नाटकादि रचना के निमित्त महामुनि भरत जो सब नियम लिख गये हैं, उनमें जो हिंदी-नाटक-रचना के नितांत उपयोगी हैं और इस काल के सहृदय सामाजिक लोगों की रुचि के अनुयाई हैं, वे ही नियम यहाँ प्रकाशित होते हैं।"

इस बात से स्पष्ट है कि भारतेन्दु निपट प्राचीनपन्थी नहीं थे और न नवीनता के ही अन्ध भक्त! उनके 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'विषस्य विषमौषधम्', 'भारतजननी' आदि नाटकों में संस्कृत नाटकों की तरह भरत-वाक्य, प्रस्तावना, नांदी-पाठ मौजूद हैं। 'चन्द्रावली' में विष्कम्भक और अंकावतार भी हैं। भारतेन्दु ने नाटकों में 'स्वगत' का प्रयोग बहुत किया है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में महाराज हरिश्चन्द्र ने काशी नगरी और गंगा के वर्णन में तीन पृष्ठ का और श्मशाम में छै पृष्ठ का स्वगत-भाषण

किया है। इतना लम्बा स्वगत-भाषण संस्कृत के प्राचीन नाटकों में भी मिलना कठिन है।* किन्तु रचनाक्रम के अनुसार उसके बाद के नाटकों में संस्कृत का ऐसा प्रभाव, जो हिन्दी में आकर दोष बन गया था, काफ़ी कम हो गया। 'नील देवी' और 'विभासुन्दर' में ये दोष कम हो गये और उस समय के अनुसार उन्हें नवीन रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया गया। इन नाटकों का दृश्य-विधान भी नये ढंग का है और इनमें भरत-वाक्य, नांदी-पाठ और प्रस्तावना भी नहीं हैं। उन्होंने नाटकों के गद्य में खड़ी बोली और पद्य में ब्रजभाषा को अपनाया। स्पष्ट है कि भारतेन्दु ने अपने प्रारम्भिक नाटकों में जिस संस्कृत शैली को प्रमुखता दी थी, वह उनके बाद के नाटकों में कम हो गई और उन्होंने उनमें अपने युग के अनुसार अधिक आधुनिकता पैदा करने का प्रयत्न किया। यद्यपि इस दोतरफ़े प्रयत्न से उनके नाटकों में कला की दृष्टि से गुण की बजाय दोष ही अधिक आ गये, फिर भी उनके नाटकों ने हिन्दी-नाटक-साहित्य के युग-द्वार का उद्घाटन करके एक ऐतिहासिक महत्व का काम किया।

इस प्रकार भारतेन्दु ने अपने नाटकों में राष्ट्रीयता, उत्कट देश-प्रेम, समाजिक सुधार, अत्याचारपूर्ण कुशासन की निन्दा आदि उदात्त भावनाओं को पृष्ठभूमि बनाकर हिन्दी साहित्य में एक नयी राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना का आलोक फैलाया।

उनका दृष्टिकोण संकुचित नहीं था। उन्होंने ऐतिहासिक, पौराणिक, काल्पनिक और प्रत्यक्ष सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले

---

* शेक्सपियर के यहाँ इतने लम्बे स्वगत-भाषण मिलते हैं और शायद वहीं से भारतेन्दु ने यह प्रभाव ग्रहण किया था।

पात्रों और कथानकों को अपनाया, शृङ्गार, हास्य, करुण और वीर रसों को अपनाया, और सुखान्त एवं दुखान्त दोनों प्रकार के नाटक लिखे।

उन्होंने साहित्यगत और समाजगत अनेक रूढ़ियों को तोड़ कर विचार और कला, वस्तु और शिल्प, जनता और साहित्य के व्यापक सम्बन्धों को समझते हुए तात्कालिक सीमाओं के बावजूद साहित्य में एक सामाजिक परम्परा को आगे बढ़ाकर नये युग की नींव रखी।

भारतेन्दु के व्यक्तित्व और रचनात्मक प्रतिभा से उनके युग के लगभग सभी हिन्दी लेखक प्रभावित हुए और प्रेमधन, राधाकृष्णदास और प्रताप नारायण मिश्र आदि लेखकों ने अनेक नाटक लिखे, किन्तु वे हिन्दी नाटक के विकास में विशेष योग न दे सके। इस युग के अधिकांश नाटक प्रचीन संस्कृत शैली पर ही लिखे गये, उनमें कथा-वस्तु का चुनाव इतिहास, पुराण और वर्तमान जीवन से किया गया। भारतेन्दु द्वारा चलाई गई प्रहसन-परम्परा को भी आगे बढ़ाया गया। अधिकतर प्रहसनों में वर्तमान जीवन में व्याप्त मद्य-पान, वेश्या-वृत्ति आदि अनीतिपूर्ण दुर्व्यसनों और अनाचारों के विरुद्ध, हास्य और व्यंग्य के साथ, सुधारवादी प्रहार करने का प्रयत्न किया गया। इन प्रहसनों के हास्य और व्यंग्य उच्चकोटि के यर्थाथवादी और स्वाभाविक नहीं बन पाये, फिर भी उस सामाजिक चेतना की झलक इनमें है जो नाटक को जनता के निकट लाने और उसे लोकतान्त्रिक रूप देने के प्रयत्न में नाटककार की सहायक बनती है।

भारतेन्दु से अश्क तक

भारतेन्दु के बाद और प्रसाद से पहले तक का समय अनुवाद का युग है। इस समय अनेक अंग्रेज़ी और बंगला नाटकों का अनुवाद हुआ। यद्यपि इस बीच उच्चकोटि के मौलिक नाटकों की सृष्टि नहीं के बराबर हुई, फिर भी अनुवादों के द्वारा अंग्रेज़ी और बंगला नाटकों की नयी रचना-शैली के सम्पर्क में हिन्दी के नाटककार आये। बंगला से द्विजेन्द्रलाल राय और गिरीशचन्द्र घोष के, अंग्रेज़ी से शैक्सपियर के और फ्रेञ्च से मोलियर के नाटकों का हिन्दी में अनुवाद हुआ।* दूसरी ओर इस युग में व्यावसायिक मण्डलियों के लिए रंगमंचीय नाटककारों ने नाटक लिखे। इस समय नाटककारों के दो वर्ग स्पष्ट दिखाई देते हैं—एक तो वे, जो मात्र रंगमंच को सामने रख कर नाटक न लिखते थे और दूसरे वे, जो नाटक मण्डलियों के निर्देश पर केवल रंगमंचीय नाटक ही लिखते थे। इस भेद ने नाटक के साहित्यिक और रंगमंचीय (दोनों दृष्टियों से समन्वित और सामञ्जस्यपूर्ण कलात्मक और यर्थाथवादी) विकास में बड़ी बाधा पहुँचाई।

इस अनुवाद युग के बाद ही हिन्दी नाटक के क्षेत्र में प्रसाद जैसी मौलिक प्रतिभा का उदय होता है। प्रसाद की प्रतिभा ने हिन्दी नाट्य रचना को अधिक मौलिकता और कलात्मक प्रौढ़ता प्रदान की। इस समय तक भारत के राजनीतिक और राष्ट्रीय जीवन में एक क्रान्ति-कारी जागरण का शंखनाद गूंज चुका था। भारतेन्दु के समय की

*मोलियर के नाटकों को हिन्दी जामा पहनाने में हास्य-रस लेखक श्री जी० पी० श्रीवास्तव का नाम उल्लेखनीय है।

धार्मिक राष्ट्रीयता अब धर्म का जामा उतार कर राजनीतिक रूप धारण कर चुकी थी। विदेशी गुलामी से भारतीय राष्ट्रीयता का संघर्ष तीव्र हो चुका था और राष्ट्रीय गौरव की भावना साहित्य का प्राण बन गई थी। प्रसाद ने भी हिन्दी नाटकों को भारतेन्दु-युगीन-धार्मिकता और पौराणिक रुढ़ियों से मुक्ति देने का प्रयत्न किया। यद्यपि उन्होंने 'कामना' और 'एक घूंट' को छोड़कर बाकी सभी नाटकों में प्राचीन इतिहास के (महाभारत से लेकर हर्षवर्धन के समय तक) पृष्ठों से कथा-वस्तु और पात्रों का चुनाव किया है और भारत की तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना को प्रचीन सांस्कृतिक गुरुता से सुसज्जित किया है, फिर भी उनके नाटकों में वर्तमान की अनेक यथार्थ समस्याओं की छाया दिखाई पड़ती है। उन्होंने वर्तमान के प्रतिबिम्ब को अतीत के दर्पण में देखने का प्रयत्न किया है, यही उनके नाटकों की सांस्कृतिक चेतना है। 'अजात शत्रु' में बौद्धकालीन, 'चन्द्रगुप्त' में मौर्यकालीन, 'स्कन्दगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' में गुप्तकालीन और 'राज्यश्री' में हर्षवर्धनकालीन—इसी प्रकार 'जन्मेजय के नागयज्ञ' में महाभारत-कालीन-संस्कृति के गौरव के विभिन्न मानवीय रूपों को व्यापक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है।

प्रसाद के नाटकों में भारतीय नाट्य-रचना-शैली के अनुसार कथानक, अर्थप्रकृति, पताका सन्धियाँ, नायक, प्रतिनायक, रस आदि सभी शास्त्रीय तत्व मिलते हैं, साथ ही पश्चिमी नाट्य-रचना-शैली की अनेक विशेषताएँ भी मिलती हैं। इनमें रस के परिपाक के साथ कार्य-व्यापार और अन्तर्द्वन्द्व भी है, व्यक्ति वैचित्र्य और चरित्र-चित्रण भी है। भारतेन्दु-युगीन-नाटककारों ने ऐतिहासिक कथन, कथानक और पात्र तो अपने नाटकों के लिए चुने, किन्तु वे उनमें पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व

और चरित्र-चित्रण के द्वारा स्वाभाविक कलात्मक विन्यास न प्रस्तुत कर पाये। प्रसाद ने भारतेन्दु-युगीन इस कलात्मक कमी को अपने नाटकों से दूर किया। दूसरी ओर प्रसाद ने उन रंगमंचीय नाटककारों को, जो केवल व्यावसायिक नाटक मण्डलियों के लिए नाटक लिखते थे, नाटक की स्वतन्त्र, लोक-तान्त्रिक कला के स्वाधीन प्रयोग द्वारा बताया कि नाटक की कला केवल रंगमंच की गुलाम नहीं। यद्यपि इस प्रतिक्रिया ने उनको रंगमंच की इतनी उपेक्षा करने पर मजबूर कर दिया जितनी एक नाटककार को न करनी चाहिए,[1] फिर भी उनके कुछ नाटकों के लिए रंगमंच को अनुकूल बनाया जा सकता है और कुछ नाटकों को थोड़े से परिवर्तन से ही रंगमंच पर खेला जा सकता है। प्रसाद ने इस संबंध में हिन्दी के एक विद्वान आलोचक से कहा था—"मेरी रचनाएँ तुलसीदत्त शैदा या आग़ा हश्र की व्यावसायिक रचनाओं के साथ नापी-तौली नहीं जा सकतीं। मैंने उन कम्पनियों के लिए नाटक नहीं लिखे, जो चार छै चलते अभिनेताओं को एकत्र कर कुछ पैसा जुटाकर, चार पर्दे मंगनी मांग लेती हैं और दुअन्नी-अठन्नी के टिकट पर इक्के वाले, खोंचे वाले और दुकानदारों को बटोर कर जगह-जगह प्रहसन करती फिरती हैं।" 'उत्तर राम चरित' 'शकुन्तला' और 'मुद्राराक्षस' नाटक कभी न ऐसे अभिनेताओं के द्वारा अभिनीत हो सकते और न जन-साधारण में रसोद्रेक के कारण बन सकते। उनकी काव्य-प्रधान-शैली कुछ विशेषता चाहती है। यदि परिष्कृत बुद्धि के अभिनेता हों, सुरुचि-संपन्न दर्शक हों और पर्याप्त द्रव्य काम में

१. 'नयी धारा' पटना के एक आलोचक ने व्यंग्य से लिखा है कि प्रसाद के नाटकों को स्टेज करने के लिए 'साहित्य रत्न' पास अभिनेता होने चाहिएँ और बी० ए० की डिग्री देख कर लोगों को थीएटर हाल मे जाने की इजाजत देनी चाहिए !

लाया जाय तो ये नाटक अभीष्ट प्रभाव प्रतपन्न कर सकते हैं।"*

स्पष्ट है कि प्रसाद ने रंगमंचीय नाटककारों की रचना-शैली का विरोध किया और नाटकों में एक सांस्कृतिक गाम्भीर्य की स्थापना की, जिसका अनुकरण प्रसादोत्तर-कालीन कई नाटककारों ने भी किया। प्रसाद रंगमंच की अधीनता स्वीकार करने वाली सस्ती नाटकीय कला से चिढ़ते थे। नाटकों के साहित्यिक स्तर को गिराने वाली इस प्रवृत्ति के विरोध में उन्होंने लिखा था :

"नाटकों के लिए रंगमंच की रचना होनी चाहिए, न कि रंगमंच के लिए नाटकों की।"

अपने इस मत के बावजूद भी प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' जैसा सफल अभिनेय नाटक लिखा।

इस प्रकार प्रसाद ने कला और वस्तु की दृष्टि से हिन्दी नाटकों को एक प्रौढ़ता प्रदान की। भारतेन्दु-युगीन नाटकों में, जो धार्मिकता रंगमंचीय दासता, संस्कृत-शैली की रूढ़िग्रस्तता और भावुक सतहीपन था, उससे मुक्ति पाने का प्रयत्न करते हुए प्रसाद ने मौलिक नाटकों की परम्परा को आगे बढ़ाया, नाटकों को अधिक लोकतान्त्रिक रूप दिया, उन्हें राष्ट्रीय और सांस्कृतिक गुरुता प्रदान की और अपनी भाषा-क्लिष्टता, संस्कृत-निष्ठता और अतीत-प्रियता के बावजूद साहित्य के वर्तमान प्रवाह को आगे बढ़ाया।

हिन्दी नाटकों का प्रसादोत्तर काल कला की दृष्टि से संस्कृत रचना शैली की रूढ़ियों से और कथावस्तु की दृष्टि से शनैः शनैः पुराण और इतिहास और अतीतोन्मुखता से मुक्ति का काल है। इस युग में राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना ने नाटकों में ऐतिहासिक

* प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—ले० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

कथावस्तु को सँजोकर रखा। केवल अन्तर इतना है कि प्रसाद के नाटकों और प्रसाद-कालीन दूसरे नाटकों में कथावस्तु का चयन भारतीय इतिहास के प्राचीनकाल से किया गया है और प्रसादोत्तर-कालीन नाटकों में इतिहास के मध्ययुग से। मध्ययुगीन सामन्ती वातावरण में अपने समय की देशभक्ति की राष्ट्रीय भावना को प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न किया गया। परम्परा गत राष्ट्रीय नैतिकता के अनेक मूलरूपों को इस समय के नाटकीय पात्रों के कार्य-व्यापार और सम्वादों में प्रत्यक्ष विकसित किया गया। हिन्दू मुस्लिम-एकता की भावना को लेकर हरिकृष्ण प्रेमी ने 'शिवा-साधना', 'रक्षा-बन्धन' और 'स्वप्न भंग' आदि नाटक लिखे; उग्र स्वाधीनता की जातीय भावना को लेकर मिलिन्द ने 'प्रताप-प्रतिज्ञा', स्वामिभक्ति की भावना से गोविन्द वल्लभ पन्त ने 'राजमुकुट', कुल और वर्ण की समस्या को लेकर सेठ गोविन्ददास ने 'कुलीनता' और उदयशंकर भट्ट ने 'दाहर' और राजपूतों के हठ और सामन्ती प्रजाप्रेम की भावना को लेकर 'अश्क' ने 'जय पराजय' आदि नाटकों को रचना की।

इन नाटकों की विशेषता यह है कि एक प्रधान पात्र के रूप में सामन्ती व्यक्तित्व के विधान की छाया में पूरे नाटक का भाव-विन्यास होता है। 'जय पराजय' अश्क का पहला नाटक था, किन्तु उसमें ही उनकी प्रतिभा के कला-चातुर्य के दर्शन हो गये थे। उस समय के मध्ययुग की ऐतिहासिक कथावस्तु के आधार पर लिखित राष्ट्रीय नैतिकता की विभिन्न भावनाओं पर आधारित नाटकों में केवल एक यही ऐसा नाटक था, जिसमें अन्य नाटकों की अपेक्षा नाटक-शिल्प श्रेष्ठ और नवीनता लिये हुए था, अभिनय की योग्यता अधिक थी और उद्देश्य में राष्ट्रीय भावना से अभिभूत होकर नैतिकता का अधिक

प्रचार नहीं किया गया। 'अश्क' की दृष्टि वर्तमान की ओर अधिक थी, इसलिए उन्होंने धर्म-अधर्म और नीति-अनीति को मानव समाज के उत्थान-पतन के साथ अतीतवादियों की तरह जोड़ कर पौराणिक आख्यानों को अपने नाटकों का आधार नहीं बनाया। 'जय-पराजय' केवल उनका एक-मात्र और उनकी रचनाओं के क्रम से सबसे पहला नाटक है। इस नाटक में यदि मध्यकालीन भारतीय राजपूत-जीवन की एक आदर्शवादी झाँकी है तो साथ ही साथ वर्तमान की सजग दृष्टि से उस समय के हठी और सनकी सामन्ती जीवन की प्रच्छन्न आलोचना भी है। इसलिए भी यह नाटक अपने प्रकार के दूसरे नाटकों से अपना अलग महत्व रखता है।

इस युग के नाटकों में विशेष परिवर्तन उनकी कथावस्तु-भावभूमि और शिल्प—सभी में हुआ। इतिहास का स्थान वर्तमान जीवन ने ले लिया। पहले मौर्य-गुप्त-कालीन इतिहास से नाटकों की कथावस्तु चुनी जाती थी फिर मुगलकालीन और राजपूत-इतिहास से कथावस्तु का चुनाव होने लगा और फिर इतिहास के अतीत बन्धनों से नाटक की कथावस्तु की मुक्ति हो गई और वर्तमान-जीवन ही नाटकों का आधार बन गया। इस प्रकार नाटक अतीत के कल्पना-लोक से निकल कर जीवन की यथार्थ पृष्ठभूमि पर खड़ा हुआ। हिन्दी नाटक के विकास का यह क्रम अनोखा नहीं, अधिकांश देशों के नाटक-साहित्य का विकास-क्रम कुछ इसी प्रकार से हुआ है। अतीत से वर्तमान की ओर, इतिहास-पुराण की राष्ट्रीय नैतिकता से उपस्थित जीवन की समस्याओं की ओर और सामन्ती वर्ग के चरित्रों से मध्यवर्गीय-चरित्रों की ओर क्रमशः नाटक का विकास प्रायः सभी देशों में होता रहा है।

हिन्दी नाटकों में यह युग इस क्रम के तृतीय उत्थान का समय है

जिसके प्रारम्भ में अधिकांश नाटककारों ने काफ़ी संख्या में ऐतिहासिक नाटक लिखे, किन्तु अश्क इस क्रम के प्रथम प्रहर की अतीतवादी राष्ट्रीय नैतिकता के आदर्शवादी प्रभाव से कम प्रभावित हुए और उन्होंने इसीलिए केवल अपना पहला और अन्तिम नाटक ऐतिहासिक लिखा।

अतीत की रूढ़ियों से—चाहे वे वस्तुगत हों या शिल्पगत—विद्रोह के रूप में समस्या-नाटकों का उदय हुआ। वैसे कुछ न कुछ समस्या तो पिछले नाटकों में भी रहती थी, किन्तु वे नाटक समस्या की आधार-भूमि पर अपना विन्यास नहीं करते थे। समस्या उनके लिए गौण वस्तु थी, भावुकता और वर्गीय रोमांस प्रमुख! समस्या का आधार नाटकों को बौद्धिक युग के विकास की देन है। प्रत्यक्ष जीवन के सम्पर्क में आते ही नाटकों का जीवन की जाग्रत समस्याओं से भी निकट संबन्ध स्थापित होना स्वाभाविक था। जीवन की सामाजिक और वैयक्तिक— सभी प्रकार की समस्याओं को आधार-भूमि बनाकर नाटककारों ने उनका मनोवैज्ञानिक सामाजिक और वर्गीय विश्लेषण करने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में जहाँ हमें अपने जीवन का प्रतिबिम्ब, या स्वाभाविकता उनमें दिखाई पड़ती है, वहाँ कहीं कहीं पात्र समस्या के विभिन्न अंगों के प्रतीक होते है। जहाँ विश्लेषण अधिक है, वहाँ समाधान नहीं और जहाँ समाधान है, वहाँ विश्लेषण न्यून हो गया है। इन नाटकों में गीत और नृत्यों का प्रयोग समाप्त-प्राय हो गया। स्वगत को कम कर उसे स्वाभाविक स्थिति में प्रयोग किया गया है।

हिन्दी समस्या-नाटकों का प्रारम्भ लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों से होता है। उनके अधिकांश नाटकों की मूल समस्या है सेक्स ! उनके 'सन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'आधी रात' और 'सिन्दूर की होली' आदि नाटकों की समस्या का केन्द्र घुमा फिरा कर नारी या सेक्स, सेक्स या नारी है। इस केन्द्र पर ही उनके नाटकों की सारी परिधि का विश्लेषणात्मक-विस्तार होता है, जिसमें ट्रेजिडी का स्वर प्रधान है। नाट्य-शिल्प के प्रयोग में उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली, यद्यपि पिछले नाटकों से अपेक्षाकृत उनका नाट्य-शिल्प आधुनिक और विदेशी प्रभाव से प्रभावित है। उनके अधिकांश नाटक तीन अंकों के हैं, किन्तु अंक-विधान में सन्तुलन का अभाव है। अंक के बीच ही में पर्दा उठ जाता है और दूसरा दृश्य शुरू हो जाता है। यदि प्रत्येक अंक ही एक दृश्य हो तो रंगमंच पर दृश्य प्रस्तुत करने में कठिनाई नहीं होती और नाटक का सहज प्रवाह भी भंग नहीं होता। इन नाटकों के दृश्य-परिवर्तन में समय के सन्तुलन का बिलकुल ध्यान नहीं रखा गया। कार्य-व्यापार की भी शिथिलता है, क्योंकि मानसिक विश्लेषण की प्रवृत्ति के कारण पात्रों में आन्तरिक संघर्ष तो अधिक है, किन्तु उसकी वाह्य-अभिव्यक्ति नहीं होती, इसलिए अभिनय में सहज प्रभाव पैदा होना कठिन है। संवादों में कहीं कहीं वाक्य बीच ही में टूटते से नज़र आते हैं। सब से बड़ी बात यह है कि मिश्र जी की कथा-वस्तु स्वयं अपने में एक नाटकीय इकाई नहीं होती। इस प्रकार के समस्या-नाटक, जिसमें व्यक्ति-मन और नारी-सेक्स की समस्या को आधार बनाया गया, दूसरे नाटककारों ने भी लिखे, किन्तु वे नाट्य-शिल्प के विकास में विशेष देन साबित नहीं हुए। इसके विपरीत सामाजिक समस्याओं पर लिखे गये नाटक शिल्प की दृष्टि से अधिक सफल रहे।

यह स्वाभाविक भी था। नाटक स्वयं एक सामाजिक या लोकतान्त्रिक कला है, उसकी शिल्पचेतना का सम्बन्ध सामूहिक चेतना को प्रभावित करने से अधिक रहता है। उसकी इकाई या व्यक्तिचेतना के सामुदायिक होने पर ही वह अधिक स्वाभाविक और प्रभावशाली बनता है।

इस युग में सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं पर नाटक लिखने वाले नाटककारों में सेठ गोविन्द दास का नाम पहले आता है। उन पर गांधीवादी राजनीति का प्रभाव है। वे समस्याओं को सामाजिक धरातल पर सरल और स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत करके सुधारवादी आदर्शवाद से उसके समाधान का प्रयत्न करते हैं, इसलिए उनके पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व में मनोवैज्ञानिक गहराई कम है। वैसे उन्होंने भी प्रारम्भ में ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक ही लिखे हैं। आपका पहला नाटक सन् १९३५ में प्रकाशित हुआ था। उस समय तक हिन्दी का नाटक-साहित्य काफ़ी विशाल हो चुका था। वे उसकी कमियों और खूबियों से लाभ उठा सकते थे, किन्तु उन्होंने पिछले अनुभवों से नाट्यशिल्प में कोई विशेष प्रयोग नहीं किये। दृश्य-विधान की दृष्टि से उनके नाटक सरल और स्पष्ट हैं और इसीलिए अभिनेय भी—अभिनेय भी हैं, पर नाटकीयता, द्वन्द्व और सम्वादों के संतुलन की कमी के कारण वे सपाट और फिसफिसे रह जाते हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य छोटे मोटे नाटककारों ने भी सामाजिक नाटक लिखे। किन्तु समस्याओं के सतही प्रदर्शन में ही उलझ कर इन नाटकों का अन्त हो गया।

इस युग में अश्क की दृष्टि केवल वर्तमान जीवन की समस्याओं पर केन्द्रित थी। उन्होंने केवल प्रथम और वह भी एक ऐतिहासिक नाटक 'जय-पराजय' लिखा और उनके बाकी सभी नाटक सामाजिक हैं।

और वर्तमान जीवन की यथार्थ समस्याओं से सम्बन्धित हैं। अश्क इस यथार्थवादी शैली के जौहरी हैं, और इस शैली में उन्होंने कुछ बड़े ही उच्चकोटि के नाटक हिन्दी को दिये हैं। 'अश्क' का 'स्वर्ग की झलक', 'छठा बेटा', 'कैद', 'उड़ान', 'अलग-अलग रास्ते', 'भँवर' 'अंजो दीदी' और 'पैंतरे' वर्तमान जीवन की समस्याओं को यथार्थ-वादी अथवा प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। 'कैद' और 'उड़ान' नारी-जीवन की दो समस्याओं के प्रतीक हैं। 'कैद' में अवांछित पति के साथ दाम्पत्य जीवन बिताते हुए अप्पी की ज़िन्दगी एक घुटन और मर्यादा की शृङ्खला में कैद है, मन उसका उड़ उड़ कर दिलीप के चारों ओर मँडराता है। और 'उड़ान' में स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों का एक समाधान है। लेखक ने संकेत से स्पष्ट कर दिया है कि आधुनिक नारी न तो पूजा की सामग्री बनना चाहती है, न संभोग की वस्तु और न सम्पत्ति—वह बनना चाहती है केवल संगिनी! इस युग में पुरुष के मन में नारी के प्रति अनेक परम्परा-विरोधी भावनाएँ हैं—उनके प्रतीक इस नाटक में तीनों पुरुष पात्र हैं जो नारी की वास्तविक आवश्यकता समझने में असमर्थ रहते हैं। इसी प्रकार 'स्वर्ग की झलक' आधुनिक नारी पर एक सामाजिक व्यंग्य है। 'छठा बेटा' वर्तमान समाज के मध्यवर्गीय परिवारों के स्वार्थी सम्बन्धों पर कठोर, किन्तु हास्यपूर्ण व्यंग्य का प्रहार है, जिसे पढ़कर या देखकर पाठक अथवा श्रोता स्वयं अपनी कमज़ोरियों पर खीज उठता है। 'अलग अलग रास्ते' में विवाह की समस्या अपनी सारी उलझनों के साथ विद्यमान है। और अपने इस नाटक में अश्क ने मध्य-वर्गीय धारणाओं पर बड़े ज़ोरदार प्रहार किये हैं और जहाँ यथार्थ स्थिति का चित्रण किया है, वहाँ आधुनिक नारी के मार्ग का निर्देश भी कर दिया है। इस नाटक में

अपूर्व द्वन्द्व, नाटकीयता और वेदना है। 'अंजो दीदी' में अश्क ने सनक की खिल्ली उड़ाई है और निर्देश किया है कि माता-पिता को चाहिए कि वे अपने बच्चों को उनकी रुचि के अनुसार जीवन-पथ पर बढ़ने दें, व्यर्थ के दमन से काम न लें और अपनी कुण्ठाओं को उन पर न लादें। 'पैंतरे' में फिल्मी जीवन की हास्य-व्यंग्य-भरी झलक है, लेकिन जैसा कि एक आलोचक ने लिखा है, 'इसके अन्तर में बड़ी ही गहरी और दारुण ट्रेजिडी छिपी है।' 'भंवर' एक आधुनिका की कुण्ठा का अपूर्व चित्रण प्रस्तुत करता है और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से बड़ा ही सफल नाटक है।

कला की दृष्टि से 'अश्क' के नाटक हिन्दी नाट्य-कला के विकास में एक सीमा-चिन्ह हैं। यद्यपि उनकी कला एकदम आधुनिक है और उस पर संस्कृत नाट्य-रचना के सिद्धान्तों का प्रभाव नहीं, फिर भी उन्होंने हिन्दी के पिछले नाटकों के गुण-दोषों के अनुभव से कला-चातुर्य द्वारा हिन्दी नाटक के टैकनिक को नयी देन दी है। उनके नाटकों में दृश्य और श्रव्य—दोनों काव्य-तत्व हैं। वे जितने रंगमंच की कला के गुणों से विभूषित हैं, उतने ही सुपाठ्य भी हैं। हास्य और व्यंग्य उनकी यथार्थवादी शैली को और भी शक्तिशाली बना देते हैं। 'छुटा बेटा' टेकनिक की दृष्टि से हिन्दी में अपने ढंग का एक मात्र सफल प्रयोग है, जिसमें एक पात्र का स्वप्न ही पूरा नाटक बन जाता है और अन्त में दर्शकों को पता चलता है कि यह तो स्वप्न था, किन्तु स्वप्न होते हुए भी हास्य और व्यंग्य के पुट से समस्या का जो यथार्थ चित्रण इस नाटक में हुआ है, वह बहुत स्वाभाविक और प्रभावशाली है। 'अंजो दीदी' का हास्य और भी खुला है, लेकिन उस हास्य-व्यंग्य के आवरण में ढकी समस्या और भी गम्भीर है। यही हाल

'पैंतरे' का है।

'जय-पराजय' को छोड़ कर उनके शेष सभी नाटकों में स्थान, काल और कार्य की एकता का सहज रूप से निर्वाह किया गया है।

'अश्क' के नाटकों में स्वगत का प्रयोग बहुत कम है और जितना है वह बहुत ही स्वाभाविक और नाटक की गति के अनुकूल है। उनके नाटकों के दृश्य-विधान में विविध और पूर्ण रंग-निर्देश होते हैं, जिनमें अन्य लेखकों की रचनाओं की अपेक्षा यह विशेषता रहती है कि वे न केवल निर्देशक के लिए दृश्य संकेत प्रस्तुत करने में सहायक होते हैं, बल्कि पाठक के दिमाग में भी नाटक के वातावरण की सृष्टि कर देते हैं और उनमें औपन्यासिक-वर्णन का रस भी होता है। कौतूहल, आकस्मिकता, कार्य-व्यापार और [illegible] अन्त अश्क के नाटकों में बड़े संतुलन के साथ रहते हैं। चरित्र-चित्रण यथार्थवादी है और उसके उभार के लिए संकेतों का प्रयोग भी है[1]—हल्की हल्की फबतियों, सांकेतिक कार्य-सम्पादन और पात्रों की अनजानी कमज़ोरियों के हल्के से उभार से, बिना अतिरंजना का अधिक सहारा लिये, अश्क बड़ी सफलता से अपने पात्रों का चित्रण कर देते हैं।

नाटक के विविध तत्वों के विकास के साथ ही साथ अश्क के नाटकों में चरित्र का विकास होता है, उनमें एक प्रकार का परस्पर समन्वय रहता है। पिछले कुछ समस्या-नाटकों में यह दोष रहा है कि चरित्र के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के फेर में पड़ कर नाटकीय प्रवाह में ही शिथिलता पैदा हो गई है। एक बात पर विशेष ध्यान दिया, दूसरे की उपेक्षा हो गई। किन्तु 'अश्क' इस सन्तुलन को कम ही खोते हैं और कम से कम समय के लिए आने वाले पात्र का चरित्र भी

---

१. 'अजों दीदी' में घड़ी का और 'कैद' में किंगकांग का आदि आदि

वे संवाद या संकेत के हल्के स्पर्श से उभार देते हैं।

इस युग में एकांकी नाटकों का विकास हिन्दी नाट्य-रचना के विकास का एक और नवीन रूप है। यद्यपि भारतीय नाट्य-शास्त्र में अंक व्यायोग, वीथी आदि नाटकों के विभिन्न भेद गिनाये गये हैं, जो केवल एक अंक के होते थे, किन्तु आधुनिक एकांकी की कला उनसे एकदम स्वतन्त्र कला है। भारतेन्दु का 'वैदिकी हिसा हिंसा न भवति' और प्रसाद का 'एक घूँट' हिन्दी के आदि एकांकी हैं। उसके बाद प्रसादोत्तर काल में ही भुवनेश्वर, उग्र, गणेशप्रसाद द्विवेदी, रामकुमार वर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर, उदयशंकर भट्ट और उपेन्द्रनाथ अश्क आदि ने हिन्दी एकांकी को विकसित किया, इनसे बाद के नये लेखकों में विष्णु-प्रभाकर, लक्ष्मीनारायण लाल आदि प्रमुख हैं। एकांकी के प्रारम्भिक विकास में भुवनेश्वर, रामकुमार वर्मा, और अश्क का योग ही सर्वाधिक है।

भुवनेश्वर एक सफल टेकनीशियन हैं। उन पर 'शा' की तार्किक कटुता और व्यंग्योक्ति-मय शैली का प्रभाव है, आकस्मिकता उनके एकांकियों का विशेष गुण है, उनके नाटकों की मूल-समस्या सेक्स और अर्थ है।

रामकुमार वर्मा की कला में भावनाओं की निगूढ़ सूक्ष्मता है। उनके एकांकियों में कविता जैसी भावप्रवणता है, सूक्ष्म स्पर्श से चरित्रों को उभारने म वे पटु हैं। उनके एकांकियों में 'लिरिक' (Lyric) जैसा संक्षेप और गठाव और गाम्भीर्य रहता है।

'अश्क' ने एकांकी के शिल्प में बहुत से प्रयोग करके उसे

अधिक विकसित किया है। वे स्टेज की टेकनिक को खूब समझते हैं; उनकी कला में इसका संतुलित समन्वय होता है। उनकी रचनाओं में नाटकीय गुणों का क्रमिक विकास होता है। चरित्र-चित्रण में वे यथार्थवादी हैं। हास्य और व्यंग्य का उन्होंने सफल प्रयोग किया है। उनकी सब से बड़ी विशेषता है—कथावस्तु के चुनाव में यथार्थवादी नाटकीय शिल्पदृष्टि ! नाटक की सृष्टि का यह मूलाधार है। टी० राइमर ने लिखा है :

> "नाट्यकार पात्र तो नैतिक दार्शनिकों से ले सकते हैं, विचार उन्हें साहित्य-शास्त्र से मिल सकते हैं और व्यंजना वे व्याकरण-विशेषज्ञों से पा सकते हैं, परन्तु कथानक के चुनाव में ही उनकी मौलिकता और कला है।*

अश्क की कथावस्तु ही अपने में एक नाटकीय इकाई होती है और यह उनके चुनाव की खूबी है। जैसा कि श्री जगदीश चन्द्र माथुर ने लिखा है : "जीवन की सतत प्रवाह-शील धारा का क्षणिक ठहराव ही अश्क के एकांकी में मूर्तिमान होकर उतरता है।" पर उस क्षण के चुनाव और उसे उसकी पूरी भव्यता और बारीकी के साथ एकांकी में सजा देना बड़ी ही सूझ-बूझ, तैयारी, तराश और नाप-जोख की अपेक्षा रखता है। और यही वे गुण हैं जो अश्क के नाटकों को इतना सजीव और जीवन की गति से स्पन्दित बना देते है। 'अश्क' मैतरलिंक, स्ट्रिंड-बर्ग और ओ-नील जैसे विदेशी नाटककारों से प्रभावित हुए हैं। वे उनकी तीव्रता और गम्भीरता तो पसन्द करते हैं, किन्तु उनके निराशा-वाद को अपने निकट नहीं फटकने देते।

---

* नाटक की परख

इस प्रकार भारतेन्दु से अश्क तक हिन्दी नाटक का विकास कई धाराओं में होकर गुज़रा है। भारतेन्दु ने साहित्य में एक राष्ट्रीय परम्परा को जन्म दिया, प्रसाद ने उसमें सांस्कृतिक गुरुता की वृद्धि की और अश्क ने उसे यथार्थवादी कला, शिल्प और दृष्टिकोण देकर उसे आधुनिकता, सामजिकता और उपादेयता से विभूषित कर, उसका समुचित विकास किया। इस तरह ये तीनों नाटककार अपने अपने युग की विकास-प्रवृत्तियों के समर्थ प्रतीक हैं।

नोटः -- पिछले कुछ वर्षों से रंगमंच के अभाव में हिन्दी नाटकों का संरक्षण रेडियो के हाथ में रहा और जैसा कि श्री माथुर ने लिखा है, 'इससे नाट्य-रचना को पथ भी मिला और पाथेय भी और साहित्य में 'ध्वनि रूपक' की अवतारणा हुई।' हालांकि अश्क के लगभग सभी नाटक रेडियो पर सफलता से खेले गये हैं, पर उन्होंने एक भी ध्वनि-रूपक नहीं लिखा। लिखा तो उसे प्रकाशित नहीं किया। जैसा कि उन्होंने १९३८ में हंस के एकांकी नाटक अंक में लिखा था, वे बड़े सबर, संतोष और मेहनत से रंगमंच के पुनर्जागरण की बाट देखते रहे और उस दिन के लिए बड़े और छोटे नाटक तैयार करते रहे और आज जब एमेचर रंगमंच जाग रहा है, कस्बे-कस्बे और शहर-शहर अव्यावसायिक रंगमंच पर अश्क के नाटक खेले जा रहे हैं. 'राष्ट्र भारती' मार्च ५३ के अपने लेख—हिन्दी नाट्य-रचना की प्रगति का एक वर्ष---१९५२---में श्री माथुर ने लिखा है :

नाटककार अश्क

"उपेन्द्रनाथ अश्क के सामान हिन्दी में शायद ही किसी दूसरे आधुनिक नाटककार को वर्तमान नाटक के अव्यवों की इतनी अधिकारपूर्ण जानकारी हो। इधर १९४७ के बाद एमेचर नाटक मंडलियों में नवस्फूर्ति का संचार होने से सामाजिक समस्याओं का यथातथ्य निरूपण करने वाले सरल और बोल चाल की भाषा से सम्पन्न और आडम्बर-युक्त रंगमंच के झंझटों से मुक्त नाटकों की माँग बढ़ने लगी है और अश्क की प्रतिभा को अपने विकास का यथेष्ट अवसर मिला है।"

रंगमंच और अश्क

नाटक एक अनुकरणात्मक कला है। अभिनय की मूल प्रेरणा का स्रोत जीवन का अनुकरण ही है। और यह अभिनय नाटक का प्राण है। भारत और यूनान के प्राचीन आचार्यों ने नाटक के इस अनुकरणात्मक कला-पक्ष की दार्शनिक व्याख्या की है। काव्य-शास्त्र के इतिहास में भारत में पहले काव्य का अर्थ दृश्य-काव्य से ही माना जाता था, जिसका विषय-विवेचन भरतमुनि ने भी अपने नाट्य-शास्त्र में किया है। उन्होंने काव्य की परिभाषा में 'नृत्य योज्यम्' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है कि नृत्य के उपयुक्त! उस समय अभिनय नृत्य का ही एक अंग माना जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक के रंगमंच के अनुकूल होने की बात जो आज कही जाती है, उसका सम्बन्ध प्राचीन नाट्य-परम्परा से भी है। वह अपने में

कोई नयी बात नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि आज अभिनय ने नृत्य-कला से सर्वथा स्वतन्त्र कला का रूप प्राप्त कर लिया है और उस कला के लिए एक रंगमंच का भी विकास हुआ है। प्राचीन काल में, जहाँ अभिनय को नृत्य का एक अंग माना जाता था, आज नाटक में नृत्य को अभिनय का एक अंग माना जाता है और उसका स्थान भी गौण है।

इसलिए रंगमंच की उपेक्षा करके आज सफल नाटक लिख सकना असम्भव है। और जो नाटककार रंगमंच की उपेक्षा करके सफल नाटक लिखने का प्रयास करते हैं, उनके नाटकों में रंगमंच और अभिनय की दृष्टि से अनेक त्रुटियाँ रह जाती हैं। हिन्दी के क्षेत्र में व्यावसायिक रंगमंच के ह्रास-काल में अच्छे नाटककारों का उदय हुआ। व्यावसायिक रंगमंचों के लिए जो नाटक लिखे जाते थे, वे काव्य की दृष्टि से अधूरे होते थे, किन्तु केवल रंगमंच की सुविधा का ध्यान रखने वाले कम्पनी के मालिक उस अधूरेपन की उपेक्षा कर जाते थे। दूसरी ओर जो साहित्यिक नाटक लिखने वाले कलाकार थे, वे रंगमंचीय नाटकों के उथलेपन से चिढ़े हुए थे और उसे कोई सहयोग न देते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो काव्य-सौष्ठव-हीन केवल रंगमंचीय नाटक लिखे जाने लगे, जिनका आज साहित्य में कोई स्थान नहीं, दूसरी ओर साहित्यिक नाटक लिखे गये जिनका उस समय रंगमंच पर कोई स्थान नहीं था। इस प्रकार अच्छे नाटकों और रंगमंच के बीच एक खाई पैदा हो गई। इस भेद को दूर करने का कुछ प्रयत्न भारतेन्दु-युग में ही प्रारम्भ किया गया था, जो उस युग के उत्तरकाल में विकसित नहीं हो पाया। क्योंकि उस समय तक व्यावसायिक रंगमंचों का उदय हो गया था और वे अपने उपयुक्त केवल रंगमंचीय नाटक

किराये के लेखकों से लिखवाने लगे थे। प्रसाद ने इन रंगमंचीय नाटकों का विरोध किया और उनकी प्रतिक्रिया में रंगमंच की उपेक्षा करके उन्होंने साहित्यिक नाटक लिखे। प्रसाद ने नारा लगाया—'नाटकों के लिए रंगमंच की रचना होनी चाहिए!' और व्यावसायिक रंगमंचों के मालिकों का नारा था—'केवल रंगमंच के लिए नाटकों की रचना होनी चाहिए!' इस प्रकार रंगमंच से हिन्दी साहित्यिक नाटक दूर होते गये और उनके बीच की खाई गहरी होती गई।

प्रसादोत्तर काल के हिन्दी नाटककारों ने इस खाई को पाटने का अथक प्रयास किया है, जिसमें अश्क का महत्वपूर्ण हाथ है। यद्यपि आज भी कुछ साहित्यकार यह कहते हैं, कि जब रंगमंच ही न हो तो रंगमंच के नाटक कैसे लिखे जायँ? इसके उत्तर में अश्क ने १६३६ ही में ठीक कहा था :

> "यदि आज केवल रंगमंच पर खेले जाने वाले नाटक लिखे जायँ तो कल रंगमंच भी अपनी वर्षों की नींद से जाग उठेगा। वास्तव में दोनों का आपस में गहरा सम्बन्ध है। आज भी कालेजों में अंग्रेज़ी से अनूदित नाटक ही खेले जाते हैं। कारण यही है कि उन्हें अपनी भाषा में उत्तम नाटक नहीं मिलते। मेरा अपना विचार तथा अनुभव है कि रंगमंच को स्फूर्ति प्रदान करने का सब से अच्छा साधन यह है कि ऐसे नाटक अधिक संख्या में लिखे जायँ जो रंगमंच पर सुगमता से खेले जा सकें।"*

यह बात 'स्वर्ग की झलक' की भूमिका में अश्क ने सन् १६३६ में लिखी थी। नाटक की 'साहित्यिक उत्कृष्टता' तथा 'अभिनेयता' का

*इसी सम्बन्ध मे देखिए परिशिष्ट—एक पत्र और उसका उत्तर

कलात्मक समन्वय अश्क ने अपने नाटकों में प्रस्तुत किया है। अश्क ने अपने पूर्ववर्ती नाटककारों के गुण-दोषों को देखा-पहचाना है। रंग-मंच की दृष्टि से उनमें जो त्रुटियाँ हैं, उन्हें क्रमशः दूर करने का प्रयास उन्होंने अपने नाटकों में किया है।

अपने पहले ऐतिहासिक नाटक 'जय पराजय' में पूर्ववर्ती नाटकों की अपेक्षा अश्क ने रंगमंच का अधिक ध्यान रखा है, फिर भी इसमें अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं। पहले अंक का प्रथम दृश्य लकुटीश का मन्दिर है जो धरती के भीतर है। भूगर्भ-स्थित इस मन्दिर को रंगमंच पर सुगमता से प्रस्तुत करना असम्भव है। इस नाटक में और दूसरे दृश्य-विधान भी अधूरे और त्रुटिपूर्ण हैं। यह पाँच अंकों का नाटक है, और हर एक अंक में कई-कई और बड़े-बड़े दृश्य हैं। उनके दृश्य-विधान में इतनी विविधता है और इतना अधिक स्थान-भेद है कि एक के बाद दूसरे दृश्य को रंगमंच पर प्रस्तुत करना नितान्त कठिन है। फिर भी कुछ परिवर्तन करके स्थाई सेटिंग की अपेक्षा पुरानी तरह के पर्दों की सहायता से इसे रंगमंच के योग्य बनाया जा सकता है। अश्क इस नाटक की रंगमंचीय त्रुटियों से स्वयं परिचित हैं। उन्होंने 'स्वर्ग की झलक' की भूमिका में लिखा :

> "जय पराजय पुरानी शैली का नाटक था और इसलिए बहुत लम्बा था। मैंने उसे लिखते समय रंगमंच का पूरा ध्यान रखा था और जैसा कि सम्पादक 'विशाल भारत' ने लिखा, वह खेला भी जा सकता है। पर यह बात मैं तब भी जानता था और अब भी जानता हूँ कि वह शायद ही कभी पूरे का पूरा खेला जाय। खेलने के लिए उसे काफ़ी संक्षिप्त करना होगा।"

रंगमंच और अश्क

'जय पराजय' के बाद अश्क के दूसरे पूरे नाटक और एकांकी अभिनय की दृष्टि से रंगमंच के सर्वथा अनुकूल हैं। इन नाटकों में दृश्य-विधान पूरे विवरणों से युक्त हैं और स्टेज इफ़ेक्ट देने के लिए भी संकेतों का प्रयोग किया गया है। स्थान और कार्य की एकता का भी बड़ा ध्यान रक्खा गया है। अपने पूरे नाटकों में एक अंक में ही अनेक दृश्य दिखाने का ढंग अश्क ने सीमित कर दिया है। 'स्वर्ग की झलक' छोटे-छोटे चार अंकों का पूर्ण नाटक है, जिसमें जैसा कि पहले संकेत किया गया है, तीसरे अंक तक प्रत्येक अंक ही एक दृश्य है और केवल चौथे अंक में ही चार दृश्यों का विधान किया गया है। इन दृश्य-विधानों में केवल वस्तुओं और स्थिति का ही संकेत नहीं है, बल्कि पात्रों की वेशभूषा, रूप और वय एवं स्वभाव का भी संकेत दिया गया है। इससे न केवल पढ़ने वालों को नाटक के दृश्य-विधान में कहानी जैसा रस आता है, बल्कि निर्देशक को भी रंग संकेत की अनेक सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं। दृश्यों के बीच में पात्रों के अभिनय व्यापार के लिए भी अनेक संकेत दिये गये हैं। दृश्य-विधान की ये विशेषताएँ अश्क के सभी नाटकों में मिलती हैं। इन रंग-संकेतों में पात्रों की वेश-भूषा और स्थिति को उनके चरित्र और स्वभाव के अनुकूल ही पेश किया गया है और सम्वादों, कार्य-व्यापार और वस्तुओं को नाटक में गति देने के लिए प्रतीकात्मक या संकेतात्मक ढंग से प्रयोग किया गया है, जिनकी उपस्थिति से रंगमंच पर नाटकीय प्रभाव में तीव्रता आती है।

अश्क ने अपने आधुनिक नाटकों में पर्दों का सर्वथा बहिष्कार कर दिया है। उनमें इस बात की अपेक्षा है कि सेटिंग स्थायी हों। दो एक नाटकों को छोड़ कर अश्क ने प्रयास किया है कि सारे का सारा नाटक

एक ही सेटिंग पर खेला जा सके। यदि स्थानान्तर होता भी है तो भी इस बात की अपेक्षा है कि पर्दों के बदले स्वाभाविक अर्थात् नेचुरल (Natural) सेटिंग का अयोजन किया जाय। क्योंकि अभी भारत का रंगमंच साधन सम्पन्न नहीं, इसलिए अश्क ने प्रयास किया कि सेटिंग जितने सीधे साधे हों, उतना ही अच्छा। छठा बेटा' सारे का सारा नाटक एक साधारण बरामदे में अभिनीत होता है, जिसे बड़े कम खर्च से बनाया जा सकता है। 'अलग अलग रास्ते' के तीनों दृश्य पण्डित ताराचन्द के ड्राइङ्गरूम में खेले जा सकते हैं। यही हाल 'कैद' 'उड़ान', 'अंजो दीदी' 'भंवर', आदि का है— सब एक ही सेट पर खेले जा सकते हैं। छोटे नाटकों में 'चमत्कार' केवल एक पर्दे के आगे, जिस पर बाइबल सोसाइटी का बोर्ड लगा हो, खेला जा सकता है। ज़रा ज़रा से दृश्यों के बाद गिरने और उठने वाले पर्दों की अवास्तविकता को दूर कर 'अश्क' नाटक और रंगमंच को यथार्थ जीवन के निकट ले आये हैं।

अश्क ने अपने नये नाटकों में दृश्य-विधान और रंगमंच की बनावट के हितार्थ ही नहीं, नाटक निर्देशन के लिए भी कुछ सुझाव देना आरम्भ कर दिया है। ऐसे सुझाव वही नाटककार दे सकता है जिसे रंगमंच का पूरा पूरा अनुभव हो। 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' संग्रह के परिशिष्ट में रंगमंच के विकास के लिए भी कुछ सुझाव अश्क ने दिये गये हैं। उन्होंने इसमें ऐमेचर-रंगमंच-आन्दोलन को चार भागों में बाँटा है— रीडिंग क्लब, ड्राइंग रूम क्लब, एमेचर रंगशाला और खुली हवा के मंच।[1] अश्क का कहना है कि उनके अधिकांश नाटक इस आन्दोलन की पहली तीन मंज़िलों के सामने रख कर ही लिखे गये हैं। 'पर्दा

[1] देखिए परिशिष्ट—राष्ट्रीय रंगमंच और उसका निर्माण।

उठाओ पर्दा गिराओ', 'कइसा साहब कइसी आया', 'सयाना मालिक' और 'कस्बे के क्रिकेट क्लब का उद्घाटन' रीडिंग क्लब में पढ़े जाने और ड्राइंग रूम में खेलने के लिए लिखे गये हैं। 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' ऐमेचर रंगमंच पर भी खेला जा सकता है। 'बतसिया' 'तौलिये' 'मस्केबाजों का स्वर्ग' 'अंजो दीदी' और 'छठा बेटा' तथा 'पैंतरे' बड़े रंगमंच पर खेले जा सकते हैं। अश्क ने खुली हवा के रंग-मंच को दृष्टि में रख कर शायद कोई नाटक नहीं लिखा। केवल 'चमत्कार', एक ऐसा नाटक है जो ज़रा से परिवर्तन से कहीं भी खुले में खेला जा सकता है। 'अधिकार का रक्षक' और 'चमत्कार' लाहौर के खुले हवा के रंगमंच पर खेले भी जा चुके हैं।*

यद्यपि हिन्दी में रंगमंच की कमी है, फिर भी अश्क के अधिकांश नाटक एमेचर रंगमंच पर खेले जा चुके हैं। उन्होंने अखिल भारतीय जन-नाट्य-संघ (इपटा) के लिए साम्प्रदायिक दंगों के विरुद्ध 'तूफ़ान से पहले' नाटक लिखा था। इसके लिए उन्होंने बिल्कुल नये अभि-नेताओं को लेकर निर्देशन का भी काम किया। अपने सामने लगभग दो महीने तक उन्होंने इसके रिहर्सल कराये और तब प्रसिद्ध अभिनेता बलराज साहनी के सहयोग से यह सफलता से प्रदर्शित किया गया। निर्देशन और रिहर्सल में दिलचस्पी लेना केवल निर्देशक का ही काम नहीं, नाटक को रंगमंच पर सफलता-पूर्वक प्रदर्शित करने के काम में

* चमत्कार में केवल इस बात की आवश्यकता है कि खुले में एक मेज़ कुर्सी रख कर एक अभिनेता पादरी बन कर कुछ भाषण देना शुरू करे। दो एक वाक्यों के बाद मियां जी मुर्दा मछली का डिब्बा घसीटते हुए दाखिल हों और नाटक आरम्भ हो जाय।

'अधिकार का रक्षक' में नेता की कुर्सी मेज़ और फोन खुले में रख कर नाटक खेला जा सकता है।

नाटक लेखक का भी बहुत बड़ा दायित्व है। केवल अनुमान या दूर के अनुभव से दृश्य-विधान और रंग-संकेतों को दे देने मात्र से नाटकों को रंगमंच पर सफलता नही मिलती। इसके लिए आवश्यक हो जाता है कि नाटककार अपने नाटको के लिए रंगमंच तैयार करने और रंगमंच के अनुकूल नाटकों को बनाने के हेतु रंगमंचीय-निर्देशन में पूरी दिलचस्पी ले। इस विषय में हिन्दी नाटककारों को बर्नार्डशा का उदाहरण अपने सामने रखना चाहिए। उनकी सिक्रेटरी कुमारी पंच ने लिखा है :

> "बर्नाडशा इस बात पर खास ध्यान रखते थे कि उनका नाटक उसी रूप में खेला जाय, जिस रूप में लिखने के समय उन्होंने उसकी कल्पना की थी। अपनी रिहर्सल की प्रति पर वे ब्योरे के साथ उल्लेख कर देते थे कि कौन सी भूमिका किस तरह उपस्थित की जाय। नायक यहाँ खड़ा हो, नायिका वहाँ खड़ी हो, सखा इस ओर देखता रहे, सखी उस ओर तकती रहे। दर्शकों को ऐसा मालूम पड़े कि वे अभिनेताओं को नहीं, बल्कि नाटकों के पात्रों और पात्रियों को उनके मूल जीवन में देख रहे हैं। वे अभिनेताओं और अभिनेत्रियों की तुनुक मिज़ाजी जानते थे, इसलिए कभी उन्हें नाराज़ न करते थे। किन्तु बार-बार एक-एक पंक्ति का रिहर्सल तब तक कराते रहते थे जब तक कि वह उस रूप में न उतर आती थी, जिस रूप में उन्होंने उसे लिखा था। उनकी चातुरी और उनके धैर्य में होड़ सी लगी रहती थी और ये दोनों गुण उनमें प्रचुर मात्रा में मौजूद थे।"

स्पष्ट है कि नाटकों के वस्तु और शिल्प के विकास में नये

प्रयोगों की सार्थकता तभी है जब कि नाटकों के साथ साथ रंगमंच का भी विकास होता चले। इसके लिए नाटककार और रंगमंचीय कलाकार में सहयोग की आवश्यकता है। भारत के प्राचीन नाट्य-शास्त्र के अनुसार भी अभिनेता तो केवल नट है, असली नाट्यकार तो नाटक लेखक होता है। इसलिए नये और पुराने दोनों दृष्टकोणों से नाटक और रंगमंच का समन्वय करने का दायित्व प्रमुख रूप से नाटककार पर ही है। जो नाटककार इस दायित्व से भागता है, वह नाट्य-कला के विकास में पूरा योग नहीं दे सकता। अश्क ने अपने अस्वास्थ्य के बावजूद इस सम्बन्ध में कितना काम किया है, इसका ज़िक्र उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में लिखते समय डा० द्वारका प्रसाद ने अपने एक लेख में किया है। यहाँ केवल इतना उल्लेख कर देना आवश्यक है कि गत तीन वर्षों में उन्होंने राजस्थान, मध्य भारत, मध्य प्रदेश, मद्रास, बिहार और पंजाब के विभिन्न नगरों में अपने एकांकियों का अकेले-दम प्रदर्शन करके न केवल सहस्रों का मनोरंजन किया, बल्कि एमेचर रंगमंच को बड़ा बल दिया। नाटक लिखने के साथ-साथ स्वयं रंगमंच में भी क्रियात्मक दिलचस्पी लेने का यह फल है कि आज अश्क के एकांकी उत्तर से लेकर दक्षिण भारत तक में खेले जा रहे हैं।

जब भी सम्भव होता है अश्क अभिनेताओं को परामर्श देते हैं, उन्हें नाटक की मुश्किल भूमिकाएं स्वयं करके दिखाते हैं। इलाहाबाद में उनके निवासस्थान पर सदा किसी न किसी एकांकी की रिहर्सल चलती रहती है। दो वर्ष पहले म्योर हॉस्टल इलाहाबाद के छात्रों ने जब विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह पर उनका नाटक 'छठा बेटा' खेलना चाहा तो न केवल अश्क ने नाटक को छात्रों की जरूरत के अनुसार छोटा कर दिया, बल्कि [illegible] का अभिनय करने वाले को

ऐसे ट्रेन किया कि उसके अभिनय पर हाल में बराबर ठहाके लगते रहे। अश्क जी के सिखाने के अनुसार जब भी वह वाक्य के अन्त में लटका देकर 'साले' कहता, हाल क़हक़हाज़ार बन जाता।

यही नहीं हॉस्टल के सीनियर छात्र श्री पाण्डेय ने, जो नाटक का निर्देशन कर रहे थे, आपत्ति की कि नाटक का अन्त नाटकीय नहीं। दर्शकों पर लम्बी साँस का कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा। अश्क जी ने सम्भवतः वह अन्त पाठकों को ध्यान में रख कर लिखा था। तत्काल उसे बदल कर उन्होंने उसे अभिनय के योग्य बना दिया। जहाँ पहले पण्डित बसंत लाल लाटरी का टिकेट देखकर और यह समझ कर कि उन्होंने स्वप्न देखा है, लम्बी सांस भरते थे, वहाँ अब वे उसे उठाकर चकित से धीरे-धीरे उठते हैं और आँखे फाड़ कर लाटरी के टिकेट को देखते हैं और चिल्लाते हैं—"तो क्या यह सपना था"—और फिर धम्म से चारपाई पर गिर जाते हैं।

नाटक के अन्त में शराबी बसन्तलाल की इस भंगिमा ने दर्शकों को एकदम हिला दिया और पर्दे के गिरते ही उनकी करतल ध्वनि से हाल गूँज उठा।

उस समय तक 'छठा बेटा' के चार संस्करण छप चुके थे। अब अश्क ने जब (आदि मार्ग में) नाटक के पाँचवें संस्करण का संशोधन किया तो उन्होंने उसका अन्त बदल दिया।*

यही नहीं १८ दिसम्बर १९५३ को इलाहाबाद के पैलेस थेयेटर में अश्क का नाटक 'अलग अलग रास्ते' 'नीटा' द्वारा बड़ी सफलता से

---

*देखिए 'आदि मार्ग' का प्रथम तथा द्वितीय संस्करण और उनमें नाटक के अन्त मे उपरोक्त परिवर्तन ! भाषा का परिवर्तन भी देखने योग्य है।

खेला गया। उस समय न केवल अश्क ने निर्देशकों की सहायता की, अन्तिम रिहर्सलें कराईं, बल्कि पर्दा खींचने से काल बैल (समय से) बजाने का तक काम किया। नाटक ऐसा सफल हुआ कि एक ही महीने में दूसरी बार उसे खेलना पड़ा।

निर्देशक, अभिनेताओं और लेखक के सहयोग में अश्क का पूरा विश्वास है। उनका ख्याल है कि रंगमंच की जरूरतों को जानने वाला लेखक जब नाटक में संशोधन या परिवर्धन करेगा तो निश्चय ही यह काम वह निर्देशक या किसी अभिनेता से बेहतर करेगा। इस विषय में बंगला और मराठी नाटककारों से भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है, जिन्होंने केवल नाटक ही नहीं लिखे, बल्कि रंगमंच के विकास में भी पूरा-पूरा योग दिया है। आज भी मराठी में प्रसिद्ध नाटककार मामा वरेरकर और बंगला में शिशिर भादुड़ी रंगमंच के विकास में योग दे रहे हैं। इसी प्रकार भारतेन्दु ने भी हिन्दी नाट्य-रचना के प्रारम्भ काल में रंगमंच के विकास के प्रति काफ़ी दिलचस्पी दिखाई थी। किन्तु बाद के नाटककारों ने उधर से उदासीनता दिखाई और हिन्दी रंगमंच का विकास बीच में ही रुक गया। आज फिर रंगमंच-निर्माण-आन्दोलन की लहर देश भर में फैलती जा रही है और एमेचर रंगमंच आन्दोलन स्कूल-कालेजों और बड़े शहरों में तेज़ी से आगे बढ़ रहा है। इपटा I P T A ने रंगमंच की भूमिका बनाने में काफी काम किया है। पृथ्वी थियेटर्ज़ अन्ततः एक व्यावसायिक रंगमंच है, किन्तु उसके और अधिक विकास की सम्भावनाएँ तभी हैं, जब वह श्रेष्ठ नाटककारों का सहयोग प्राप्त करेगा।

रंगमंच के प्रति अश्क की इतनी सजगता उन्हें केवल सफल नाटक लिखने के ही योग्य नहीं बनाती, बल्कि वह इस बात की भी द्योतक

है कि भविष्य में नाटककारों के सहयोग ही से रंगमंच का पूर्ण विकास सम्भव है ।

इस विषय में अश्क का यह विश्वास ठीक ही है कि 'रंगमंच की उचित प्रगति तभी होगी कि जब एक ओर उसकी बनावट अति आधुनिक होगी, दूसरी ओर नये नये नाटकों के रूप में उसे नया रक्त मिलेगा।'

अश्क के नाटकों में वस्तु-चयन और वस्तु-विन्यास

नाटक के तन्त्र-विधान में वस्तु और उसके विन्यास का महत्वपूर्ण स्थान है। वस्तु के आधार पर ही नाटक का ढाँचा खड़ा होता है। प्राचीन आचार्यों ने वस्तु-विन्यास में पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ, पाँच कार्यावस्थाएं और पाँच सन्धियों का विधान किया है। किन्तु आज का वस्तुविधान इतने यान्त्रिक नियमों के बन्धनों को स्वीकार नहीं करता। आज जीवन के किसी भी क्षेत्र से वस्तु का चुनाव होता है और उसे अधिक से अधिक स्वाभाविक रूप में विकसित करने का प्रयत्न किया जाता है। प्राचीन विधान के अनुसार सुनिश्चित नियमों के अन्तर्गत वस्तु का चुनाव करना एक सरल बात थी। क्योंकि जहाँ भी वे सुनिश्चित नियम घटित होते थे, वहाँ से ही वस्तु का चयन कर लिया जाता था और वह क्षेत्र था—समाज का सम्पन्न या शासक वर्ग। इसीलिए

प्राचीन नाटकों की कथावस्तु का चुनाव या तो देवी देवताओं के अलौकिक जीवन से किया गया है या राजघराने से, या धनी वर्ग से। यूनान के पुराने नाटक, अंग्रेज़ी में शेक्सपियर के नाटक और संस्कृत नाटकों के वस्तु-चयन के क्षेत्र उपरोक्त ही है। किन्तु आज का नाटककार इन सीमाओं को तोड़कर जीवन की विविधता और व्यक्ति-वैचित्र्य को उसमें स्थान देने लगा है। इसका कारण समाज की राजनैतिक, आर्थिक और द्वन्द्वात्मक प्रगति है, जिसने साहित्य पर भी अपना प्रभाव डाला है।

इसलिए जीवन की इस विराट विविधता के मध्य से नाटकीय वस्तु का चयन करना आज अधिक कठिन है। जो कलाकार अपने तीव्र अनुभव से इस कार्य को जितना सरल बना लेता है, उसके नाटकों की नींव उतनी ही मजबूत होती है।

आज वस्तु का अर्थ बहुत व्यापक हो गया है। वस्तु से तात्पर्य केवल कथा-वस्तु से ही नही, बल्कि कथा-वस्तु के साथ रहने वाली जीवन की उस चेतना से भी है जो उसमें गति और सजीवता पैदा करती है। 'डिसकवरीज़' में बेन जान्सन ने नाटक के एक समूचे और सुनियोजित कार्य-व्यापार को वस्तु माना है। 'प्रीफेस टू सेम्सन एग्नीस्टीज़' में जान मिल्टन ने उस कहानी को, जो स्थान, समय और कार्य की मर्यादा को निबाह सके, वस्तु माना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तु का अर्थ आज बहुत व्यापक हो गया है और इस व्यापकता को दृष्टि में रख कर प्रकृत समाज के जीवन में से नाटकीय वस्तु का चुनाव करना काफ़ी सूक्ष्म दृष्टि का कार्य है।

जो नाटककार जीवन के क्षेत्र से नाटकीय वस्तु का चुनाव नहीं कर पाते, उनके नाटकों की नींव ही कमज़ोर हो जाती है।

अश्क के नाटकों में वस्तु-चयन और वस्तु-विन्यास

यों तो दिन रात विविध प्रकार की घटनाएं लेखक के अनुभव आती हैं, किन्तु उन साधारण घटनाओं में से कौन सी घटना के लिए एक आधारभूत नाटकीय इकाई बन सकती है, इसका सूक्ष्म निरीक्षण नाटककार की कला-दृष्टि के पैनेपन का परिचायक होता है। अश्क में यह पैनी दृष्टि है। वस्तु-चयन का उनका अपना एक दृष्टिकोण है, जो सामाजिक और यथार्थवादी है। यही कारण है कि उन्होंने अपने अधिकांश नाटकों की कथा-वस्तु का चुनाव प्रत्यक्ष सामाजिक जीवन से किया है। केवल 'जय पराजय' उनका एक ऐसा नाटक है, जिसमें कथा-वस्तु का चुनाव भूले-बिसरे अतीत के सामंती उच्च वर्ग में से किया गया है।

जीवन से नाटकीय वस्तु के चुनने के लिए जिस व्यापक अनुभव की आवश्यकता होती है वह अश्क में है। इन अनुभवों के आधार पर ही उनकी कला-दृष्टि को यह खूबी प्राप्त हुई है कि वे सामने घटने वाली घटनाओं में से नाटकीय तत्व का तुरन्त आभास पा लेते हैं। इस विषय में हिन्दी नाट्य-कला के मर्मज्ञ जगदीशचन्द्र माथुर का यह निम्नलिखित कथन सर्वथा उपयुक्त ही है :

> "अश्क की सब से बड़ी विशेषता यही है कि वे उसी इकाई को चुनते हैं जिसकी स्वाभाविक और सम्पूर्ण अभि-व्यंजना नाटकीय रूप में हो सकती है, अन्याथा नहीं— वह इकाई चाहे एक असाधारण परिस्थिति हो, चाहे कोई अनोखा चरित्र, चाहे कोई भूली भटकी याद! क्यों अश्क ऐसी ही इकाई को चुन पाते हैं? इसका कोई एक उत्तर नहीं। शायद उनकी जन्मजात सूझ ही ऐसी अद्भुत है कि आधुनिक 'रॉडर' की भाँति आप ही आप नाटकीय

प्राचीन नाटकों की कथावस्तु का चुनाव या तो देवी देवताओं के अलौकिक जीवन से किया गया है या राजघराने से, या धनी वर्ग से। यूनान के पुराने नाटक, अंग्रेजी में शेक्सपियर के नाटक और संस्कृत नाटकों के वस्तु-चयन के क्षेत्र उपरोक्त ही है। किन्तु आज का नाटककार इन सीमाओं को तोड़कर जीवन की विविधता और व्यक्ति-वैचित्र्य को उसमें स्थान देने लगा है। इसका कारण समाज की राजनैतिक, आर्थिक और द्वन्द्वात्मक प्रगति है, जिसने साहित्य पर भी अपना प्रभाव डाला है।

इसलिए जीवन की इस विराट विविधता के मध्य से नाटकीय वस्तु का चयन करना आज अधिक कठिन है। जो कलाकार अपने तीव्र अनुभव से इस कार्य को जितना सरल बना लेता है, उसके नाटकों की नींव उतनी ही मजबूत होती है।

आज वस्तु का अर्थ बहुत व्यापक हो गया है। वस्तु से तात्पर्य केवल कथा-वस्तु से ही नही, बल्कि कथा-वस्तु के साथ रहने वाली जीवन की उस चेतना से भी है जो उसमें गति और सजीवता पैदा करती है। 'डिसकवरीज़' में बेन जान्सन ने नाटक के एक समूचे और सुनियोजित कार्य-व्यापार को वस्तु माना है। 'प्रीफेस टू सेम्सन एग्नीस्टीज़' में जान मिल्टन ने उस कहानी को, जो स्थान, समय और कार्य की मर्यादा को निबाह सके, वस्तु माना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तु का अर्थ आज बहुत व्यापक हो गया है और इस व्यापकता को दृष्टि में रख कर प्रकृत समाज के जीवन में से नाटकीय वस्तु का चुनाव करना काफ़ी सूक्ष्म दृष्टि का कार्य है।

जो नाटककार जीवन के क्षेत्र से नाटकीय वस्तु का चुनाव नहीं कर पाते, उनके नाटकों की नींव ही कमज़ोर हो जाती है।

सम्भावनाओं से सम्पन्न परिस्थियाँ उससे टकरा जाती हैं। शायद छात्र-जीवन में उन्होंने जो नाटक खेले, उनके तजुर्बे उनके व्यक्तित्व में सन्निहित हो गये हैं। शायद वे खोज मेहनत और मनन के बाद अनेक अनुभवों में से परख कर, जो उनको बिल्कुल नपा तुला जचता है, उसे ही चुनते हैं। यह नहीं कि जो चमकती चीज़ सामने आई उसी पर दिल फेंक बैठें, और बेदर्दी के साथ उसे नाटक के साँचे में ढाल दें।"

अश्क ने अपने इस व्यापक अनुभव की ओर इस प्रकार संकेत किया है :

बचपन से मेरी प्रवृत्ति नाटकों की ओर रही है। बचपन से मैंने द्विजेन्द्रलाल राय, आग़ा हश्र, राधेश्याम, रहमत आदि के नाटक पढ़े हैं, कालेज और कालेज के पश्चात् अनेक नाटकों में अभिनय कियाहै और बाद में, जब मैं पुस्तकें खरीद सका, मैंने लगभग सभी प्रसिद्ध पश्चिमी और पूरबी नाटककारों की रचनाएं पढ़ी हैं। नाटक के आवश्यक उपादानों का परिचय पाया है। पुरातन और आधुनिक ढंग के नाटकों का अन्तर जाना है और अभ्यास से ड्रामे की कला पर अधिकार प्राप्त कर लिया है।"

इस तरह अश्क ने एक ओर तो रंगमंच और नाटक की कला का शुरू से अनुभव प्राप्त किया दूसरी ओर अपने जीवन संघर्ष में रिपोर्टर, अध्यापक, अनुवादक, सम्पादक, वक्ता, विज्ञापन विशेषज्ञ, सैल्ज़मेन, प्रकाशक, वकील, रेडियो आर्टिस्ट, अभिनेता और सिनारिस्ट आदि के रूप में जीवन के विविध अनुभव भी प्राप्त किये हैं। इस प्रकार कला और जीवन दोनों के व्यापक अनुभव से उनकी जिस कला-दृष्टिका निर्माण

हुआ है, वही वस्तु के निर्वाचन में अपना चमत्कार दिखाती है।

अश्क ने प्रत्यक्ष जीवन के अनुभव से ही अपने सामाजिक यथार्थवादी नाटकों के लिए वस्तु-चयन किया है। मध्यवर्गीय जीवन की सामाजिक और पारिवारिक विविध समस्याएं ही उनका आधार हैं। जैसा उन्होंने जीवन में देखा, उसे नाटकों में यथार्थवादी कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया। उनके नाटकों में रिपोर्टर, सम्पादक, डाक्टर, नेता, अभिनेता, क्लर्क आदि समाज के विभिन्न प्रतिनिधि वर्ग रूपों का चित्रण हुआ है। मध्यवर्गीय जीवन की कमज़ोरियों और अभिजात्यवर्गीय सनकों पर उन्होंने व्यंग्य भी कसे हैं। अपने नाटकों के लिए वस्तुग्रहण की प्रेरणा प्रत्यक्ष जीवन से उन्हें किस प्रकार मिलती है, इसके उदाहरण उन्होंने 'में नाटक कैसे लिखता हूँ' में दिये हैं। केवल वस्तु के चुनाव में ही नहीं, वस्तु-विन्यास और वस्तुसामंजस्य में भी उन्होंने अपने शिल्प-चातुर्य का परिचय दिया है। शास्त्रीय दृष्टिकोण से वस्तु-विन्यास को कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और सन्धियों में नियन्त्रित किया गया है। अश्क के नाटकों में इन नाट्य-शास्त्रीय नियमों का नियन्त्रण स्वीकार नहीं किया गया और वे आधुनिकतम कला के नमूने हैं। वस्तु-विन्यास में नाटक के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक शिल्प रचना की सभी प्रक्रिया आ जाती है। कथावस्तु को पात्रों के चरित्रों के अनुकूल स्वाभाविक ढंग से आगे बढ़ाते हुए वस्तु-विन्यास-क्रम में लगभग यह सभी बातें आ जाती हैं। प्राचीन नाट्य-शास्त्र में इस विषय के जो नियम बनाये गये, वे भी नाट्य-रचना के उस क्रम को देख कर ही बनाये गये होंगे।

आज के नाटककारों और आलोचकों ने जीवन की प्रगति के साथ साथ प्राचीन नाट्यशास्त्र के उन यान्त्रिक नियमों को तो त्याग दिया,

जो नाटकों की नयी प्रगति में बाधक थे, किन्तु नाट्य-रचना की परम्परागत विशेषताओं से अपना सम्बन्ध नहीं छोड़ा। अश्क के पहले नाटक 'जय पराजय' की वस्तु और उसके विन्यास में प्राचीन नियमों के अनुसार अनेक गुण-दोष मिल सकते हैं। इसमें प्राचीन नाटकों की तरह मंगलाचरण दिया गया है और वस्तु का चुनाव भी सम्पन्न वर्ग के उच्चकुल से ही किया गया है। नायक को आदर्शवादी रूप में प्रस्तुत किया गया है। साथ में एक प्रतिनायक और एक खल-नायक भी है। यद्यपि इस नाटक में स्वगत बहुत कम प्रयोग हुआ है फिर भी अनेक पात्र एकान्त में स्वगत-भाषण करते हैं। कथावस्तु को पांच अंकों में बाँटा गया है, और उनमें कई कई दृश्य हैं। यद्यपि दृश्यों का विधान नवीन ढंग से किया गया है, फिर भी प्रत्येक अंक में ऐसे कई कई दृश्य उपस्थित किये गये हैं जो वस्तु-विन्यास में सहायक नहीं होते। पहले अंक में तो केवल पात्रों का परिचय ही दिया जाता है, जिसके लिए इतने बड़े अंक के सृजन की आवश्यकता नहीं थी। पहले अंक में कई दृश्य आधिकारिक वस्तु से सीधा सम्बन्ध नहीं रखते। कथा का वास्तविक प्रारम्भ तो दूसरे अंक से होता है। 'जय पराजय' के वस्तु-विन्यास में अनावश्यक विस्तार का दोष है जो अस्वाभाविक परिस्थितियों को उपस्थित करता है।

'जय पराजय' के बाद के नाटकों में वस्तु को बड़े ही सुगठित और सुचारु रूप से विन्यसित किया गया है और उनका शिल्प-आधार भी नितान्त आधुनिक है। उनमें देश, काल और कार्य की मर्यादाओं का सन्तुलन है। आधिकारिक वस्तु सुगठित है और उसमें विस्तार-दोष नहीं है। एक तो उपवस्तु और प्रासंगिक कथाओं की उनमें सृष्टि नहीं की गई है और यदि वे कहीं पर आई भी हैं तो मुख्य वस्तु को

विकसित करने के कार्य में स्वाभाविक ढंग से योग देने के लिए ही।

कार्य-व्यापार और आकस्मिकता का भी विशेष ध्यान रखा गया है। इन नाटकों के दृश्य-विधान भी काफ़ी विवरणपूर्ण और स्पष्ट हैं और वे नाटक की स्वाभाविक परिस्थिति एवं वातावरण के सूचक हैं।

कथावस्तु का प्रारम्भ मध्य और अन्त चरित्रों के स्वाभाविक कार्य-व्यापार में क्रमिक रूप से विकसित होता हुआ नाटक के उद्देश्य को अन्त में प्रतिफलित करता है। अश्क के नाटकों में वस्तु-विन्यास का यही विकास-क्रम है। प्रायः सर्वत्र यही विकास-क्रम मिलता है। 'स्वर्ग की झलक' और 'छठा बेटा' जैसे नाटकों के कार्य-व्यापार में चाहे इतनी तीव्र गतिशीलता न हो, किन्तु उनमें सुगठित विकास का क्रम है और उद्दिष्ट प्रभाव को प्रतिफलित करने में वह क्रम सार्थक हुआ है। 'कैद', 'उड़ान' और 'छठा बेटा' आदि में समय, स्थान और कार्य की संतुलित एकता द्वारा वस्तु-विन्यास का रूप बड़ा सुगठित हुआ है। 'स्वर्ग की झलक' में यद्यपि समय का सन्तुलन है, फिर भी स्थान की एकता का निर्वाह नहीं हुआ है। 'बतसिया', 'पैंतरे', 'अलग अलग रास्ते', 'भँवर' और 'अंजो दीदी' जैसे बड़े नाटकों में भी वस्तु विन्यास का क्रम सन्तुलित और विकासमान है। अश्क के एकांकी इस दृष्टि से काफ़ी सुगठित और प्रभावशाली हैं। अश्क के जो बड़े नाटक हैं उन पर भी एकांकी कला के संक्षेपण और सुगठन का प्रभाव है।

अश्क वस्तु के विन्यास में केवल कला को ही आगे नहीं बढ़ाते, बल्कि चरित्र और उनके माध्यम से विचार-वस्तु के रूप को भी निखारते चलते हैं। वे नाटक के विभिन्न तत्वों का समन्वय करके वस्तु को एक सुगठित रूप देते हैं और अन्त तक उसे उद्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ कर देते हैं। अश्क के वस्तु-विन्यास के क्रम में ऐसा नहीं होता

कि वस्तु के प्रारम्भ भाग में वे किसी समस्या या जटिल मनोवैज्ञानिक ग्रंथि को प्रस्तुत करें और फिर उसका उद्घाटन। वे प्रारम्भ और अन्त तक पहुँच कर पूरे नाटक को इच्छित प्रभाव से युक्त कर देते हैं। अश्क इस सब क्रम से पात्र, वस्तु और रस के सन्तुलन का विशेष ध्यान रखते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उनका वस्तु-विन्यास नाटक के विभिन्न तत्वों को अपने में समो कर एक वैज्ञानिक विकास-क्रम और शिल्प-चातुर्य के साथ होता है।

अश्क का यह कथन कि वास्तव में नाटक लिखने की क्रिया भिन्न रसायनिक द्रव्यों के समावेश से नया द्रव्य तैयार करने ऐसी ही है'—उनके वस्तु-विन्यास के शिल्प-चातुर्य पर ठीक ही प्रकाश डालता है।

अश्क के नाटकों सम्वाद और भाषा

नाटक के प्राचीनतम् और प्रारम्भिक रूप के सूत्र सम्भाषणों से प्राप्त होते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से आज की विकसित नाट्य-कला का बीज वैदिक सम्वादों में देखा गया है। इस प्रकार सम्वाद और सम्भाषण नाट्य कला की मूल और आदि प्रेरणा हैं।

साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा नाटक में सम्वादों का अधिक महत्व है। क्योंकि उपन्यास, कहानी, तथा कविता आदि में लेखक के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अपनी बात कहने का भी अवसर रहता है। किन्तु नाटकों में लेखक को यह सुविधा नहीं रहती और अभिनय के अतिरिक्त पात्रों की वाणी ही अभिव्यक्ति का एक मात्र-साधन होती है। रंगमंच पर चाहे पात्रों का परिचय देना हो, नयी परि-स्थिति की सूचना देनी हो, कथा को आगे बढ़ाना हो, पात्रों का

अर्न्तद्वन्द्व प्रकट करना हो— सब के लिए विभिन्न रूप में सम्वाद का प्रयोग करना पड़ता है। सम्वाद नाटक के विभिन्न रसायनिक द्रव्यों को एक सूत्र में मिलाकर नाट्य-शरीर को सजीवता प्रदान करता है और उसे प्रभावशाली बनाता है। रेडियोप्ले सम्वादों द्वारा नाट्य-सृष्टि का सफल उदाहरण है। रेडियो-प्ले को शरीर-हीन अभिनय कहा जा सकता है और जब इस अशरीरी वाणी के अभिनय को रंगमंच पर साकारता प्रदान की जाती है, तब नाट्य-पुरुष का पूर्ण व्यक्तित्व अपने समस्त सौष्ठव के साथ दर्शकों पर अपना प्रभाव डालता है।

इस प्रकार वस्तु-विन्यास और उद्देश्य के समष्टिगत प्रभाव को पूर्ण बनाने के लिए सम्वाद नाटक का एक उपयोगी अंग है। सम्वादों के द्वारा ही नाटककार विशेषरूप से अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण करता है। चरित्रांकन में स्वकथन और अन्य पात्रों के सम्वाद विशेष प्रकाश डालते हैं। जैसे जीवन में एक दूसरे की बातचीत से हम बातचीत करने वालों के स्वभाव और चरित्र का आभास पा जाते हैं, उसी प्रकार नाटक में भी पात्रों की बातचीत उनके स्वभाव और चरित्र का आभास देती है। इसीलिए सम्वादों का पात्रानुकूल और स्वाभाविक होना आवश्यक है। यदि पात्र का सम्वाद उसके चरित्र का प्रतिनिधित्व नहीं करता तो वह नाटक में अस्वाभाविकता पैदा करता है। अश्क ने सम्वादों की स्वाभाविकता का बहुत ध्यान रक्खा है। उन्होंने प्रसाद की तरह प्रत्येक पात्र के मुँह से अपने प्रकार की एक ही तरह की भाषा का प्रयोग नहीं कराया है, अपितु पात्रों के अनुकूल ही सम्वादों को इस प्रकार गढ़ा है कि उनकी भाषा लेखक द्वारा आरोपित कृत्रिम भाषा नहीं जान पड़ती। अश्क के नाटकों की भाषा चलती हुई

मुहाविरेदार, टकसाली, पात्र और समय के सर्वथा अनुकूल रहती है। 'जोंक' एकांकी के तीसरे दृश्य में दो पात्रों का पंजावी और मारवाड़ी होने का परिचय उनके संवादों की भाषा से ही लगता है। पंजाबी कहता है : "की गल्ल ए, की गल्ल ए, किद्धर चोरी हुई है किद्धार !" और इसी प्रकार मारवाड़ी कहता है : "काई छे शाब, काई छै !" भाषा के भेद से ही यहाँ पर पंजाबी और मारवाड़ी होने का ही परिचय केवल नहीं होता, बल्कि सम्वादों में प्रकट उनकी भावनाओं के द्वारा उनके जातिगत स्वभावों का भी परिचय मिलता है। चोर के पकड़े जाने पर पंजाबी के सम्वाद में क्रोध है और वह सब से अधिक गाली देता है। मारवाड़ी शिकायत के स्वर में गाली देता है और मारने की केवल धमकी देता है। और हिन्दुस्तानी महाशय जब दार्शनिक भाव के यह टिप्पणी करते हैं, "आजकल की बेकारी ने नौवजवानों को चोर और डाकू बना दिया है—तो तीनों के स्वाभाव निखर कर सामने आ जाते हैं।

'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' में रामकिशन के संवाद की भाषा जहाँ उसके पुरबिया होने का परिचय देती है, वहाँ उसके सम्वाद की भावना और बातचीत का ढंग उसके ग्रामीण और अक्खड़ संस्कार को भी प्रकट कर देता है। जब वह रंगमंच पर अभिनय में दी गई गाली को सच्ची गाली समझ कर क्रोध से भड़क उठता है और कहता है : "हे देखो ! जबान सम्हारि के बाति करो। बड़े महाराज बने फिरत हैं देने का एक रुपैया और सान इतनी गाँठत हैं। जाओ नहीं बताइत हैं। हम कहित हैं गारि देइहौ तो मालुम होई पै भी न बताउब और उठा कर नीचे फेंक देब।" तो उसकी मूर्खता, जवानी, अक्खड़ता और हास्यास्पदता सब निखर कर सामने आ जाती है। 'कइसा साब

आया' में भी बम्बई के अभिजात्य परिवारों में काम करने वाली आया का चरित्र उसकी बम्बइया हिन्दुस्तानी के सम्वाद से प्रकट होता ही है, साथ में सम्वादों की भाषाओं से उसके चरित्र की विशेषताएँ भी उभर कर सामने आती हैं। बम्बइया हिन्दुस्तानी में इससे सुन्दर मनोवैज्ञानिक नाटक शायद ही लिखा गया हो। 'मस्केबाज़ों का स्वर्ग' में भी इसी प्रकार बम्बइया हिन्दुस्तानी का पात्रों के अनुकूल प्रयोग किया गया है। न केवल यह, बल्कि मराठी, गुजराती, हिन्दी तथा उर्दू भाषा भाषियों की बम्बइया हिन्दुस्तानी का भी सुन्दर नमूना यहाँ मिलता है। उर्दू के हामी उर्दू बोलते हैं और हिन्दी वाले हिन्दी—सम्वादों की भाषा में पात्रानुकूल यह अन्तर पात्रों को बड़ा सजीव और स्वाभाविक बना देता है।

अश्क ने सम्वादों का प्रयोग अनुपस्थित घटना या अनुपस्थित पात्र को साक्षात् करने के लिए बड़े स्वाभाविक ढंग से किया है। ऐसे सम्वाद नाटक की कथा-वस्तु की पृष्ठभूमि का परिचय तो देते ही हैं, साथ ही उसकी गति में भी सहायक होते हैं। 'कैद' नाटक में प्राणनाथ का निम्नलिखित कथन उसके और अप्पी के जीवन की पृष्ठिभूमि पर प्रकाश डालता है। चन्द सम्वाद देखिए :

प्राणनाथ :—खुश हो ! (पीड़ा से मुस्कुराते हुए) खुशी का कोई चिन्ह तो तुम्हारे चेहरे पर दिखाई नहीं देता। मुझे सावन की वह साँझ याद है जब मैं दिप्पो की मौत के बाद दिल्ली गया था। तुम्ही ने कुतुब चलने की बात कही थी। मैं, कुन्तल, तुम और दिलीप—चारों कुतुब देखने गये

थे। उन दिनों कितनी खुश थीं तुम—कितनी प्रसन्न, चंचल और चपल। उनमुक्त हवा सी तुम उड़ा करती थीं, हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाती थीं और तुम्हारे गालों के गुलाब हर घड़ी खिले रहते थे। यहाँ आकर वे न जाने क्यों मुरझा गये ?

(अप्पी चुप रहती है।)

प्राणनाथ :—और मैं सोचता था यहाँ आकर इनकी लाली बढ़ जायगी। यह मनमोहक फिज़ा, यह खुली हवा, ये फैले पहाड़, यह बहता दरिया। साँझ सवेरे हम सैर को जाया करेंगे।

अप्पी :—आप जाते ही नहीं मैं कितनी बार कह चुकी हूँ।

प्राणनाथ :—मैं नहीं जाता ! (व्यंग्य से हँसते हुए कमरे में घूमते हैं) मैं सैर को जाया करता था जब तुम्हारी बहन ज़िन्दा थी।

अप्पी :—(करवट बदल कर) आप अब भी जा सकते हैं, आपको अवकाश भी मिले !

प्राणनाथ :—अवकाश ! (उसी पीड़ा-मय-व्यंग्य से हँसते हुए) तुम्हारे आने के बाद शायद तुम्हें याद भी नहीं, मैंने तुम्हारे साथ सैर को जाने की कोशिश की थी। सूरज निकलने से कहीं पहले नदी के नीलाभ जल में कमल के पत्तों ऐसे पीले-पीले सुनहरी घेरे बनते मिटते चले जाते थे। इधर सूरज की पहली किरण झाँकती, उधर उस पीलाई में ललाई दौड़ जाती है। प्रातः के उस कुँवारे सौन्दर्य में, मन एक विचित्र उल्लास से अभिभूत हो उठता। ऐसा लगता, जैसे जगती ने पहली बार, न जाने

कितनी लम्बी नींद के बाद, आँखें खोली हैं और केवल हमीं दो उस जागते सौन्दर्य को देखने पहुँच गये हैं। (अप्पी की ओर मुड़ कर) लेकिन यह मेरी भूल थी। दो नहीं, उस अछूते सौन्दर्य के दर्शन करने वाला तो केवल मैं अकेला होता। तुम तो न जाने कहाँ होतीं? गुम-सुम सी बैठी न जाने अतीत का कौन सा सपना उलटा करतीं? फिर मैं सैर छोड़ कर क्यों न व्यस्त रहने का प्रयास करता।

अप्पी :—मुझे मेरे हाल पर छोड़िए। आप जाया कीजिए, दीशी और निम्मो को ले जाया कीजिए।

प्राणनाथ और अप्पी के इन सम्वादों से उन दोनों के पूर्व चरित्र और परिस्थितियों का आभास मिल जाता है। चंचल चपल अप्पी परिस्थितिवश क्या से क्या हो गई, नाटक के प्रारम्भ में ही उन परिस्थितियों का सम्वादों द्वारा उद्घाटन हो जाता है।

अश्क के नाटकों के प्रारम्भिक भाग में सम्वादों द्वारा आगे की घटनाओं और चरित्रोंके प्रति एक जिज्ञासा और कौतूहल पैदा कर दिया जाता है। 'स्वर्ग की झलक' नाटक के पहले अंक में ही समस्या को और कथा के प्रारम्भिक सूत्र को सम्वादों के माध्यम से प्रस्तुत कर दिया गया है। 'उड़ान' के पहले दृश्य में लच्छमन का यह कहना : 'साहब भाग्य के बड़े बली हैं', जिन जंगलों में ढूँढ़ने से भी हिरन नहीं मिलता, वहाँ हर बरस इनके हाथ से एक न एक शिकार हो जाता है।' पूरे नाटक की संकेतात्मक भूमिका है।

''जोंक'' में प्रारम्भ में भोलानाथ का यह कहना : ''यह फिर आ

गया आनन्द! तुम मेरी सहायता करो—भगवान के लिए।"
कौतूहल और जिज्ञासा पैदा कर देता है।

'अधिकार के रक्षक' में मि० सेठ का यह संवाद :

मि० सेठ :—हेलो !...हेलो !...हाँ, हाँ, मैं बोल रहा हूँ। घनश्याम दास। आप.. अच्छा अच्छा, रलाराम जी मन्त्री हरिजन सभा। नमस्ते नमस्ते। सुनाइए महाराज कल के जल्से की कैसी रही?...अच्छा, अच्छा! आपके भाषण के बाद हवा ही पलट गई। हरिजन मेरे पक्ष में प्रचार करने तैयार हो गये? हिं हिं...हिं हिं... ठीक ठीक! आपने खूब कहा, खूब कहा आपने! हिं हिं...हिं हिं...दर असल मैंने अपना सारा जीवन पीड़ितों, पद-दलितों और गिरे हुओं को ऊपर उठाने में लगा दिया है।......

सेठ के 'नेता जीवन' का परिचय देता है।

इसके अतिरिक्त अनुपस्थित पात्रों को भी दूसरे पात्रों के सम्वादों के माध्यम से नाटकों में प्रत्यक्ष करने का प्रयोग अश्क ने बड़ी सफलता से किया है— जैसे 'चरवाहे' में गोविन्द का, 'चिलमन' में शशि का, 'मैमूना' में साजिद का आदि, आदि...

सम्वाद कार्य-व्यापार को भी प्रेरित करते हैं। कार्य-व्यापार में ऐसे सम्वाद नयी गति प्रदान करते हैं। अश्क के नाटकों में ऐसे सम्वाद अनेक मिलते हैं, जो पात्रों के कार्य-व्यापार को और साथ ही कथा को नया मोड़ देते हैं। 'दिलीप भइया क्या यहाँ आये हैं?' अप्पी

का यह एक वाक्य ही उस के चरित्र के रहस्य को खोलने के साथ कथा में एक नया मोड़ पैदा करता है। जो सम्वाद कार्य-व्यापार को प्रेरित नहीं करते और कथा के प्रवाह में स्वाभाविक सहयोग नहीं दे पाते, वे नाटक में शिथिलता पैदा करते हैं। 'जय पराजय' में इस प्रकार के दोष-पूर्ण सम्वाद मिलते है—जैसे प्रथम अंक के प्रथम दृश्य के अनेक सम्वाद तथा द्वितीय अंक का पूरा दूसरा दृश्य। लेकिन अश्क यदि अपने उस नाटक का आधुनिक संस्करण तैयार करें तो निश्चय ही वे सब काट दें।

पात्रों के कार्य-व्यापार की स्वाभाविक स्थिति के अनुकूल सम्वाद होने पर ही सम्वादों का अभिनयात्मक प्रभाव उत्पन्न होता है। स्वगत सम्वादों की प्राचीन परम्परा में इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता था। कभी एकान्त में ही पात्र अपना राग अलापने लगता था और कभी दूसरे पात्रों की उपस्थिति में इस प्रकार से स्वगत-भाषण करता था कि जैसे अपनी बात केवल वही और दर्शक सुन रहे हैं, शेष पात्र बधिर हैं। प्रसाद के नाटकों में सम्वादों का यह दोष अधिक है। अश्क ने नाटकीय परिस्थिति के अनुसार सम्वादों को रखने की सजगता दिखाई और इसीलिए स्वगत का भी प्रयोग उन्होंने कहीं पर अस्वाभाविक ढंग से नहीं किया। जहाँ पात्र अपने अतीत या अपने वर्तमान के विषय में स्वकथन करते भी है वहाँ उसका कोई न कोई नाटकीय कारण अवश्य होता है।

दृश्य-विधान और वातावरण का चित्र खींचने के लिए भी अश्क ने सम्वादों का प्रयोग किया है। रंगमंच पर निर्देशक ऐसे दृश्यों का आयोजन करता है जो कथा की परिस्थिति और वातावरण को प्रभावित करते हैं, किन्तु पात्रों के सम्वाद जो वातावरण के प्रभाव को प्रकट

गई राधू, जाने वर्षों से इसे किसी ने चाभी नहीं दी।" पूरे नाटक के स्वाभाविक प्रभाव को संकेत से क्लाइमेक्स पर पहुँचा देता है।

अश्क के सम्वादों की सबसे बड़ी विशेषता है उनमें यथास्थान हास्य और व्यंग्य का पुट। सामाजिक यथार्थ के तीखेपन का उद्घाटन वे ऐसे ही सम्वादों से करते हैं। जैसे 'स्वर्ग की झलक' के दूसरे अंक में सहसा रघु के आ जाने पर अपनी स्थिति को छिपाने के लिए मि० अशोक कहते हैं :

> "चीख रहा हूँ ? क्या करूँ, बीस बार कहा कि भाई तुम आराम करो। समय पर एक घड़ी का आराम, बाद को एक वर्ष की मुसीबत से बचाता है। पर ये मानती ही नहीं। स्वास्थ्य इनका खराब है, रात में सोई नहीं, पर ज्योंही सुबह मैंने बताया कि तुम्हारा खाना है तो झट रसोईघर में जा बैठीं। मैं तरकारी लेने गया था, मेरे आते-आते इन्होंने खीर पका डाली। खीर पकाने में तो सीता जी बस निपुण हैं निपुण..."

उनका यह कथन दर्शकों को हँसाते हँसाते लोट-पोट तो कर सकता ही है, साथ ही श्रीमती अशोक जैसी महिलाओं पर कठोर व्यंग्य भी करता है। इस एक हास्य और व्यंग्य भरे सम्वाद से नाटक में नयी गति आ जाती है। इसी प्रकार 'जोंक', 'मैमूना', 'अंजो दीदी', 'बतसिया', तौलिये', 'छठा बेटा', 'मस्केबाजों का स्वर्ग' और 'पैंतरे' आदि अनेक नाटकों में हास्य-व्यंग्य भरे सम्वाद मिलते हैं।

सम्वादों की भाषा में कहीं कहीं उर्दू और पंजाबी के शब्दों, मुहाविरों, स्लैंग और उच्चारण का प्रभाव है, किन्तु इन सब का प्रयोग स्थिति और पात्रों के अनुकूल ही किया गया है। जहाँ पंजाबी

सामाजिक जीवन के पात्र हैं, वहाँ पंजाबी स्लैंग और मुहाविरों का प्रयोग है। 'देवताओं की छाया में' पंजाबी मुसलमान देहाती जीवन का ख़ाका है। उनकी भाषा में अश्क ने उचित ही उर्दू और पंजाबी स्लैंग और शब्दों का प्रयोग किया है।

पूर्वी उत्तर प्रदेश के पात्रों के सम्वादों की भाषा में उनकी जनपदीय बोली का प्रयोग किया गया है, जिनसे यह तो पता चल जाता है कि पात्र पूरबिया है, किन्तु बोली अवध के किस प्रदेश की है—कहीं कहीं यह अस्पष्ट ही रह गया है। पूरबी अवधी में कई स्थानीय भेद हैं। इलाहाबाद, हरदोई, बनारस, जौनपुर और कानपुर के आस पास अवधी में काफ़ी अन्तर है। अश्क के पूरबी पात्रों के सम्वादों में बोली का यह भेद स्पष्ट नहीं होता और कहीं दो तरह की क्रियाओं के मिश्रित प्रयोग हो गये हैं। लेकिन अश्क ने इतनी बारीकियों में जाना दर्शकों को ख्याल से शायद उचित नहीं समझा और आम जनता का ख्याल रखा है और पात्र पूरबिया है, इतना संकेत भर कर दिया है।

दर्शक भाषा न भी समझें, पर भंगिमा से भाव समझ सकते हैं। पाठकों के लिए ऐसा करना कठिन है, उनकी सुविधा के हेतु अश्क ने कठिन शब्दों के अथवा स्लैंग या मुहाविरों के अर्थ फ़ुट नोट में दे दिये हैं।

संक्षेप में अश्क के सम्वाद चुटीले, टकसाली, प्रवाह या मुहाविरेदार, पात्र तथा समय के अनुकूल और चरित्र-चित्रण को स्वाभाविक बनाने और नाटक की गति को बढ़ाने में सहायक होते हैं। कहीं उनकी प्रतीकात्मकता और कहीं उनका हास्य-व्यंग्य मन मोह लेता है। एक विद्वान आलोचक ने ठीक ही कहा है।

"अश्क के नाटक बोलियों का अजायबघर हैं। भाषा

पर इस विलक्षण अधिकार ने अश्क की प्रहसन शैली को चार चाँद लगा दिये हैं। नाटककार अश्क के हाथ में सम्वाद ऐसे औज़ार हैं, जिनसे वे न केवल पात्रों को इच्छानुकूल गढ़ते हैं, वरन् नाटक की इमारत को बड़ी सफ़ाई से उठाते और शिखर तक पहुँचाते हैं।"

अश्क के नाटकों में चरित्र-चित्रण

साहित्य चाहे जीवन की आलोचना हो, चाहे जीवन का प्रतिबिम्ब या जीवन के रहस्यों को उद्घाटन करनेवाला, उसकी सजीवता मानव-जीवन के वैविध्य से अनिवार्य-रूपेण सम्बन्धित रहती है। इसीलिए सूत्ररूप में कहा जाता है कि साहित्य का उद्देश्य मनुष्य है। साहित्य के विविध रूपों—उपन्यास, कहानी, कविता या नाटक—में जीवन का प्रतिबिम्ब या उसके रहस्यों का उद्घाटन विविध मानव-व्यक्तित्वों के चित्रण द्वारा होता है। अन्तर्द्वन्द्व और कार्य-व्यापार, रूढ़ियाँ और अन्तरविरोध, वर्गीय रूप और जातीय संस्कार, सामाजिक चेतना और वैयक्तिक अहं-भाव, नीति-अनीति का संघर्ष और परिस्थिति-जन्य अवसरवादिता, प्रकृत जीवन और उसमें सामाजिक यथार्थ का अन्वेषण—ये सब अनेक रूप रूपाय व्यक्तित्वों के विविध

रसायनिक द्रव्य हैं, जिनके सन्तुलित मिश्रण और कलात्मक [illegible] से साहित्य के सजीव व्यक्तित्व की सृष्टि होती है। साहित्य-व्यक्तित्व की रचना मानव-जीवन के अनेक व्यक्तित्वों का समुच्चय ही है। आज साहित्य में व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा—चाहे वह सामाजिक हो या एकांगी वैयक्तिक—का साधन चरित्र-चित्रण है। इसीलिए नाटक या उपन्यास के उद्दिष्ट प्रभाव की प्राप्ति (नाट्यशास्त्र की दृष्टि में रस-निष्पत्ति या फलागम) के लिए चरित्र-चित्रण जहाँ एक साधन है, वहाँ सजीवता और स्वाभाविकता की प्राप्ति के लिए अपने में एक साध्य भी है।

चरित्र-चित्रण साधन इस अर्थ में है कि वह नायक के विकास, उसके आधार-भूत-विचार के व्यक्तिकरण, उसके उद्दिष्ट प्रभाव की उत्पत्ति और उसे 'क्लाइमेक्स' तक पहुँचाने का एक सहायक तत्व बन कर प्रयुक्त होता है और साध्य इस अर्थ में है कि वह नाटक में सजीवता और स्वाभाविकता लाने का एकमात्र माध्यम है। क्योंकि चरित्र के बिना केवल वातावरण या घटना के [illegible]-चातुर्य से जीवन के व्यापक रूप को रंगस्थल पर प्रकट नहीं किया जा सकता, जीवन के विविध रूपों के अनुकरण—अभिनय की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती और इस प्रकार जीवन के जिस स्वाभाविक चित्रण द्वारा नाटक का जो तादात्म्य सहृदय सामाजिक के साथ स्थापित होता है या रस का साधारणीकरण होता है, वह नहीं हो सकता।

नाट्य-रचना के विकास में चरित्र-चित्रण का माहत्व इस युग के नाटकों की विशेषता है। अधिकांश देशों के प्रारम्भिक नाटकों में एक सुनिश्चित नियम के अनुसार एक विशेष वर्ग के पात्रों को उपस्थिति

करना ही चरित्र–चित्रण का यान्त्रिक रूप था, इसलिए उस समय के नाटकों में लगभग एक से ही नायक, प्रतिनायक मिलते हैं और उनके गुण-कर्म भी लगभग मिलते-जुलते हैं। साधारणतया देखा गया है कि ऐसे नाट्य-शास्त्रीय नाटकों में एक प्रधान नायक के गुण-कर्म-प्रदर्शन पर ही नाटक में ज़ोर दिया जाता था और दूसरे पात्र उसके सहायक-मात्र होते थे। रस-निष्पत्ति भी इसी क्रम से सम्भव थी, क्योंकि एक विशेष रस का आश्रय एक प्रधान पात्र हो सकता था, शेष सब उसके आलम्बन और उद्दीपन। इस यान्त्रिक ढंग का परिणाम यह हुआ कि प्रारम्भ के नाटक एक विशेष वर्ग यानी सामन्ती उच्च वर्ग के जीवन के कृत्रिम चित्रण का साधन-मात्र बन कर रह गये।

किन्तु धीरे धीरे कला के इन सामन्ती और धार्मिक नियमों से नाटक को मुक्ति प्राप्त हुई। ज्यों ज्यों समाज का द्वान्द्वात्मक विकास होता गया और वर्ग-समाज पर से सामान्ती उच्चता की छाप मिटती गई, त्यों त्यों कला के संस्कारों और कलाकार की चेतना तथा दृष्टि-कोण में भी परिवर्तन होते गये। पूँजीवादी युग में नाटकों का आधार एक राष्ट्रीय चेतना बन गई है, जिसने नाटकों में जीवन-वैविध्य और व्यक्ति-वैचित्र्य को स्थान दिया। उसके बाद वर्ग-समाज के अन्तर्विरोध और वर्गरूप ज्यों ज्यों स्पष्ट होते गये, त्यों त्यों नाटककार का दृष्टि-कोण भी समाजिक याथार्थ की ओर अग्रसर होता गया। उसने अब अपने नाटकों में बिना किसी पूर्वाग्रह के समाज के सही रूप का चित्र खींचने के लिए जीवन के ऊँचे-नीचे, शोषक-शोषित- सभी वर्गों से पात्रों का चुनाव और उनका चरित्र-चित्रण करना शुरू कर दिया है।

प्रसाद युग के तथा प्रसादोत्तरकाल के प्रथम चरण के प्रायः

अधिकांश नाटक राष्ट्रीय तथा नैतिक भावना के आधार पर पौराणिक और ऐतिहासिक लिखे गये। उनके पात्र सामन्ती जीवन से सम्बन्धित हैं। उनका चरित्र चित्रण भी नाट्यशास्त्र के सामन्ती नियमों की रीति-परम्परा के बहुत कुछ अनुकूल है, यद्यपि उनमें आधुनिकता के नवीन-चरण-चिन्हों की छाप भी अंकित है। ऐतिहासिक-सामन्ती और पौराणिक-धार्मिक चरित्रों में तत्कालीन वर्तमान की, राष्ट्रीय जागरण की चेतना-छाया को दिखाने की कोशिश की गई, इसलिए उनके विचारतत्व का कुछ अंश आधुनिक है और चरित्र के संस्कार—शिल्पगत और वस्तुगत—दोनों ही सामन्ती, आदर्शवादी या प्राचीन नाट्यशास्त्रीय हैं।

इस श्रेणी में 'अश्क' का पहला नाटक 'जय पराजय' आता है, जो मध्ययुगीन भारतीय राजपूत-जीवन से सम्बन्धित है, चरित्र-चित्रण के रूप में इसमें सामन्ती व्यक्तित्व के विविध रूप उपस्थित किये गये हैं। इस नाटक के प्रधान पात्र या नायक चण्ड का चरित्र अतिरंजित रूप से आदर्शवादी है। नाटक के दूसरे अंक में जब मंडोवर का पुरोहित युवराज चण्ड के लिए नारियल लाता है और लक्ष्मणसिंह केवल मज़ाक में (मूंछों पर ताव देते हुए, मुस्करा कर कहता है, 'युवराज के लिए होगा, हम बूढ़ों के लिए नारियल कौन लायेगा।' अपने पिता के इतना कहने मात्र से मंडोवर की राजकुमारी हंसा को चण्ड अपनी माता मान लेता है। एक मज़ाक को इतनी गम्भीरता देकर चण्ड का भीष्म-प्रतिज्ञा सी करना प्रारम्भ में बड़ा अविवेकपूर्ण और तर्क-असंगत लगता है और यह स्थापना आवश्यकता से अधिक अस्वाभाविक और आदर्शवादी लगती है। क्योंकि यह घटना नाटक के वस्तु-विन्यास का मूलाधार बनाई गई है, इसलिए उसका इस रूप में उपस्थित होना शुरू में और भी

अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है, किन्तु अन्त तक पहुँचते-पहुँचते चण्ड के चरित्र में इस चिन्तनहीन-रूढ़-नैतिक-आदर्शवादिता का विकास होता है और वह चण्ड के सामन्ती व्यक्तित्व को साकार कर देता है, साथ ही स्वाभाविक सा भी प्रतीत होने लगता है। चण्ड के चरित्र में उस समय के सामन्ती व्यक्तित्व और राजपूती जीवन के सभी गुण दोष मौजूद हैं—जहाँ वह सनकी और अदूरदर्शी है, वहाँ वह वीर और अपने वचन पर दृढ़ रहने वाला भी है; उसमें यदि कट्टरता और अहं की जड़ता है तो उसके लिए त्याग का भाव भी है; उसमें कर्तव्य की कठोरता अधिक है और भावना की कोमलता कम और बौद्धिक तर्कशीलता का तो एकदम अभाव सा है। और ये सब बातें राजपूती सामन्ती चरित्र की विशेषताएँ हैं, जो उसे एक टाइप बनाती हैं। वैषम्य द्वारा चरित्रों को उभारने का इस नाटक में प्रयत्न किया गया है। लक्ष्मणसिंह, राघव और चण्ड में इस वैषम्य के प्रयोग की पुनरावृत्ति की गई है। हंसा के चरित्र में आदर्शवादी स्थूल नैतिकता का आरोपण नहीं है, पूरे नाटक में उसका चरित्र ही अधिक यथार्थ है। वह पहले चण्ड को अपने मन में पति के रूप में प्रेमभाव से देख चुकी थी, किन्तु चण्ड की प्रतिज्ञा और राजपूती कुलाभिमान के कारण उसे उसकी विमाता बनना पड़ा। हंसा बाई के चरित्र का यह पहलू भारतीय नारी की बेबसी की ओर बड़ा करुण संकेत करता है। उसके मन में पूर्वानुराग की चिंगारी सुलगती रहती है और जब वह उसकी विमाता के रूप में उसके सामने पड़ती है, तब भी उसका दिल धड़कता है और रंग पीला पड़ जाता है। वह चण्ड से कहती है, "माँ नहीं, युवराज, मुझे माँ न कहो!" इस कथन में उसके जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति होती है, किन्तु चण्ड कर्त्तव्य-भावना से उसकी उपेक्षा करता है, जिससे हंसा के

चोट लगती है और अन्त तक उसके जीवन में यह चोट विकृत अहं, प्रतिशोध और प्रतिक्रिया के रूप में बनी रहती है।

भारमली का चरित्र लेखक की कल्पना सृष्टि है, किन्तु उसमें नारी के प्रेम की यथार्थता साकार हो उठी है। प्रो० नगेन्द्र ने उसके सम्बन्ध लिखा है :

> "...और भारमली! वह तो देव सेना और मालविका के गौरव की अधिकारिणी है। भारमली इस युग की अमर सृष्टि है।"

पर उसका देवसेना और मालविका के गौरव की अधिकारिणी होना उसके चरित्र-चित्रण को भी शास्त्रीय बना देता है। इस प्रकार 'जय-पराजय' में सामन्ती जीवन के विभिन्न-रूप-व्यक्तित्वों का चित्रण है, जैसे एक गीली मिट्टी की अनेक मूर्तियाँ, जिनकी मुद्राएँ, आकार रूप और शृङ्गार भिन्न हों, किन्तु जिनका आधार एक हो।

प्रसादोत्तरकाल के हिन्दी नाटक यद्यपि देश-विदेश की नवीन नाट्य-रचना-शैली से प्रभावित हुए थे, फिर भी उनमें अधिकतर समाज के सम्पन्न उच्च वर्ग के पात्रों के चरित्र ही उपस्थित किये गये हैं, क्योंकि इस काल में भी प्रारम्भ के नाटकों की कथावस्तु का निर्वाचन ज्यादातर इतिहास में प्राप्त उच्च वर्गीय पात्रों के जीवन से ही किया गया है। उच्च वर्ग के चरित्रों को उपस्थित करने की प्रवृत्ति संसार के लगभग सभी देशों के प्रारम्भिक सफल नाटकों में मिलती है। अश्क ने नाटकों की इस परम्परा की रूढ़ि से अपने को शीघ्र ही मुक्त कर लिया। उन्होंने केवल 'जय-पराजय' में सामन्ती-व्यक्तित्वों का चरित्र-चित्रण किया और फिर वर्तमान मध्यवर्गीय और साधारण-जीवन से चरित्रों को उपस्थित करना शुरू कर दिया। आदर्शवादी अतीतोन्मुखता

से यथार्थवादी वर्तमानोन्मुखता की ओर बढ़ने की सजग प्रवृत्ति अश्क में प्रारम्भ से ही थी। नाटक का मुख्यतः सम्बन्ध भी वर्तमान से ही है। उसमें उपस्थित किया जाने वाला इतिहास और अतीत भी वर्तमान का ही शरीर धारण करके प्रस्तुत होता है। अश्क की यथार्थवादी वर्तमानोन्मुखता के सफल परिणाम उनके सामाजिक नाटक हैं, जिनमें आज के सामाजिक जीवन के विभिन्न व्यक्तित्वों का चरित्रांकन हुआ है। अश्क ने 'स्वर्ग की झलक' की भूमिका में अपनी इस यथार्थवादी वर्तमानोन्मुखता को इस प्रकार प्रकार स्पष्ट किया है :

> "मेरे अपने विचार में आज हमें सामाजिक नाटकों की अधिक आवश्यकता है। ऐतिहासिक नाटकों का प्रचार सब देशों में प्रायः उस समय होता रहा, जब उनकी सामाजिक समस्याएँ इतनी विषम न थीं, या उन समस्याओं को समझने तथा उनका मनन करने की प्रवृत्ति उनमें नहीं थी, या उनकी सामाजिक स्थिति इतनी दुखद थी कि उससे भाग कर वे अपने उज्ज्वल-अतीत में कुछ क्षण के लिए जा बसना, उसके सुख-वैभव में अपने आप को विस्मृत कर देना ही श्रेयस्कर समझते थे। भारत में पिछला युग प्रायः ऐतिहासिक नाटकों का युग रहा है और उसका मूल कारण यही वर्तमान से भाग कर अतीत में जा बसने की प्रवृत्ति है।"

इसलिए अश्क ने 'जय पराजय' को छोड़ कर बाकी सभी नाटक वर्तमान समाज की विभिन्न समस्याओं को लेकर लिखे हैं और उनमें आज के जीवन के विविध चरित्रों के अंकन के साथ साथ संश्लिष्ट रूप से समस्याओं की विविधता को विषय-वस्तु में उपस्थित किया है। यूरोपीय नाटककारों में बेलजियम का मॉरिस मेतरलिंक भी ऐसा ही कलाकार

था, जिसने अतीतोन्मुख आदर्शवादिता से नाटकों को मुक्त करने की आवाज़ उठाई थी। उसने उच्च वर्गों के चरित्रों को दुखान्त नाटकों का एक-मात्र आधार मानने की रूढ़ि का विरोध किया था। यह स्वाभाविक भी है। अतीत-कालीन और उच्चवर्गीय पात्रों से नाटककार का सम्बन्ध निकट का नहीं हो सकता। उनके प्रति उसकी आन्तरिक सहानुभूति नहीं हो सकती और इस प्रकार ऐनिहासिक रिश्ते और मनोवैज्ञानिक दूरी के कारण नाटककार अतीत के पात्रों के चरित्रांकन को इतना यथार्थ और स्वाभाविक नहीं बना सकता, जितना प्रत्यक्ष जीवन में आने वाले व्यक्तित्वों के विविध सजीव नमूनों को। और यह भी सहज है कि जिस सामाजिक वातावरण में कलाकार जीता है उस वातावरण के चरित्रों की विशेषताओं का उसे अधिक अनुभव होता है, वह अपने अनुभव की सीमा में पलने वाले चरित्रों को अपनी रचनाओं में अधिक सजीव बनाता है। ऐतिहासिक नाटकों के उच्चवर्गीय चरित्रों से हम अपना सम्बन्ध कल्पना एवं अनुमान से जोड़ते हैं, किन्तु उनमें हमें अपना प्रत्यक्ष जीवन नहीं दिखाई देता और इसलिए हम उनके निकट नहीं हो पाते। उनकी दूरी को हम ऐतिहासिक रस के द्वारा निकट करने की कोशिश करते हैं। किन्तु वर्तमान की समस्याओं से सम्बन्धित सामाजिक नाटकों के चरित्रों में हमें अपना जीवन झाँकता हुआ दिखाई देता है। वे निकट होने के कारण अधिक स्वाभाविक और सहज होते हैं और इसीलिए यथार्थ भी। उनमें हमारी समस्याएँ प्रश्न बन कर खड़ी होती हैं और समाधान की हमारी खोज उनके प्रति हमारी उत्सुकता को और तीव्र कर देती है। यह औत्सुक्य और उसकी तृप्ति ही नाटक से सामाजिक का तादात्म्य स्थापित करते हैं।

अश्क के नाटकों में चरित्र-चित्रण

साहित्य में प्रत्यक्ष जीवन के यथार्थ चरित्रों की सृष्टि करना कला-साधना का कठिन पहलू है। जो कलाकार इसमें जितना सिद्ध होगा उसकी कला भी उतनी सिद्धि-प्राप्त होगी। यदि चरित्रांकन प्रकृत हो तो इतनी कठिनाई न हो, किन्तु यथार्थ चरित्रांकन समाज की जागरूक समस्याओं से संश्लिष्ट सम्बन्ध रखता है। प्रतिनिधि चरित्रों को समस्याओं से अलग रख कर यथातथ्य रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता। चरित्र में समस्याओं का सहज परिपाक और समस्याओं की पृष्ठभूमि में चरित्र का सहज अंकन यथार्थ चरित्र-चित्रण की सब से बड़ी समस्या है। चरित्र के वर्ग रूपों का यथार्थ अंकन आज के नाटकों में चरित्र-चित्रण की सफलता की कसौटी है। वर्गयुक्त समाज के अन्तर्विरोधों और विषम समस्याओं के सतही सम्बन्धों में छिपे वर्ग-भेद का उद्‌घाटन यथार्थ चरित्रांकन से ही होता है। जो लेखक अपने नाटक के पात्रों के चरित्रों में समस्याओं के अन्तर्निहित वर्ग-भेद का जितना सफल उद्‌-घाटन करता है, वह उतना ही यथार्थ चरित्रांकन करता है। इस दृष्टि से अश्क के नाटक अधिक यथार्थवादी हैं।

अश्क ने समाज की विभिन्न समस्याओं का उद्‌घाटन चरित्रों के सहज विकास-क्रम के माध्यम से किया है। समस्याओं को न तो पात्रों पर आरोपित किया गया है और न पात्रों को नाटक की विचार-वस्तु का यन्त्र बनाया गया है, बल्कि विचार-वस्तु और पात्र एक दूसरे से स्वाभाविक रूप से संश्लिष्ट हैं। जागरूक लेखक के सामने सब से पहले समाज की समस्याएँ आती हैं, उनसे वह एक विचार-सूत्र निकालता है और उस विचार-सूत्र को उसे साथ ले चलने की अनुकूलता रखने वाले पात्रों के हाथों में सौंप देता है और फिर विचार-वस्तु का विकास और उद्‌घाटन इन पात्रों के चरित्र-विकास में ही होता है।

यह क्रम साहित्य के सभी रूपों में अपनाया गया है। नाटक में विचार-वस्तु कहीं से, घटना कहीं से और पात्र कहीं से चुनने पड़ते हैं, नाटककार उनको समन्वय और तारतम्य से बैठा कर सामाजिक जीवन के यथार्थ को नाटक में प्रस्तुत करता है। जो लेखक इन मूल तत्वों में संतुलन और समन्वय स्थापित करने में अपने शिल्प का जितना कम प्रयोग करता है, उतना अधिक वह असफल रहता है। चरित्र का यथारूप (फ़ोटोग्राफ़िक) चित्रण प्रकृतवादी और सतही होता है, क्योंकि उसको समस्याओं और विचारवस्तु की पृष्ठभूमि में नहीं चित्रित किया जाता और उसमें वर्ग-चेतना और वर्ग-भेद का उद्‌घाटन नहीं किया जाता। इसके विपरीत यथार्थ चरित्रांकन में सामाजिक समस्याओं का उद्‌घाटन होता चलता है। इसमें पात्र समाज के प्रतिनिधि बन कर आते हैं और चरित्र-टाइप बन कर उभरते हैं। वे एकांगी नहीं, सामाजिक जीवन की विविधता के प्रतीक होते हैं। वे समाज के एक अंग के रूप में मुखर होते हैं और उनका व्यक्तित्व असामाजिक नहीं होता।

चरित्रांकन की सफलता लेखक के विविध जीवनानुभव पर अवलम्बित है। जीवन के विविध कार्य-व्यापारों की प्रत्यक्ष और निकट अनुभूति पात्रों के कार्य-व्यापारों को सजीवता और यथार्थता प्रदान करती है। अश्क को मध्यवर्गीय जीवन के विविध रूपों का निकट-अनुभव है। उन्होंने 'आदि मार्ग' की भूमिका के अन्तर्गत लिखा है :

"मैंने जीवन की विभिन्नता का आभास पाया है और थोड़ा-बहुत अनुभव भी प्राप्त किया है। समाचार-पत्र के एक

> साधारण रिपोर्टर के रूप में जीवन-संघर्ष आरम्भ करके मैंने अध्यापक, अनुवादक, सम्पादक, वक्ता, विज्ञापन-विशेषज्ञ, सेल्ज़ एजेंट, वकील, रेडियो-आर्टिस्ट अभिनेता, सिनारिस्ट की हैसियत से भाँति-भाँति के अनुभव प्राप्त किये हैं, भाँति-भाँति के लोगों से मिला हूँ और असंख्य सुखद अथवा दुखद घटनाएँ मेरे मस्तिष्क में सुरक्षित पड़ी हैं।"

इस व्यापक जीवनानुभव से ही अश्क ने अपने नाटकों में यथार्थ चरित्रों की सृष्टि की है। एक सजग कलाकार की तरह वे भी पहले विचार-वस्तु को अपने सामने रखते हैं, फिर उसके अनुकूल पात्र को समाज से चुन कर—दोनों का एकीकरण करते हैं। अश्क ने 'आदि मार्ग' की भूमिका में लिखा है :—

> "कोई भी पात्र, चाहे वह कितना भी मनोरंजक क्यों न हो, शायद ही अपने यथार्थ रूप में नाटक का अंग बनता है। आधारभूत विचार की आवश्यकता के अनुसार उस पर रंग चढ़ जाता है।"

यहाँ पर शायद अश्क जी ने 'यथार्थ रूप' का प्रयोग प्रकृत के अर्थ में ही किया है, क्योंकि आधारभूत विचार भी लेखक की सामाजिक अनुभूति का सार है और पात्र भी उसी सामाजिक जीवन का अंग, जो आधारभूत विचार का प्रेरक होता है और दोनों मिल कर ही साहित्य के चित्रांकन को यथार्थ बनाते हैं एवं उसमें सजीवता पैदा करते हैं। इसलिए जीवन की समस्याओं और विचारों की तीव्रता का उद्घाटन यदि नाटक में चरित्रों के माध्यम से नहीं होता तो उसके स्वाभाविक शिल्पविकास में तो शिथिलता आती ही है, साथ ही चरित्रांकन में यथार्थता नहीं पैदा होती। चरित्रांकन की यथार्थता समस्याओं और

समस्याओं से उत्पन्न आधारभूत विचारों से घनिष्ट सम्बंध रखती है। विचार और समस्याओं का उद्घाटन जिस चरित्रांकन में नहीं होता, वह निर्जीव, निरर्थक और प्रकृत होता है, सामाजिक जीवन का प्रतिनिधि और यथार्थ नहीं ! क्योंकि विचार और समस्या का स्रोत जीवन है और साहित्य में जीवन का एक-मात्र प्रतीक होता है पात्र—अर्थात् मानव-व्यक्तित्व। आधारभूत विचार लेखक के दृष्टिकोण का परिचायक होता है। उसमें उसके चिन्तन का सार भी निहित रहता है, किन्तु उसे साहित्य में सजीवता प्रदान करने के लिए वह जीवनानुभव में आये व्यक्तित्वों को चरित्र बनाता है। इस क्रम में ही वह अपने शिल्प-चातुर्य का चमत्कार दिखाता है। अश्क इस कला में दक्ष हैं। उन्होंने लिखा है :—

> "कई बार आधारभूत विचार कहीं से मिलता है और पात्र कहीं से और दोनों एक दूसरे में समा जाते हैं" *

फिर भी दोनों का स्रोत एक ही है—और वह है जीवन। इसीलिए दोनों के एक दूसरे में समा जाने से साहित्य में सजीवता पैदा होती है, साहित्य सृष्टि के लिए वे एक दूसरे के पूरक हैं और एक-दूसरे का समन्वय करने में ही लेखक का शिल्प-चातुय है। साहित्य में चरित्र-सृष्टि के इस क्रम में, जीवन में अनुभूत पात्रों के प्रकृत रूप बदल जाते हैं। अश्क ने इस बात को इस रूप में स्पष्ट किया है :—

> "कई बार किसी पात्र के कृत्य का कारण ढूंढने और पाने के प्रयास में उसका प्रकट रूप ही बदल जाता है और वह अपने आन्तरिक रूप में अथवा उस रूप में कि जिसमें मैं उसे देखता हूँ, नाटक का अंग बन जाता है।"

---

* मैं नाटक कैसे लिखता हूँ।

इस प्रकृत जीवन से ग्रहण किये गये पात्र लेखक की यथार्थवादी सूक्ष्म दृष्टि के संस्पर्श से साहित्य में आकर अपने पूर्ण यथार्थ रूप में प्रकट होते हैं। इस क्रम में लेखक पात्र को पूर्ण यथार्थता प्रदान करने के लिए जीवन के अनेक क्षेत्रों से सामाजिक यथार्थ की बातों को चुन कर अपने शिल्प-चातुर्य्य से उसमें उनका समावेश करता है और टूटे फूटे अनगढ़, प्रकृत चरित्रों को यथार्थ और सम्पूर्ण बनाने का प्रयत्न करता है। चरित्रों की यह यथार्थ सम्पूर्णता ही नाना प्रकार के सामाजिकों के विविध मानस-पटलों पर अपने प्रभाव की एक सी रेखाएँ खींचती है।

अश्क के नाटकों में इस प्रकार की यथार्थवादी कलात्मक चरित्र-सृष्टि के उदाहरण भरे पड़े हैं।

'आदि मार्ग' संग्रह के 'भँवर' नामक नाटक में प्रतिभा का चरित्र कई विभिन्न चरित्रों के समावेश से लेखक द्वारा निर्मित एक चरित्र है। उसने अभिजात्य वर्ग में पलने वाली बौद्धिक नारियों के गुण.दोषों की यथार्थ अभिव्यक्ति इस एक चरित्र में की है। यद्यपि नाटक में प्रतिभा का चरित्र जैसा बन पड़ा है, बिलकुल वैसा ही वह जीवन के प्रकृत क्षेत्र में लेखक के अनुभव में नहीं आया था और उसने अभिजात्य-वर्ग की तीन लडकियों को देखकर और उनमें अनेक बातों में समानता पाकर उन तीनों की चारित्रिक विशेषताओं के सार-मिश्रण से नाटक में एक नये चरित्र का निर्माण किया तो भी यह चरित्र सामाजिक जीवन का यथार्थ रूप उपस्थित करने वाला एक टाइप बन गया और लगता है कि वह वास्तव जीवन की ही एक सृष्टि है। यह इसीलिए कि चाहे

इस नाटक की प्रतिभा समाज में जैसी की नैसी न मिले, किन्तु अभिजात्य वर्ग की प्रबल बुद्धिवादी अतृप्त-काम नारियों के वे गुण-दोष जो उसमें उभर कर सामने आये हैं, जीवन में अवश्य बिखरे हुए मिलते हैं।

इसी प्रकार छठा बेटा' नाटक में पं० वसन्तलाल का चरित्र एक मां अथवा बाप की अतृप्त आकांक्षा का प्रतीक है। किन्तु प्रत्यक्ष जीवन में इस नाटक की प्रेरणा लेखक को जिस घटना से प्राप्त हुई, वह उसी रूप में उस अतृप्त आकांक्षा को नाटक में उद्घाटित न कर सकती थी। इसलिए लेखक ने प्रेरणा तो उस धारना से ली और पुत्र के प्रति माँ की कभी न तृप्त होने वाली अनन्त आशा के आधार-भून विचार को रूप देने के लिए पात्र का चुनाव कहीं दूसरी जगह से किया। और इस एकीकरण में आधार-भूत-विचार और जीवनानुभव में आई हुई प्रत्यक्ष घटना अधिक साकार और सजीव होकर अपने यथार्थ रूप में पं० वसन्तलाल के चरित्र-माध्यम से कलात्मक परिणति को प्राप्त हुई।

अश्क ने अपने विचार-वस्तु के प्रतीक पात्रों की भी रचना की है। वे पात्र जीवन की यथार्थता से उतना सम्बन्ध नहीं रखते, जितना मूल प्रवृत्तियों से। उदाहरणतः उनके नाटक 'उड़ान' में शंकर, रमेश और मदन तीन प्रतीक पात्र हैं और माया आधुनिक नारी का प्रतीक है (अथवा कहा जाय कि उस आधुनिक नारी का प्रतीक है, जैसी कि अश्क चाहते हैं कि वह हो) चरित्र की दृष्टि से इसमें पात्रों का व्यक्तित्व प्रवृत्तियों का प्रतिपादन बन जाता है। अश्क अपने पात्रों के चरित्रांकन में केवल प्रधान पात्रों को ही उभारने का प्रयत्न नहीं करते, बल्कि सहायक पात्रों और गौण पात्रों को भी अपने कलात्मक संस्पर्श से उभार कर प्रस्तुत करते हैं। जब नाटककार नाटक के गौण पात्रों के प्रति अपनी कम सहानुभूति दिखा पाता है और उन्हें केवल

बड़े पात्र के सहायक-मात्र बना देना चाहता है तो छोटे पात्र भरती के मालूम पड़ने लगते हैं और उनके चारत्र को खूबियाँ उभर कर सामने नहीं आतीं। किन्तु अश्क प्रधान पात्रों का जितनी सजगता से ध्यान रखते हैं, उतनी हा सजगता से गौण पात्रों का भी! जैसे 'कैद' में प्राण-नाथ का चरित्र! 'कैद' नायका-प्रधान नाटक है और उसकी प्रधान पात्र है प्राणनाथ की पत्नी—अपराजिता। अपराजिता का पूर्व प्रेमी दिलीप एक कवि है। अपराजिता के मन की घुटन और दिलीप के साथ विवाह न हाने के बावजूद भी उसके प्रति वर्तमान उसके प्रेम की बेचैनी उसके कार्य-व्यापारों और सम्वादों में साकार हो उठती है। किन्तु अश्क ने प्रधान पात्र के रूप में केवल अप्पी के चरित्रांकन को ही यथार्थता प्रदान करने की कोशिश नहीं की, वरन् प्राणनाथ के चरित्र को भी पूरी सहानुभूति से उभारा है। वह केवल साधन पति नहीं, बल्कि एक सहृदय प्रौढ़ व्यक्तित्व है। जब अप्पी का प्रेमी दिलीप उसके घर आता है तो वह उसे एकान्त में अप्पी से मिलने का अवसर देता है और लगता है कि जैसे वह अन्दर ही अन्दर महसूस करता है कि उसने अपनी दिवंगत पत्नी की छ्'टी बहन से शादी करके बडा भारी अपराध किया है। अप्पी के प्रति पश्चात्ताप की भावना से पूर्ण उसकी सहानुभूति उसके चरित्र को बड़ा महत्व प्रदान कर देती है और वह गौण पात्र होते हुए भी उस नाटक का एक महत्वपूर्ण अंग मालूम होता है। अश्क ने बहुत ही कम समय के लिए नाटक में आने वाले पात्रों की चारित्रिक खूबियों को सम्वादों या संकेतों से उभारा है। तात्पर्य यह है कि कोई भी पात्र जो उनके नाटक के ढाँचे और परिस्थितियों की अनुकूलता में फ़िट होता है, उसका कार्य व्यापार चाहे कितना सीमित ही क्यों न हो, फिर भी उसे यथार्थ रूप देने का अश्क ने अथक

सफल प्रयास किया है। जैसे उनके सफल प्रहसन 'जोंक' में एक पंजाबी, एक हिन्दुस्तानी और एक मारवाड़ी पड़ौसी कुछ क्षण के लिए ही नाटक में उपस्थित होते हैं, किन्तु उनकी एक दो बातों से ही उनकी चारित्रिक विशेषताओं को लेखक ने निखार कर सामने रख दिया है। इसी प्रकार 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' में चुन्नीलाल, पीड़ित जी, और रामकिशुन; 'बतसिया' नाटक में कोनी, जॉन, ल्यूक्स, एडविन और 'मस्केबाज़ों का स्वर्ग' में अनेक छोटे गौण पात्र।

सम्वादों द्वारा अनुपस्थित पात्र के चरित्रांकन का प्रयोग भी अश्क ने बड़ी सफलता से किया है। वैसे पुराने नाटकों में भी अनुपस्थित पात्र या रंगमंच पर अनुपस्थित रहने वाले पात्र होते थे और आगामी घटना का परिचय अन्य पात्रों के सम्वादों द्वारा दिया जाता था और इस कार्य के लिए प्राचीन-नाट्य शास्त्र में अंकों के अतिरिक्त विष्कम्भक की भी योजना की गई थी, किन्तु इस पुराने तरीके और अश्क के इस नये प्रयोग में पर्याप्त अन्तर है। अश्क ने अनुपस्थित पात्रों को अन्य पात्रों के सम्वादों द्वारा केवल परिचित कराने की ही कोशिश नहीं की है, वरन् उन्हें साकारता प्रदान करने की भी कोशिश की है। इसका सब से सफल उदाहरण 'चरवाहे' और 'चिलमन' एकांकी हैं।

'चरवाहे' में नाटक को प्रधान पात्र रत्नी को प्रेरणा देने वाला, चरवाहे गोविन्द का स्वच्छन्द और उद्दाम यौवन से पूर्ण चरित्र रंगमंच पर सामने नहीं आता, किन्तु चरवाहों का एक गीत और दूसरे पात्रों का द्वन्द्व, चरवाहों के जीवन और उसके प्रतीक पात्र गोविन्द को, अनुपस्थित होते हुए भी, साकार कर देता है। इसी प्रकार 'चिलमन'

में शशि भी रंगमंच पर नहीं आती, किन्तु उसका चरित्र भी वैसा ही साकार रूप में निखरा है। और वह अपनी अनुपस्थिति में भी नाटक में महत्व प्राप्त कर लेती है। अमूर्त पात्रों को सम्वादों और संकेतों से मूर्त रूप में चरित्रांकित करने की यह विशेषता अश्क की अपनी नितान्त मौलिक विशिष्टता है।

चरित्रांकन की इन विशेषताओं और चरित्र-सृष्टि के इन प्रयोगों के बावजूद अश्क चरित्र का विकास इस स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत करते हैं कि वह हमें जाना पहचाना और परिचित सा प्रतीत होता है। उसके गुण और दोष हमें अपने गुण और दोष से प्रतीत होते हैं। अश्क के पात्र हमारे जीवन का दर्पण बन कर प्रस्तुत होते हैं और उनमें हमें अपनी ज़िन्दगी की तस्वीरें दिखाई पड़ती हैं। अश्क चरित्रांकन को स्वाभाविक बनाये रखने के लिए पात्रानुकूल भाषा और बातचीत का काफ़ी ख्याल रखते हैं। वे पात्र के स्तर के अनुकूल ही उसके सम्वाद की रचना करते हैं। इसलिए उसके सम्वाद विचार-वस्तु के केवल यान्त्रिक वाहन नहीं बनते, बल्कि पात्र की स्वाभाविक वाणी और विचार बन कर उसके चरित्र पर प्रकाश डालते हैं और विचार-वस्तु को भी गति प्रदान करते हैं। सम्वादों द्वारा चरित्र के गुण-दोषों का संकेत उन्होंने बड़ी चातुरी से किया है।

अश्क के नाटक की परिस्थितियाँ चरित्र-विकास में अनुकूलता प्रदान करती हैं। वे पात्रों के कार्य-व्यापार का अनिवार्य परिणाम बन कर स्वाभाविक रूप से नयी परिस्थितियों को जन्म देती हैं और साथ ही साथ चरित्र को भी यथार्थता प्रदान करती चलती हैं। अश्क पात्रों के मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व को उनके कार्य-व्यापार और अन्य संकेतों से सरल और स्पष्ट ढंग से व्यक्त करते हैं।

अश्क ने वर्तमान मध्यवर्गीय जीवन के विविध व्यक्तित्वों का चरित्रांकन अपने सामाजिक नाटकों में किया है। डाक्टर, पत्रकार, कवि, क्लर्क, अभिनेता, आदि विविध पुरुष-चरित्र उनके नाटकों में यथार्थ रूप से उतरे हैं। जहाँ अश्क ने पारिवारिक समस्याओं से सम्बन्धित विविध पुरुष-पात्रों को पिता, पुत्र, पति और भाई के रूप चित्रित किया है, वहाँ भी इन पात्रों के वर्गीय संस्कार निखर कर सामने आये हैं। जिस प्रकार ऐतिहासिक नाटक 'जय पराजय' के पिता, पुत्र, पत्नी के चरित्र-विकास में सामन्ती-संस्कार निखर कर सामने आये, उसी प्रकार 'लक्ष्मी का स्वागत', 'छठा बेठा' आदि पारिवारिक नाटकों के पात्रों (माता, पिता, पुत्र, पति और पत्नी आदि) के चरित्र-विकास में भी मध्यवर्गीय संस्कार निखर कर सामने आते हैं। इसके अतिरिक्त 'आपस का समझौता' में डाक्टरों के; 'पहेली' में क्लर्कों के; 'अधिकार का रक्षक' में नेता और सम्पादक के; 'उड़ान', 'चरवाहे' और 'चुम्बक' में कवियों के; 'बतसिया' में हिन्दुस्तानी ईसाइयों के; 'मस्केबाज़ों का स्वर्ग' और 'पैंतरे' में नये फ़िल्मी अभिनेता, निर्देशक, लेखक गीतकार, संगीत-निर्देशक आदि के चरित्र जहाँ वर्तमान जीवन की विकृतियों का यथार्थ उद्घाटन करते हैं, वहाँ चरित्रांकन के माध्यम से वर्गीय प्रभावों से युक्त वर्तमान जीवन की सही तस्वीर भी खींचते हैं। इन पात्रों का चुनाव और यथार्थ चरित्रांकन समाज की वर्तमान समस्याओं के प्रति लेखक के जागरूक यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचायक है।

अश्क के नाटकों में नारी पात्र

नारी के प्रति अश्क के मन में असीम श्रद्धा और अगाध वेदना है। अपने उपन्यासों, कथाओं, काव्यों और नाटकों में अश्क ने नारी को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। 'चेतन की माँ', 'चंदा', 'नीला', 'सत्या' और 'दुरो'—अश्क के उपन्यासों के इन नारी पात्रों और उनके काव्य 'बरगद की बेटी' की विद्रोहिनी 'लहराँ' और उनके नये काव्य 'चाँदनी रात और अजगर' की 'संगिनी' जैसी नारियों की झलक, यदि हम ग़ौर से देखें तो, उनके नाटकों में भी मिल जायगी। न केवल यह, बल्कि 'गिरती दीवारें' की चन्दा से दुरो तक और 'कैद' की अप्पी से लेकर 'उड़ान' की माया तक अश्क की एक गतिशील विचारधारा का भी पता चल जायगा।

अश्क ने विवाह और प्रेम की समस्या के सामाजिक पस-मंज़र याने

पृष्ठभूमि पर विविध-संस्कारों वाली नारियों के चित्र खींचे हैं। सामन्ती संस्कारों से लेकर आज का जागरूक दृष्टिकोण रखने वाले तरह तरह के नारी-पात्र अश्क के नाटकों में बिखरे पड़े हैं। इन विभिन्न नारियों का चित्रण अश्क सदैव इस उद्देश्य से करते हैं कि आधुनिक युग की नारी अपने आपको पहचान कर, अपनी पूर्ववर्ती नारियों से अपनी स्थिति की तुलना कर के, आज़ाद देश में अपने महत्व को पहचाने और उसे देख कर उसका संगी 'दीप जलेगा' के नायक की तरह कह सके :

तुम हो सुभगे, मेरी सहचरि, मेरी मंत्रिणि
मेरे कर्म-क्षेत्र की संगिनि !*

यदि ध्यान से देखा जाय तो अश्क की इस विचार-धारा के बीज उनके सर्व-प्रथम ऐतिहासिक नाटक 'जय पराजय' में भी मिलते हैं। 'जय पराजय' में चार प्रमुख नारी पात्र हैं—महारानी (राणा लक्षसिंह की बड़ी रानी) हँसाबाई (उनकी छोटी रानी) तारा (रावल चूड़ावत की छोटी रानी) और भारमली (मेवाड़ की प्रसिद्ध गायिका!) बड़ी रानी के चित्रण से भारमली के चित्रण तक अश्क ने नारी के चार पहलू दिखाये हैं।

'जय पराजय' का युग सामन्ती युग है। उस युग की नारी अद्वैतवादी की तरह पति की उपासना करती थी, पुरुष-सत्ता-प्रधान कठोर नैतिकता उसका आदर्श था और ये गुण उसके वर्गीय संस्कारों द्वारा उसे मिले थे। अश्क ने लक्षसिंह की बड़ी रानी के रूप में उस युग की आदर्श नारी को दिखाया है—जो आज भी 'गिरती दीवारें' के चेतन की मां सरीखी हिन्दू घरानों में मिल जाती है—ऐसी नारी जो

*अश्क के प्रसिद्ध कविता-संग्रह—दीप जलेगा—की अन्तिम कविता !

पति को परमेश्वर समझती है और न केवल स्वयं इस रूप में उसकी पूजा करती है, बल्कि अपने पुत्र को भी यही सिखाती है। और जब उसका पुत्र उस अतिरंजित आदर्श-भावना के कारण देवव्रत के पद-चिन्हों पर चलता हुआ वैसा ही एक भीष्म व्रत ले लेता है तो इस बात को जानते हुए भी कि उसके पुत्र का व्रत उसके लिए ही घातक होगा, उसके सीने पर सौत ला बैठाने वाला होगा, वह अपने पति के उदास होने पर पिता-भक्त राम और देवव्रत का उल्लेख करते हुए, साभिमान कहती है :

> "मेरा चण्ड भी वैसा ही दृढ़-प्रतिज्ञ, वैसा ही सत्यव्रती है महाराज ! आप उसके कर्तव्य-पालन को अपनी बात से छोटा न कीजिए। क्या मैंने एक दिन कहा न था कि मेरे पुत्र भी कम पितृ-भक्त नहीं और अवसर पड़ने पर अपने पिता की साधारण सी इच्छा के लिए अपना सर्वस्व तक बलिदान कर सकते हैं।"

यही नहीं, वह अपने पति को भी कर्तव्य-पालन के लिए विवश करती है। जब वह कहता है कि यदि वह नारियल लेना अस्वीकार कर दे ! तो वह कहती है :

> "शौक से कर दें महाराज ! क्या आपको लाज न आयेगी ? क्या मेवाड़ के राजगृह में आया हुआ नारियल किसी दूसरे के यहाँ जायगा ? क्या मेवाड़ के राणा एक स्त्री को अपनी कह कर—भरे दरबार में कह कर—मैं विवाह करूँगा—उसे त्याग देंगे ?"

अश्क ने बड़ी रानी का चरित्र हर तरह से उस समय की आदर्श राजपूतानी ऐसा चित्रित किया है, लेकिन अश्क यथार्थवादी हैं, उन्होंने

दूसरे नाटककारों की तरह उसे पुतली अथवा पत्थर नहीं बनने दिया। दर्द उसे होता है और वह दर्द कितना गहरा है, इसे दर्शाने के लिए अश्क ने पूरा एक दृश्य (अंक ३ दृश्य ३) प्रस्तुत किया है, जिसमें ऊपर से सुखी दीखने वाली नदी की पहली परत के नीचे ही दुख की धारा बहती नज़र आती है। पर वह दुख नारी का दुख होते हुए भी एक आदर्श नारी का दुख है, इसलिए वह उसे दबा जाती है और नदी के ऊपर केवल सूरज की रोशनी में चमचमाती सुखी सूखी रेत ही दिखाई देती है।

परन्तु हंसा और तारा में अश्क ने आदर्श नहीं गुण-दोषों से भरे यथार्थ चित्र प्रस्तुत किये हैं! तत्कालीन अन्तरविरोधों को इन पात्रों में अश्क ने यथार्थवादी ढंग से उद्‌घाटित किया है। ये दोनों नारियाँ पुतलियां नहीं, न आदर्श की आग में तप कर पत्थर ही बनी हैं, उनमें मानव-सुलभ गुण-दोष हैं। हंसाबाई की कमज़ोरी और तारा की दृढ़ता दोनों हृदय को छूती हैं और यद्यपि दोनों से घोर अन्याय बन पड़ता है, तो भी एक की लौह-दृढ़ता और दूसरी की पारद सी तरलता मन में हमदर्दी उपजा देती है।

रही भारमली तो उसके रूप में अश्क ने ऐसी नारी को प्रस्तुत किया है जो पुरुष के चंधे से कंधा भिडाकर चल सकती है। अश्क ने कहीं लिखा चाहे न हो, पर उसके व्यक्तित्व में वही गरिमा है, वही ओज और वही दृढ़ता है। उसमें अपने प्रिय के लिए मर मिटने की वह लगन है कि अवसर पड़ने पर वह अपने साथी के रथ के पहिए के नीचे अपनी बाँह दे सकती है, उसके वीर-गति को प्राप्त होने के बाद उसके काम को जारी रख सकती है।

इस दृढ़ता के साथ भारमली में अपूर्व तरलता है, उसका चरित्र

आदर्शमय प्रेम का उदाहरण है और प्रसाद की कल्याणी और मालविका दोनों को अपने में आत्मसात कर लेता है। वह राघव देव से प्रेम करती है और उसी प्रेम के लिए अपने जीवन का बलिदान तक कर देती है, किन्तु किसी सामन्ती राजपूत प्रथा की अनुचर होकर नहीं, बल्कि उत्कट प्रेम की बलशालिनी प्रेरणा से अभिभूत होकर।

अश्क के सामाजिक नाटकों में भी इसी विचारधारा के सूत्र मिलते हैं। ऐसे भी नारी पात्र हैं जो पुरानी पारिवारिक रूढ़ियों और संस्कारों में ग्रस्त हैं; ऐसे भी हैं जो उन रूढ़ियों से निकलने को छटपटा रहे हैं; ऐसे भी जो इस प्रयास में अपना सन्तुलन खो बैठे हैं और उच्छृङ्खलता ही को स्वतन्त्रता मान बैठे हैं और बाहर बनाने की फ़िक्र में घर ही बिगाड़ रहे हैं; ऐसे भी जो पुराने और नये में सामंजस्य स्थापित कर, घर को सुखी बना रहे हैं; ऐसे भी जो अभिजात्य वर्ग के खोखले जीवन की कुण्ठाओं के शिकार हैं और ऐसे भी जो भविष्य की स्वच्छन्द पर उत्तरदायित्व को निभाने वाली नारी की झलक देते हैं—ऐसी नारी की, जो ठीक अर्थों में पुरुष की सहचरी, मंत्रिणी और संगिनी होगी।

अश्क के नाटक 'छठा बेटा' की माँ और 'अलग अलग रास्ते' की राजी उनके वृहद उपन्यास 'गिरती दीवारें' की माँ और चन्दा ही का प्रतिरूप हैं। 'कैद' की अप्पी राजी से कुछ भिन्न है, किन्तु पुरानी रूढ़ियों और संस्कारों में ये दोनों पात्र बँधे हैं और उनकी निष्कृति की कोई आशा नहीं। उनके चरित्रों से मन में सहानुभूति उपजती है, उनमें कुछ ऐसे गुण भी हैं, उदारता, सहिष्णुता और सहृदयता के—कि उनके प्रति श्रद्धा भी होती है, पर वे प्रेरणा नहीं देतीं। उनको देखने वालों

(वालियों) के मन में वैसी ही बनने की इच्छा नहीं जगती। इसके विपरीत 'अलग अलग रास्ते' की रानी और 'उड़ान' की माया दो ऐसे पात्र हैं, जो न केवल पुरानी रूढ़ियों से विद्रोह करते हैं, वरन् उनकी दीवारों को तोड़ कर निकलने की शक्ति भी रखते हैं। इन्हीं पात्रों में अश्क भविष्य की नारी की झलक देते हैं। 'अलग अलग रास्ते' की रानी अपने पिता के मोटर और मकान के बल पर नहीं, अपनी योग्यता के बल पर मान पाना चाहती है। अपनी बहिन से कहे हुए उसके ये शब्द एक चुनौती देते हैं : 'मैं लाख प्यार करती पर इस अपमान के बाद कभी वहाँ न जाती।' और न केवल पति को बल्कि पिता को, भी वह छोड़ जाती है। और 'उड़ान' के अन्त में माया कहती है :

"तुम एक दासी, खिलौना या देवी चाहते हो, संगिनी की तुम में से किसी को आवश्यकता नहीं!'

और क्योंकि वह केवल संगिनी बन कर रहना चाहती है, इसलिए वह उन तीनों को छोड़ कर चली जाती है।

लेकिन पुरानी रूढ़ियों से केवल विद्रोह ही अश्क का लक्ष्य नहीं। यदि वह विद्रोह समाज की नींव—घर—ही को तबाह कर देता है तो अश्क उस विद्रोह के क़ायल नहीं। ऐसी युवतियों से, जो नारी की स्वच्छन्दता को उच्छृङ्खलता और उत्तरदायित्व-हीनता समझती हैं, अश्क को सहानुभूति नहीं। अश्क ने उनके कुण्ठित गृह-जीवन की एक झांकी 'स्वर्ग की झलक' में दी है। श्रीमती अशोक और श्रीमती राजेन्द्र ऐसी आधुनिकाएँ हैं जो पतियों से खाना पकवाती और बच्चे खिलवाती हैं और स्वयं नाच गाने में मस्त रहती हैं। राजेन्द्र के कटु शब्दों में तल्खी की मात्रा चाहे ज़्यादा हो, पर सच्चाई भी कम नहीं। रघु से वह कहता है :



आल इंडिया रेडियो इलाहाबाद पर 'बड़ी बड़ी आँखें' के
ब्राडकास्ट में श्री अश्क का सहयोग !



आल-इंडिया रेडियो इलाहाबाद में अश्क जी द्वारा 'भँवर' का निर्देशन !

"इन चमकदार मोतियों की उपयोगिता कितनी है रघु, तुम नहीं जानते—तुम इन्हें दूर ही से प्यार की नज़रों से देख सकते हो। चाहो तो इन्हें पास बैठा कर सपनों के संसार बसा सकते हो, इनकी दमक से अपनी आखें जला सकते हो, पर जीवन के खरल में पीसकर, इन्हें किसी काम में ला सकोगे—ऐसी आशा नहीं।"

पर अश्क 'स्वर्ग की झलक' में केवल ध्वंसात्मक आलोचना ही पर बस नहीं करते, भाभी के रूप में पुराने और नये का सामंजस्यपूर्ण जागरूक पात्र भी इस नाटक में प्रस्तुत करते हैं।

आधुनिकाओं की कुण्ठा को अश्क ने अपने एकांकी 'बहनें' और बड़े नाटक 'भँवर' में फिर दिखाया है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भँवर बहुत ही सुन्दर उतरा है। अवकाश भोगियों के घरों में बेकार लड़कियों की ऊबाहट, फ़ैशनपरस्ती और कुण्ठा का इतना यथार्थ चरित्र हिन्दी में तो दूर, अश्क के अपने साहित्य में भी कम देखने को मिलता है। 'भँवर' की प्रतिभा इबसन की 'हैडा गैबलर' की याद दिलाती है। लेकिन प्रतिभा की ट्रेजिडी हैडा की ट्रेजिडी से कहीं ज़्यादा गम्भीर है, क्योंकि वास्तव में प्रतिभा असामाजिक पात्र नहीं, वह अपने अद्भुत आकर्षण के कारण असामाजिक हो गई है—भँवर के चक्कर में सतत घूमने और किनारे न लगने वाली ऊर्म्मि सी बन गई है, क्योंकि वह पहले प्रेम को नहीं भुला सीक। यदि वह अपने अतुल अवकाश और ज्ञान को प्रो० नीलाभ ही की भाँति किसी उच्चोद्देश्य में लगा कर उसकी उद्गति (Sublimation) कर लेती तो वह अपनी बहनों और सहेलियों के कष्ट तथा ईर्षा का कारण न हो कर उनके लिए पथ-प्रदर्शक हो जाती।

जहाँ तक पत्नी का सम्बन्ध है अश्क ने अपने नाटकों में भारतीय नारी के विभिन्न पत्नी रूप प्रस्तुत किये हैं। बाहर बनाने की फ़िक्र में घर उजड़ाने वाली और घर बनाने के साथ साथ बाहर बनाने की चिन्ता भी करने वाली पत्नियों के चित्र अश्क ने 'स्वग की झलक' में दिये हैं। इनके अतिरिक्त 'छठा बेटा' में शराबी की पीड़ित पत्नी; डाक्टर हंसराज की तुनक मिज़ाज पत्नी; 'देवताओं की छाया में' की पिछड़े हुए ग्रामीण संस्कारों की नारी 'भरी'; एक दोरुखे, धोखे बाज़ नेता की दुखी पत्नी 'अधिकार का-रक्षक' की श्रीमती सेठ ! 'सूखी डाली' की बेला, जो पुराने घर के ठहरे निथरे तालाब का पत्थर बन जाती है और मँझली भाभी—मुहल्ले-टोले की कलंक-कहानियों में रस पाने वाली और 'अंजो दीदी' की डिक्टेटर जिसे गृहस्थिन होने के बदले सेना में छोटी मोटी जूनियर या सीनियर कमांडर होना चाहिए था और सदा गिनती (calculations) कर, जीवन को उलझाने वाली 'मैमूना' की आमना और 'चिलमन' की किरण और 'पापी' की छाया—ये और दूसरे पत्नी-पात्र विभिन्न पारिवारिक समस्याओं पर तो रोशनी डालते ही हैं, साथ ही वर्तमान समाज की नारी के रंगारंग चित्र भी पेश करते हैं।

प्रेम-समस्या के कई रूप भी अश्क के नारी पात्रों द्वारा पाठक अथवा दर्शक के सामने आते हैं। 'चरवाहे' की रत्नी और 'चुम्बक' की सरिता ऐसी युवतियाँ हैं जो पंख फड़फड़ाती उस चिड़िया सी उड़ने को आतुर हैं, जिसके बारे में अश्क ने अपनी एक प्रसिद्ध कविता में लिखा है :

चल-पंख तुम्हारे आतुर
उड़न को आकाशों की गहराई में

कल कंठ तुम्हारा बेकल
गाने को जीवन के मादक गाने
अनजाने मंडल में जाने को
हृदय तुम्हारा विह्वल

लेकिन रत्नी और सरिता में थोड़ा सा अन्तर भी है। रत्नी पौरुष और साहस से प्रेम करती है—जिसकी झलक उसने अपनी आँखों से देखी है। सरिता का विवेकहीन, आवेगमय प्यार अनदेखे प्रियतम से है, जिसकी एक सुन्दर काल्पनिक तस्वीर उसने अपने आप बना ली है। उसका प्रियतम झूठा है, पर वह अपनी कल्पना के सहारे उससे मिलने निकल पड़ती है—अबाध नदी सी—जो अपने ही ज़ोर से, रुकावटों को तोड़ती फोड़ती बहे जाती है।

इन दोनों के मुकाबिले में चुम्बक की गोपा गम्भीर, विवेकमय-अनुराग वाली है और उसका प्रेम अपने रेले में उसके पाँव नहीं उखाड़ता।

'मैमूना' की आमना का प्रेम अस्थिर है—अस्थिर और अतृप्त – पर 'खिड़की' की नयना नारी प्रेम की स्थिर-साधना और द्वन्द्व का प्रतीक है।

इस प्रकार अश्क ने अपने नाटकों में नारी जीवन के विभिन्न पहलुओं को नारी चरित्रों के आलोक में सामने रखा है। ये सारे के सारे चरित्र अपनी परिस्थितियों में स्वाभाविक रूप से विकसित होते हैं। लेखक का व्यापक जीवनानुभव उन्हें इतने यथार्थ रूप में उपस्थित करता है कि वे हमारे जाने पहचाने लगते हैं –उनकी वेशभूषा, चाल ढाल और बोल-चाल का स्वाभाविक रूप उन्हें सामाजिक जीवन का सही और यथार्थ प्रतिरूप बना देता है।

नारी पात्रों के चरित्र-चित्रण में अश्क का दृष्टिकोण प्रत्येक स्थान पर सामाजिक यथार्थवादी है। उस पर अनेक दूसरे तथाकथित प्रगतिशील लेखकों की तरह पूँजीवादी रोमांस और यौन वेदना का प्रभाव नहीं है। अश्क ने नारी पात्रों के साथ खिलवाड़ नहीं किया है और न पाठकों की सस्ती अतृप्त काम-वासना के स्वाद के लिए उन्हें चटनी के रूप में पेश किया है। उनका दृष्टिकोण इस विषय में एकदम स्वस्थ, नैतिक और सामाजिक है, जो उनके साहित्य का एक प्रगतिवादी लक्ष्य है। अश्क का दृष्टिकोण इस विषय में उस पूँजीवादी यौन नैतिकता का कट्टर विरोधी है, जो समाजवाद का मज़ाक उड़ाने के लिए कहता है कि समाजवादी स्त्रियों का भी समाजीकरण कर देंगे। मार्क्स और एंगेल्स ने साम्यवादी घोषणा-पत्र में पूँजीपतियों की इस अनैतिक नारेबाज़ी का भण्डा फोड़ किया है। एंगेल्स ने लिखा है : 'परिवार के मध्य स्त्री सर्वहारा और पुरुष पूँजीपति है।' अश्क ने इस तथ्य को समझा है, रूढ़ियों और प्रतिगामी संस्कारों से नारी की मुक्ति के प्रति अपनी रचनाओं में सदा सजग रहे हैं और उनकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि इस मुक्ति के प्रयत्न में दूसरे कुछ प्रयोगवादी एवं रोमानी प्रगतिशील लेखकों की तरह अराजकपन्थी नहीं बन गये हैं, जो गर्भपात के साथ मुक्त-प्रेम या मुक्त-संभोग का प्रच्छन्नरूप से प्रचार करते हैं और, नारी के शोषित रूप को एक भोग्या की शकल में पेश करते हैं। ऐसे अराजकपन्थियों को एंगल्स ने स्पष्ट बता दिया है कि 'स्त्री की समानता का परिणाम यह नहीं है कि वह अनेक पुरुषों से यौन-सम्बन्ध कायम करे, बल्कि पुरुष को वास्तव में एक स्त्री से ही यौन-सम्बन्ध रखना होगा।

चाहे एक-पत्नी विवाह का प्रारम्भ व्यक्तिगत और पितृसत्तात्मक

समाज के विकास की देन है और उसमें नारी शोषित ही है, क्योंकि उसे उत्तराधिकार और सामाजिक विकास का अवसर प्राप्त नहीं। किन्तु इसके विरोध का अर्थ यह नहीं है कि नग्न यौन-सम्बन्धों को उछाला जाय और नारी-मुक्ति के नाम पर नारी को 'जनपद कल्याणी' बनाने का प्रचार किया जाय। जनवादी देशों में नारी को [illegible] और जीवन-विकास के समान अवसर प्राप्त हैं और वह पुरुष की भाँति समाज की एक इकाई है, किन्तु विवाह प्रथा को वहाँ खण्डित नहीं किया गया, बल्कि इससे उसे और अधिक विकसित रूप प्राप्त हुआ है।

अश्क के नाटकों में नारी के प्रति इस समाजवादी दृष्टिकोण की सजगता है। उन्होंने चाहे नारी को पुराने रूप में या नये रूप में पेश किया हो, सब जगह उनकी यह सामाजिक चेतना काम करती है। इसीलिए वे नारी-जीवन को एक सही सहानुभूति से देख सके हैं और उसके वर्गीय अन्तर्विरोधों और रूपों को स्वस्थ और यथार्थ ढंग से चित्रित कर सके हैं।

अश्क ने आधुनिक नारी के चरित्र-चित्रण में उसकी सामाजिक प्रगति के प्रति हमदर्दी दिखाई है और उसके अवकाशभोगी, अभिजात्यवर्गीय, बुर्जुआ संस्कारों वाली उच्छृंखल प्रगति की खिल्ली उड़ाई है और उस पर कठोर व्यंग्य किये हैं। उन्होंने नारी को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। उसके बन्धनों के प्रति उनके मन में क्रोध है; दुखों और कुण्ठाओं के प्रति समवेदना; सीमाओं के प्रति सहानुभूति; कुप्रवृत्तियों के प्रति व्यंग्य तथा आक्रोश, आदर्शों के प्रति श्रद्धा और

महत्वाकांक्षाओं के प्रति प्रशंसा है। वे नारी को न दासी देखना चाहते हैं, न खिलौना, न देवी। वे उसे पुरुष के साथ पग से पग और कंधे से कंधा मिला कर चलती हुई, उसकी संगिनी और उसकी मन्त्रिणी देखने के अभिलाषी हैं।

अश्क की शैली

एक चतुर नाट्य-शिल्पी होने के साथ साथ अश्क उपन्यासकार, लेखक और कवि भी हैं और उन साहित्य-रूपों के संस्कारों का सूक्ष्म प्रभाव उनके नाट्य-शिल्प पर भी पड़ा है। शायद यही कारण है कि उनके नाटकों के रूप-गठन में शिल्प-सांकर्य नहीं है। उन्होंने अपने नाटकों के रूप-गठन को रंगमंच और शिल्प के विभिन्न तत्वों के कलात्मक समन्वय और वस्तु में यथार्थवादी मनौवैज्ञानिक निरूपण से आधुनिकतम और अधिक से अधिक परिमार्जित एवं प्रभावशाली बनाया है। उनकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि वस्तु और शिल्प दोनों पर उन्होंने, नव-निर्माण की दृष्टि से भेद मानकर, अलग अलग प्रयोग करने की कोशिश नहीं की, बल्कि दोनों का ऐसा स्वाभाविक सामंजस्य प्रस्तुत किया है कि इस वैज्ञानिक कलात्मक एकीकरण के द्वारा

ही उनके नाटक को पूर्णता प्राप्त होती है। इसलिए जो केवल यह मानते हैं कि अश्क केवल एक कुशल टेकनीशियन हैं और उनकी विषय-वस्तु में गहराई नहीं होती, वे अश्क की शैली की विशेषता को एकांगी दृष्टि से परखते हैं। और कदाचित नहीं, निश्चय ही उनके कुछेक नाटकों को पढ़कर यह धारणा बना लेते हैं। अश्क के कुछ नाटक बड़े हल्के फुल्के और हास्य-व्यंग्य-भरे हैं, जैसे 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' 'जोंक', 'बतसिया' आदि...पर कुछ बड़े गहरे और सांकेतिक हैं, जैसे 'चरवाहे', 'मैमूना', चमत्कार 'भँवर' आदि...फिर कुछ ऐसे भी हैं जो हल्के फुल्के तो हैं, पर उनके हास्य-व्यंग्य के पर्दे में गहरी यथार्थता अथवा दारुण ट्रेजिडी छिपी है—'आपस का समझौता', 'तौलिये', 'सूखी डाली,' 'बहनें', 'पक्का गाना', 'पैंतरे' और 'छठा बेटा' ऐसे ही नाटक हैं। अश्क ने कौशल (टैकनिक) का प्रयोग मात्र एक बाज़ीगर की तरह नहीं किया, बल्कि एक वस्तु को, उसमें अन्तर्निहित मूलविचार और सामाजिक सत्य के साथ उद्घाटित करने और उसे स्वाभाविक और अधिक से अधिक प्रेषणीय बनाने के लिए ही अपने टेकनिक के चातुर्य का एक यथार्थवादी कलाकार के रूप में प्रयोग किया है।

अश्क हिन्दी के कुछ दूसरे नाटककारों की भाँति कलावादी नहीं हैं और न तथाकथित प्रयोगवादी ही, जो शिल्प को वस्तु से अधिक प्रधानता देते हैं—"मैं केवल प्रयोग के लिए प्रयोग नहीं करता", उन्होंने एक भेंट में कहा, "वैसा करना मुझे ऐसे ही लगता है जैसे साफ़ सुथरे कपड़े पहने हुए लोगों की सभा में कोई बदन पर कीचड़ मल कर चला जाय।*

इस में कोई संदेह नहीं कि वस्तुगत सत्य को अधिक से अधिक

*देखिए—अश्कजी से एक इंटरव्यू !

यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने और प्रेषणीय बनाने के लिए अश्क अत्यधिक परिश्रम और परिमार्जन करते हैं। वे सर्व-प्रथम वस्तुगत सत्य या आधारभूत विचार की खोज करते हैं और उसके आधार पर 'नाटक का 'धुँधला सा रेखाचित्र' तैयार करते हैं और उसके अनुकूल वस्तु के अन्य उपादानों को जीवन के विविध अनुभवों से संचित करके नाट्य-सृष्टि करते हैं। वे लिखते हैं, "मैं सर्वप्रथम नाटक की थीम अर्थात् आधारभूत विचार खोजता हूँ, अथवा यों कहिए कि नाटक का आधारभूत विचार पहले मेरे मस्तिष्क में आता है।" इससे स्पष्ट है कि अश्क कलावादी नहीं हैं। वे एक यथार्थवादी कलाकार हैं, जिसकी दृष्टि सर्वप्रथम वस्तुगत सत्य पर पड़ती है और उसी के उद्घाटन के लिए वे शिल्प-चातुर्य का प्रयोग करते हैं। जब कोई घटना या आधारभूत सत्य नया कलेवर चाहता है—अर्थात् जब वे समझते हैं कि किसी दूसरे ही रूप में उसकी ठीक अभिव्यक्ति होगी तो वे उस रूप को ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं। इसी प्रयास के फलस्वरूप नये प्रयोग भी हो जाते हैं। वे नाट्य-रचना के प्रकार को भिन्न भिन्न रसायनिक द्रव्यों के समावेश की एक प्रक्रिया मानते हैं। इसीलिए वे शिल्प-परिमार्जन और रूप-गठन के प्रकार पर अधिक श्रम करते हैं। यह श्रम (टेकनिक) कौशल-प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि वस्तुगत सत्य को सामाजिकों[1] के हृदय तक स्वाभाविक रूप से प्रेषणीय बनाने के लिए ईमानदार कलाकार का कलात्मक प्रयत्न होता है।

अश्क ने लिखा है, "मेरा स्वभाव है कि पहली बार नाटक का धुँधला सा रेखाचित्र तैयार कर लेता हूँ। उसके पश्चात् मैं उसे निरन्तर सँवारता, सुधारता रहता हूँ। इस काम में मेरा मन खूब लगता है।

१. नाट्य-शास्त्र के अनुसार दर्शकों के लिए प्रयुक्त शब्द

मैं निरन्तर काट-छाँट करता रहता हूँ।"[1]

शिल्प-परिमार्जन पर इतनी मेहनत करने के क्रम में ही अश्क ने हिन्दी के नाट्य-शिल्प को अधिक विकसित किया है और उसमें नये नये प्रयोग किये हैं। शिल्प-सौष्ठव के विकास के लिए उन्होंने पश्चिम के अनेक श्रेष्ठ नाटककारों के शिल्प-चातुर्य से भी प्रेरणा प्राप्त की है, किन्तु एक बात के लिए वे सदा सतर्क रहे हैं कि उनकी मूल विचारधारा और यथार्थवादी दृष्टिकोण या किसी पश्चिमी कलाकार की विचार-धारा और दृष्टिकोण का प्रतिक्रियावादी प्रभाव न पड़े। वास्तव में उन परिश्चमी नाटककारों में से कुछ ऐसे भी हैं जो श्रेष्ठ नाट्य-शिल्पी होते हुए भी यथार्थवादी नहीं हैं। अश्क ने इस कला-प्रेरणा के विषय में स्पष्ट करते हुए लिखा है : "यहाँ प्रगतिशीलता अथवा प्रतिक्रियात्मकता का प्रश्न नहीं। मैं केवल कला-पक्ष की बात कर रहा हूँ। नाटककार अथवा नाटक चाहे अगतिनूलक हो, पर कई बार उसकी कला का सौष्ठव मुझे मोह लेता है और स्वयं लिखने की प्रेरणा देता है।"[2]

अश्क ने रूप-गठन की जो प्रेरणा पाश्चात्य नाटककारों से ली, उनसे अपने शिल्प-सौष्ठव को अधिक विकसित किया और विविध वस्तु-सत्यों को नये नये कला-प्रयोगों द्वारा यथार्थ अभिव्यक्ति देने का कौशल दिखाया। पात्रों के वैविध्य और सजीव मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रक्रिया और प्रतीकात्मकता में उन्होंने मॉरिस मेतरलिंक से प्रेरणा ली है। उस समय जब यूरोप में श्रेष्ठ वर्ग के पात्रों को ही नाटक का नायक या उप-नायक बनाया जाता था और दुखान्त नाटक के लिए यह सुनिश्चित नियम बना दिया गया था, मॉरिस मेतरलिंक ने

१, २, देखिए संकलन— मैं नाटक कैसे लिखता हूँ।

इस रूढ़िबद्धता का विरोध किया और साधारण वर्ग के पात्रों को नाटकों में प्रतिष्ठा देने का प्रतिपादन किया। इसके पीछे उनका दृष्टि-कोण यही था कि उच्च वर्ग के पात्र, चाहे वे ऐतिहासिक हों या सामयिक, उनकी स्वभावगत विशेषताओं से दूसरे वर्ग के नाटककारों का निकट-सम्पर्क नहीं होता। साधारण वर्ग के जीवन की विविधताओं से, उनके सुख-दुख, हर्ष-विषाद, उनकी नित्य प्रति की ज़िन्दगी और उस ज़िन्दगी की आधारभूत समस्याओं से मध्य वर्ग के नाटककार बिल्कुल निकट होते हैं, इसीलिए पूरी तरह परिचित होते हैं। दूसरी बात यह भी है कि नाटककार किसी भी वर्ग का क्यों न हो, साधारण जीवन के पात्रों के निकट आने की सुविधा उसे जितनी रहती है, उतनी ऐतिहासिक एवं उच्च वर्गीय पात्रों के निकट आने की नहीं रहती और उसके चरित्र-चित्रण में उसे कल्पना और अनुमान का बहुत सहारा लेना होता है। मेतरलिंक ने नाटकों की रचना-शैली को जीवन के अधिक निकट लाने के लिए ही उसमें यह परिवर्तन किया था। इससे चरित्र-चित्रण के यथार्थ मनोवैज्ञानिक पहलू में काफ़ी विकास हुआ। ठीक उसी तरह 'ओ नील' ने जीवन की विविधता को पात्रों के चरित्रों के रूप में यथार्थ-वादी संकेतात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। 'ओ नील' रूप-गठन को नये से नया रूप देने के लिए सदा सतर्क रहते थे। 'ओ नील' के विषय में उसके आलोचकों ने लिखा है कि यह नये नये रूप-गठनों का अन्वेषक नाटककार वस्तु में वर्गीकृत संकीर्ण शास्त्रीय सिद्धान्तों का कभी अनुकरण नहीं करता था और इसके शिल्प-चातुर्य ने नाटक को जीवन के अधिक निकट लाने का प्रयत्न किया है। 'ओ नील' ने बैरेट एच क्लार्क को एक पत्र में लिखा था कि अर्जेण्टाइना में उसने विविध प्रकार के कार्य किये। उसने बिजली की कम्पनी में, ऊन घर में, सिंगर

मशीन कार्यालय में काम किया, वह सम्वाददाता भी रहा और पत्रकार भी। किन्तु इन सब कामों में रत रहते हुए भी वह अपनी कला-साधना में लगा रहा और जीवन के उन विविध अनुभवों से उसने लाभ उठाया। स्ट्रिंडबर्ग, जिसने मेतरलिंक से प्रेरणा प्राप्त की थी, भी पात्रों के प्रतीकात्मक और मनोवैज्ञानिक यथार्थ चित्रण पर ज़ोर देता था। ओ-नील ने संकेतों का प्रयोग स्टेज इफ़ेक्ट और नाटक की टेकनिक के निखार में बड़ी सफलता से किया है। हल्के-फुल्के नाटकों में अश्क को बैरी, प्रीस्टले और कॉफमैन से प्रेरणा मिली।

अपनी शैली के निर्माण में अश्क ने शिल्प की दृष्टि से इन पाश्चात्य कलाकारों से अधिक प्रेरणा पाई है। यद्यपि उन्होंने इब्सन, चेखव, सिमानॉव, कॉफ़मैन, मॉहम, शा, गाल्सवर्दी, पिरेनदिलो आदि नये पुराने अनेक नाटककारों की कृतियों का अध्ययन किया है, किन्तु सब से अधिक शिल्प-प्रेरणा नाटकों में उन्हें मेतरलिंक, ओ नील, प्रीस्टले तथा बैरी ही से मिली है।

शैली में वस्तु-चयन और वस्तु-विन्यास तथा भाषा की प्रवहमानता और टकसालीपन का बड़ा हाथ है। अश्क की शैली में इन दोनों के सौष्ठव का उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। जहाँ तक संकलन-त्रय का सम्बन्ध है, जैसा कि एक स्थल पर पहले भी कहा गया है, अश्क ने समय, स्थान और कार्य्य-सम्पादन की एकता का समुचित निर्वाह अपनी नाट्य-शैली में किया है। संकलन-त्रय पर इब्सन ने विशेष ज़ोर दिया था, किन्तु बाद के उन नाटककारों ने भी इस संतुलन को किसी न किसी रूप में अपनाया है, जिनकी टेकनिक कई बातों में इब्सन से

भिन्न थी। संकलन-त्रय के संतुलित रूप के सफल उदाहरण अश्क के कई नाटकों में देखने को मिलते हैं। 'कैद', 'उड़ान', 'छठा बेटा', 'अलग अलग रास्ते', और 'भँवर' इस दृष्टि से विशेषकर उल्लेखनीय हैं। इन में सारे का सारा एक्शन वास्तव में उतने ही समय में सम्पादित हो जाता है, जितने में कि वह रंगमंच पर होता है। समय स्थान और कार्य्य-व्यापार का संकलन इन नाटकों में अभूतपूर्व है।

अश्क की शैली का एक बड़ा गुण—विशेषकर उनके गम्भीर नाटकों में उनकी प्रतीकात्मकता या सांकेतिकता है। सूक्ष्म अथवा स्थूल संकेतों और प्रतीकों के सहारे अश्क ने जहाँ बड़ी सफ़ाई से वातावरण उपस्थित कर दिया है, वहाँ पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी इससे सहायता ली है।

ध्यान से देखा जाय तो उनके पहले नाटक 'जय पराजय' और पहले एकांकी लक्ष्मी का स्वागत' में भी उनकी शैली का यह गुण दृष्टिगोचर हो जाता है—घोर अंधकार के बीच, मशालों की रोशनी में नाटक (जय पराजय) का आरम्भ होता है। जैसे पुँजीभूत अंधकार में भी लेखक अपना हल्का-हल्का प्रकाश भर रहा है और आस पास से ध्वनि आती है—'मशाल ऊपर करो!' 'मशाल ऊपर करो!' 'हम पहुँच रहे हैं!' 'हम पहुँच रहे हैं!' सारे नाटक के अन्दर की जो सम्पूर्ण एक-रसता है, वह जैसे वह अंधकार है और है कुछ मशालों और प्रदीपों का क्षण-स्थाई मेला! अन्त में भी लेखक हमें अंधकार ही में छोड़ कर चुप हो जाता है। चण्ड सब कुछ छोड़ कर जा रहा है। घोर अँधेरी रात है। इस अंधकार में दीपमाला

की रोशनी गुप चुप कोई पुरानी बात कह रही है। वही पुराना गाना सुनाई पड़ता है, जो हमने पहले पहल के अंधकार में सुना था :

हे शिव हे शंकर हे ईश!
जय जय...............लकुटीश

अंधकार और प्रकाश के इन प्रतीकों से जहाँ अश्क ने जय पराजय के मूलभूत विचार का आभास दिया है, वहाँ संकेत भरे सम्वादों से चरित्रों और उन पर घटनाओं के प्रभाव का भी उद्घाटन किया है। अन्त के उसी सूचीभेद्य अंधकार में चण्ड चला जा रहा है तब :

हरि सिंह पूछता है, "महाराज रात को कहाँ जायँगे।"

चण्ड उत्तर देता, "मेरे लिए अब रात दिन एक समान हैं।"

हरि सिंह कहता है, "रास्ता ऊबड़ खाबड़ है महाराज!"

चण्ड उत्तर देता है, "रास्तों का ज्ञान रखना मैंने कब का छोड़ दिया"

और यों विजय में भी पराजय अनुभव करता हुआ चण्ड, विचित्र प्रभाव छोड़ता हुआ, मन की आँखों से दूर हो जाता है। इन दो छोटे सम्वादों द्वारा अश्क के संकेत रूप में बड़ी कुशलता से चण्ड के जीवन की सारी ट्रेजिडी कह दी है।

'लक्ष्मी का स्वागत' का नाम ही संकेतात्मक है। इसके अतिरिक्त फ़ानूस का प्रतीक बच्चे के जीवन का प्रतीक है। सुरेन्द्र के यह कहते ही कि अरुण इस संसार से जा रहा है फ़ानूस का गिरना बता देता है कि अरुण दूसरे कमरे में खत्म हो गया है।

'देवताओं की छाया में' और 'लक्ष्मी का स्वागत' के हल्के-हल्के प्रतीकों और संकेतों से अश्क की शैली में जो प्रतीकात्मक धारा क्षीण

रेखा सी आरम्भ हुई, वह 'चरवाहे' के नाटकों तक पहुँचते-पहुँचते यौवन माती नदी सी बह चलती है। 'चरवाहे' के नाटकों में जड़ वस्तुएँ ही जंगम वस्तुओं का प्रतीक नहीं बनतीं, बल्कि जंगम वस्तुएँ भी, यहाँ तक कि जानदार मानव तक गहन विचारों के प्रतीक बनते हैं। 'चरवाहे' की भूमिका में इस ओर स्पष्ट संकेत भी है :

> ''चरवाहे के नाटकों की शैली इससे पहले और इसके बाद लिखे गये नाटकों से भिन्न है। इस संग्रह का प्रत्येक नाटक चाहे वह सामाजिक हो अथवा रोमाण्टिक दुखद हो अथवा सुखद, व्यंग्य हो अथवा प्रहसन, विभिन्न संकेतों और प्रतीकों की सहायता से आगे बढ़ता है। इन्हीं प्रकट अथवा परोक्ष प्रतीकों अथवा संकेतों के पर्दे में विषय-वस्तु का ताना बाना उलझता सुलझता रहता है। ये प्रतीक जड़ हों या जंगम प्रायः रंगमंच पर आते हैं, लेकिन परोक्ष ही में रह कर भी ये नाटक पर भारी प्रभाव डालते हैं।''

पहले ही नाटक 'चरवाहे' को लीजिए। इसमें पात्र स्वयं प्रतीक बन जाते हैं। रत्नी यदि उद्दन्ड, अल्हड़, परिणाम से निश्चिन्त, उड़ने को, कर्म करने को आतुर यौवन की प्रतीक है तो कान्त उस प्रौढ़ जवानी का, जिसने छोटी वयस ही में जीवन की कटुताओं का रस पा लिया है और उनसे समझौता भी कर लिया है।

'चिलमन' में संकेतों की बाड़ दोहरी है। 'चिलमन' रंगमंच के अन्दर अपने जड़ स्वरूप में भी विद्यमान है और स्टेज के बाहर शशि के रूप में, अपने जंगम स्वरूप में भी। शशि ही वह गहरा नीला टाट है जो किरण के जीवन और उसकी ज्योति के मध्य लटक रहा है।

उसी के कारण मरणासन्न किरण की ईर्षा और उस ईर्षा से उत्पन्न होने वाली जीवित रहने की तड़फड़ाहट करुण हो उठती है। 'चिलमन' का यह प्रतीक हरि के इस अंतिम वाक्य से एक दम स्पष्ट हो जाता है :

"वह नहीं आ सकती, वह कभी नहीं आ सकती
देखते नहीं, मैंने चिलमन उतार दी है !"

'चुम्बक', 'सूखी डाली' और 'खिड़की' के प्रतीक पूर्णरूपेण स्पष्ट हैं। 'चुम्बक' में लोह-चून के दो कणों, 'सूखी डाली' में वट और सूखी डाली और खिड़की' में प्रतीक्षा करने वाले प्रेमी और खुली खिड़की के संकेत और प्रतीक सुस्पष्ट हैं।

यह प्रतीकात्मक शैली जो 'जय पराजय' और 'लक्ष्मी के स्वागत' में क्षीण रेखा सी दिखाई देती है और चरवाहे के नाटकों में भरी पुरी नदी सरीखी, अश्क के बड़े नाटकों—'छटा बेटा', 'कैद', 'उड़ान' 'अंजो दीदी', 'भँवर' और 'अलग अलग रास्ते' इत्यादि में दरिया सरीखी एक विस्तृत भाव-भूमि पर फैल जाती है। 'छठा बेटा' माता-पिता की कभी न पूरी होने वाली इच्छाओं का प्रतीक बन जाता है; 'कैद' कुछ ऐसी परिस्थितियों की कैद बन जाता है, जिसमें नाटक के सभी पात्र कैद हैं; 'उड़ान' के तीनों पुरुष पात्र तीन प्रवृत्तियों के प्रतीक बन कर सामने आते हैं; 'अंजो दीदी' उस दमन की प्रतीक हो जाती है जो घरों पर प्रायः माता या पिता अपनी सनकों के रूप में बच्चों पर लाद देते हैं और 'अलग अलग रास्ते' प्रेम और बग़ावत के दो आदि मार्गों का संकेत देते हैं।

पात्रों के मनोविज्ञान को दर्शाने, आगामी घटनाओं की सूचना देने, अस्पष्ट विचारों को प्रतीकों के द्वारा स्पष्ट सामने रखने और मानव की प्रवृत्तियों का प्रतीकों की सहायता से उद्घाटन करने के साथ-साथ अश्क की नाट्य-शैली के इस संकेतात्मक गुण ने प्रकृति के

सौन्दर्य अथवा भयावहता को नाटक के मूड के अनुसार प्रयोग करने का कठिन काम किया है। 'चिलमन' में किरण के सपने और उन सपनों का सौन्दर्य जीवन के लिए उसकी छटपटाहट को और भी उजागर कर देता है। 'लक्ष्मी का स्वागत' में वर्षा का रौद्र और 'चुम्बक' में मोहक रूप नाटकों के मूड के लिए पृष्ठ-भूमि का काम देता है। 'कैद' में प्राण नाथ के अरमान और अप्पी की बेबसी प्रकृति-सौन्दर्य की उस पृष्ठ-भूमि में और भी करुण हो उठती है। 'देवताओं की छाया में', 'खिड़की', 'चरवाहे' या 'चिलमन', 'कैद' या 'उड़ान'— सभी में प्रकृति की सुन्दरता के संकेत प्रच्छन्नरूप से नाटक को गति देते हैं। पात्रों की भावनाओं, सुख-दुख, हर्ष-विषाद के साथ प्रकृति की अनुकूलता संकेतों और प्रतीकों के द्वारा व्यक्त कर देना अश्क की नाट्य-शैली का विशेष गुण है।

अश्क दर्शक ही नहीं, पाठक का भी ध्यान रखते हैं, इसलिए अपने नाटकों की शैली उन्होंने ऐसी अपनाई है, जिससे दोनों का मनोरंजन हो सके। दृश्य-विधान को वे उपन्यासकार या कहानीकार की शैली में विवरण पूर्ण, पर चटपटा बना देते हैं कि जहाँ निर्देशक और अभिनेता उन विवरणों से लाभ उठा सकें, वहाँ पाठक ऊब न जायँ।

अश्क की नाट्य-शैली की सब से बड़ी विशेषता यह है कि जीवन-वैविध्य के अनुभव से प्राप्त वस्तु-सत्यों को वे रंगमंच पर अपने शिल्प-चातुर्य के बल पर इस यथार्थ रूप से उद्‌घाटित करते हैं कि दर्शक की अनुभूति उससे प्रभावित होकर उसमें अपने जीवन की यथार्थता का किसी न किसी रूप से दर्शन पाती है। पाठक को भी उसे पढ़कर ऐसा

ही साक्षातकार होता है और दोनों को इस प्रकार जीवन के प्रति नये दृष्टिकोण की प्रेरणा प्राप्त होती है।

अश्क कथाकार भी हैं और कवि भी। यह स्वाभाविक ही था कि उनकी नाटक-शैली को उनके कथाकार और कवि का योग मिले। कथाकार के रूप में अश्क कहानी को कहानी देखना चाहते हैं, रेखाचित्र, स्केच अथवा निबन्ध नहीं। आज कहानी-कला का इतना विस्तार हो गया है कि रिपोर्ताज से लेकर निबन्ध तक उसके अन्तर्गत आ जाते हैं। कृष्णचन्द्र की कई तथाकथित कहानियाँ प्रसिद्ध हास्य-रस-लेखक लीकॉक की शैली में लिखे हास्य-रस के निबन्ध-मात्र हैं। लेकिन अश्क की कहानियाँ न संस्मरण हैं, न रेखाचित्र, न रिपोर्ताज—मापासां, ओ-हेनरी, तुर्गनेव, चैखव, गाल्ज़वर्दी और गोर्की की कहानियों की तरह वे हर तरह से कहानियाँ हैं। कथानक का तार यदि कहीं कम भी है, जैसे 'सपने', 'बैंगन का पौधा' या 'काकड़ाँ का तेली' में तो वहाँ भी एक ऐसी बिनावट है, जो पाठक की उत्सुकता को बनाये रखती है और कहानी का अन्त ऐसा अप्रत्याशित होता है कि न केवल पाठक को चौंका देता है, वरन् अपनी सम्भाव्यता से संतुष्ट भी कर देता है। लेकिन उन कहानियों में जहाँ केवल बिनावट को कथानक का दर्जा नहीं दिया गया बल्कि जिनमें कथानक अपने आरम्भ, विस्तार और अन्त के साथ वर्तमान है,[1] अश्क ने नन्हें-नन्हें ब्योरों, सूक्ष्म संकेतों, हल्के फुल्के व्यंग्य और हास्य की सहायता से अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण करते

१. पिंजरा, अंकुर, नासूर, गोखरू, खिलौने, मि० घटपांडे, बच्चे, टेबललैंड, पाषाण, नन्हा आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं।

हुए कहानी कह दी है। अश्क की कहानियों के यही गुण अश्क के नाटकों—विशेषकर एकांकियों में प्रचुर मात्रा में वर्तमान हैं। 'चमत्कार' 'अधिकार का रक्षक', 'पहेली' और 'कस्बे के क्रिकेट क्लब का उद्-घाटन' —इन चार एकांकियों को छोड़ कर शेष में अश्क ने अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण और नाटकों के आधारभूत सत्यों का उद्‌घाटन करने के लिए उन्हें बड़े सुन्दर कथानकों में रख दिया है। इसी कारण उनके एकांकी लघु कथाओं का सा आनन्द देते हैं। उपरोक्त एकांकियों में भी, जहाँ कथानक नही के बराबर है, नाटकों की बिनावट ऐसी है कि एकांकी को पढ़ने में कथा का सा रस मिलता है। नाटकों में कथानक का यह गुण दर्शकों को किस तरह उत्सुक बना देता है, इसे केवल वही लोग जानते हैं, जिन्होंने इन एकांकियों का सफल अभिनय देखा है, अथवा अश्क को स्वयं अभिनय के साथ उन्हें पढ़ते हुए सुना है।

अश्क के कवि का योग भी उनके कुछ नाटकों को प्रचुर मात्रा में मिला है, जिससे उन नाटकों की शैली, काव्यमयी हो गई है। 'चरवाहे', 'चिलमन', 'चुम्बक', 'खिड़की', 'सूखी डाली' आदि...एकांकी तथा उनके दो बड़े नाटक 'कैद' और 'उड़ान' इस बात के प्रमाण हैं। जैसा कि 'चरवाहे' के उर्दू संस्करण के सम्बन्ध में उर्दू के प्रयोग-वादी कवि मुख्तार सिद्दिकी ने लिखा—चरवाहे के कुछ नाटक तो कविताएँ हैं जिन्हें गद्य में लिख दिया गया है—इन नाटकों में से हर एक में प्रकृति का सौन्दर्य जैसे नाटक का एक पात्र बन कर उतरा है। न केवल यह, बल्कि कहीं कहीं सारा का सारा नाटक किसी काव्योचित-सत्य का उद्‌घाटन करता है। 'कैद' में अश्क ने न केवल अखनूर (काश्मीर) की सुन्दरता को नाटक में समो दिया है,

वरन् उस सुन्दरता में कैद अप्पी के जीवन की तस्वीर अपनी यथार्थता के साथ साथ काव्योचित करुणा से आंकी है। अप्पी ही नहीं, 'कैद' का प्रत्येक पात्र अपने वातावरण की कारा में बन्द है और मृत्यु से पहले उससे छुटकारा नहीं पा सकता। इस प्रकार यह नाटक ग़ालिब के प्रसिद्ध शेर :

कैदे-हयातो-बन्दे-ग़म असल में दोनों एक हैं
मौत से पहले आदमी ग़म से नजात पाये क्यों

को चरितार्थ करता है।

अश्क की शैली का एक और बड़ा गुण उसकी उत्फुल्लता है। उनके हास्य-रस-प्रधान नाटकों में यह गुण और भी उभर कर सामने आता है। 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ', 'कस्बे के क्रिकेट क्लब का उद्घाटन', 'चमत्कार', 'बतसिया', 'जोंक' 'छठा बेटा', 'अंजो दीदी' 'पैंतरे' इत्यादि के सम्वादों में कुछ अजीब सी उत्फुल्लता, कुछ विचित्र सा लाघव, चांचल्य और हास्य है। इस उत्फुल्लता का स्रोत अश्क के अपने व्यक्तित्व का वह पक्ष है, जिससे वे स्वयं उदास होते भी अपने मित्रों और पड़ोसियों को घण्टों हँसा सकते हैं।[१] जो व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में बच्चों से लेकर बूढ़ों तक को हँसाने की क्षमता रखता है, वह दर्शकों को क्यों नहीं हँसा सकता। अश्क के नाटकों में कहीं कहीं सम्वाद इतने चुस्त, चंचल, उत्फुल्ल और हास्य-भरे हैं कि उनके पर्दे में उनके लेखक के चंचल व्यक्तित्व की झलक मिल जाती है। अश्क की गम्भीरता ने हमें 'कैद', 'उड़ान', 'अलग अलग रास्ते', 'भँवर',

१. नाटककार अश्क— एक व्यक्तित्व—द्वारका प्रसाद

'लक्ष्मी का स्वागत', 'पापी', 'चिलमन', 'चुम्बक', 'मैमूना' और 'चरवाहे' जैसे गम्भीर नाटक दिये हैं और उत्फुल्लता ने 'जोंक', 'आपस का समझौता', 'अंजो दीदी', 'छठा बेटा', 'पैंतरे' आदि हास्य रस भरे नाटक! अश्क की नाटक शैली गम्भीर भी है, काव्यमयी भी और उत्फुल्ल भी। उनके कथाकार कवि और मिमिक (Mimic) का पूरा योग उनके नाटककार को मिला है।

अश्क के नाटकों में मनोविज्ञान

हिन्दी के नाटकों में मनोवैज्ञानिक तथ्यों का निरूपण भी यथार्थवाद के युग की देन है। जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, पिछले युग के ऐतिहासिक नाटककार क्योंकि एक निश्चित सामन्ती आदर्श के पात्रों को लेकर चलते थे, जिनके चरित्र का ढाँचा बना बनाया था, इसलिए उनके पात्र उस ढाँचे से जौ बराबर भी इधर उधर न होते थे और इसीलिए मनोविज्ञान को उनके नायकों, प्रतिनायकों के चरित्र में उतना प्रवेश न रहता था। स्वयं अश्क के 'जय पराजय' में ऐसे सामन्ती पात्र हैं जो एक पूर्व निश्चित ढाँचे में से निकाल कर दर्शकों के सामने रखे गये प्रतीत होते हैं। लेकिन यथार्थवादी के नाते अश्क ऐसे पात्रों से कभी संतुष्ट न रह सकते थे। यही कारण है कि उन्होंने 'जय पराजय' के बाद फिर वैसा नाटक नहीं लिखा।

अश्क ने जीवन का गहरा अनुभव प्राप्त किया है। इतिहास के भूले बिसरे ग़ारों से कुछ मुर्दे निकाल कर उनमें प्राण-प्रतिष्ठा करने के बदले उन्होंने वर्तमान समाज के दैनिक जीवन से, ज़िन्दगी की धड़कन से धड़कते पात्र चुने हैं और उन्हें उनके गुणों के साथ ही नहीं, दोषों के साथ भी हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

अश्क जानते हैं कि इंसान अपने युग की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के बस में रहता है, उसके कार्य-व्यापार और मनोविज्ञान पर उन परिस्थितियों का गहरा प्रभाव रहता है। परिस्थितियाँ क्योंकि बदलती रहती हैं, इसीलिए मानव भी बदलता रहता है। उसके कार्य-व्यापार, जिन पर उसके चिरपरिवर्तन-शील मनोवेगों की गहरी छाप पड़ती है, बदलते रहते हैं। ज़िन्दगी की इस चिर-प्रवहमान धारा और उसमें बहते मानवों के साथ अश्क सदा बहे हैं। इसीलिए जब वे उस धारा के क्षणिक ठहराव को अपने किसी एकांकी में प्रतिबिम्बित करते हैं तो जहाँ उस ठहरे क्षण में बँधे मानवों के मनोवेगों को हम देखते हैं, पृष्ठ-भूमि में उस चिरप्रवाहशील धारा का आभास भी सदा पाते हैं।

मनोविज्ञान को अश्क ने पोथियों से नहीं, जीवन के सीधे गहरे अध्ययन से प्राप्त किया है। जैसे टेकनिक कला-सृष्टि के पीछे चलती है, इसी प्रकार परिभाषाएँ और सिद्धान्त जीवन के अनुयाई रहते हैं। जीवन का हर दिन नये से नया रहस्य लिये आता है और मानव का हर कार्य्य-व्यापार नये रहस्योन्मेष करता हुआ नये सत्य प्रस्तुत करता है। जीवन के वास्तव अनुभव से, मानवों की बहिया में बहते हुए अश्क ने उनके मनोवेगों का अध्ययन किया है। जीवन में होने वाली कोई घटना और उसमें ग्रसित किसी मानव का कोई विशेष कार्य्य-व्यापार जीवन से अलग-अलग रहने वाले पाठक अथवा दर्शक को

चौंका सकता है पर मानव जीवन के वेत्ता लेखक को नहीं। अश्क ने अपने व्यक्तिगत अनुभव से मानव मन की निगूढ़ गुफाओं में छिपी उन भावनाओं को हमारे सामने ला रखा है, जिन से हम रोज़ के जीवन में सामना करते हुए झिझकते हैं, अथवा जिन्हें जान कर भी हम नहीं जानते। लेकिन एक सच्चे कलाकार की प्रतिभा व्यक्ति अथवा समाज किसी की अहमन्यता से भयभीत नहीं होती। वह बड़ी निर्भीकता पूर्वक प्रत्येक घटना और उसके पीछे छिपी भावनाओं का विश्लेषण करता चला जाता है। अश्क के मनोवैज्ञानिक नाटक उसी विश्लेषण का परिणाम हैं।

अश्क ने अपने नाटकों में जिन मानवों का चित्रण किया है, वे न अतिमानव हैं न अपमानव! न तो वे किसी आदर्श मानव की तरह यन्त्रचालित आटोमेटॉन (Automaton) दिखाई देते हैं, न किसी मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि के शिकार लुञ्ज-पुञ्ज अपाहज व्यक्ति। वे इंसान हैं— दुर्बल-सबल, क्रूर-दयालु, उदार-संकीर्ण, सफल-असफल, प्रसन्न-उदास संघर्ष शील जीवन की भीड़ में खवे से खवा छीलते, ठोकरें देते पाते— केवल इंसान!

हिन्दी नाटकों में (विशेषकर एकांकियों में) मनोविज्ञान का प्रवेश प्रसादोत्तर काल के प्रथम एकांकीकारों ही में हो गया था। श्री भुवनेश्वर प्रसाद ने अपने कुछ नाटकों में मनोभावनाओं, विशेषकर सेक्स से सम्बन्धित मनोभावनाओं का अच्छा चित्रण किया है और चाहे कहीं कहीं (जैसे 'ऊसर' में) वह किताबी हो गया है, पर मनोविज्ञान का प्रवेश उनके एकांकियों में है। अश्क तब उर्दू में लिखते थे

कि अन्यत्र उल्लेख किया जा चुका है नाटक लिखने की प्रेरणा उन्होंने पश्चिमी नाटककारों से ग्रहण की। अश्क के मनोवैज्ञानिक नाटकों पर इब्सन, चैखव, ओ नील, स्ट्रिंडबर्ग और मेतरलिंक का प्रभाव है। लेकिन अश्क के नाटकों में मनोविज्ञान सेक्स-सम्बन्धी भावनाओं तक ही सीमित नहीं है, वरन् उनके पात्रों के हर कार्य्य-व्यापार पर उसका प्रभाव है। अपने हास्य प्रधान नाटक 'बतसिया' में साधारण नौकरानी से टाइपिस्ट और बतसिया से बीएट्रिस बन जाने वाली युवती के मनोविज्ञान का हास्य भरा, पर अभूतपूर्व चित्रण अश्क ने किया है।

वास्तव में अश्क के यथार्थवादी को 'जय पराजय' जैसे ऐतिहासिक नाटक को भी कठपुतलियों का रंगस्थल बनाना स्वीकार नहीं हुआ और जैसा कि पहले कहा गया है, तारा तथा हंसाबाई के रूप में उसने साधारण मानवियों के मन का चित्रण किया है। 'जय पराजय' के बाद तो अश्क का कोई ही ऐसा नाटक होगा जिसके पात्रों के हृदय में उन्होंने न झाँका हो। इस ताक-झाँक में कई बार तो उन्होंने बड़ी दर्दभरी झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। 'चिलमन', 'चरवाहे', 'मैमूना', 'खिड़की', 'देवताओं की छाया में' और 'पापी' इस सम्बन्ध में विशेषकर उल्लेखनीय हैं।

उनका एकांकी 'देवताओं की छाया में' प्रकट दो देहाती नव-युवतियों की मीठी नोक-झोंक से शुरू होता है पर धीरे-धीरे एक ऐसे अधपढ़े पर मत्वाकांक्षी, देहाती युवक सादिक के मनोविज्ञान का रहस्योद्घाटन करता है, जिसके मन पर अपने सीमित साधनों के बावजूद निकट ही बसने वाली आधुनिक बस्ती के लोगों ऐसा बनने की साध है। पहले उसकी सास (रज्जी) और फिर उसकी पत्नी (भरी) के सम्वादों से हम जान लेते हैं किस तरह वह अपनी पत्नी भरी से

मुहब्बत करता है, पर किस तरह उसकी असफलता के कारण उसकी सास उसकी बीवी को उसके साथ नहीं भेज रही और कहीं दूसरी जगह उसकी बात चला रही है और कैसे वह उसे लेने को टकुआ लेकर चढ़ दौड़ता है। अश्क ने रज्जी के सम्वादों द्वारा, वाह्य-स्थितियों से विवश उस युवक के मनोवेगों का चित्र बड़े संकेतात्मक ढंग से खींच दिया है। जब रज्जी बताती है कि वह भरी को लेने के लिए टकुआ लेकर चढ़ दौड़ा था तो बेगाँ कहती है—"पर वह तो चला गया था !" बस रज्जी फट पड़ती है :

> "गया था जहन्नुम में। जब से इधर बसें चलीं और दूध शहर जाने लगा और गाय भैंसों का मोल चढ़ गया तो अपने जानवर बेच कर सपूत ने खा उड़ा डाले। फिर क़र्ज़ लेकर यहाँ हलवाई की दुकान खोली। जो बनता था अपने यार दोस्तों को खिला देता था कि वे हमें तंग करें। छै रुपया निगोड़ा साल का किराया, वह तो दुकान से निकाल न सका और क्या तीर मार लेता ? फिर फेरा लगाने लगा, पर फेरा लगाना क्या आसान है ? जवानों की मौत मरना है—ऊसर में खोंचा उठाये गाँव-गाँव फिरना, पैसा-पैसा करके दाम बटोरना। उसे छोड़ ताँगा चलाने लगा। फिर सुना था फौज में भरती होने चला गया। मैंने सुख की साँस ली थी। पर कल फिर कहीं आसमान से आ टपका।"

यह उसकी विरोधी सास का बयान है जो लड़की को पुनः उसके ताऊ के लड़के के यहाँ बैठाना चाहती है, पर इस बयान में भी पूँजी वादी शोषण के शिकार एक सरल हृदय महत्वाकांक्षी अधपढ़े किसान

युवक की अपने आपको बेहतर बनाने की असफल कोशिशें छिपी हुई हैं।

और जब रज्जी कहती है :

> "उसे तो उनकी (बस्ती के सम्पन्न लोगों की) नकल की पड़ी हुई है—'मैं इसे पर्दा न करने दूँगा;' 'मैं इसे सैर करने ले जाया करूँगा'; 'यह कुछ पढ़ती नहीं......पूछे कोई, तूने आठ जमातें पास कर कौन सी कलट्टरी कर ली है ?...दो एक बार शहर गया। वहाँ से खुशबूदार साबुन-तेल और न जाने क्या फ़िज़ूल की चीज़ें ले आया। जो दस बीघे ज़मीन थी इन्हीं लच्छनों के मुँह गिरवी रख दी और इस पर दम वही है कि मैं टोकरी न ढोऊँगा। भला बीबी बताओ—हम उन अमीरों की बराबरी कर सकते हैं ?"

और धीरे धीरे हमारे सामने गाँव के एक मिडिल पास, स्वाभिमानी, महत्वाकांक्षी युवक का चित्र खिंच जाता है जो पड़ोस में बड़ों को देखकर उन्हीं जैसा बनना चाहता है। अपनी पत्नी को उन्हीं जैसा बनाना चाहता है और इस कोशिश में असफल होता है तो उसे पीटता है। लेकिन क्योंकि वह उससे प्रेम करता है, इस लिए जब उसकी सास उसकी पत्नी को ले जाती है और दूसरी जगह बैठाने की बात करती है तो वह टकुआ और गँडासा लेकर उसे वापस लाने जा पहुँचता है। उसे बेकारी के ताने मिलते हैं और उसकी बीवी कहती है कि, 'ले जाकर रखेगा कहाँ, घर में तो खाने को नहीं, पास ही बस्ती बस रही है, सब मजूरी करते हैं तू क्यों नहीं करता, पेट तो खाने को माँगेगा, मार से वह न भरेगा।' तो अपने अहं को छोड़कर

वह मिडिल पास युवक जो मजूरी करने से बचता आया था, आखिर मजूरी के लिए तैयार हो जाता है।

और वह उसकी बीवी – वह भरी दो एक ही सम्वादों में अश्क ने उसकी मनःस्थिति का चित्रण कर दिया है :

भरी : माँ चाहती है कि यहाँ से खुलासी हो तो ताऊ के लड़के घर बैठा दे और उसकी निस्बत मुझे सादिक ही मंजूर है

मरजाना : पर वह तो तुम्हें मारता है

भरी : मारता है, पर मैं मार खा लेती हूं !

मारता है, पर मैं मार खा लेती हूं—इस एक वाक्य में अश्क ने क्या कुछ नहीं भर दिया ? इसके बाद जब भरी सादिक से होने वाली अपनी बात चीत का उल्लेख करती है कि किस प्रकार वह उसकी खातिर मजूरी करने को तैयार हो गया है तो हम जान लेते हैं कि दोनों किस प्रकार एक दूसरे को प्यार करते हैं और कैसे उन परिस्थितियों का शिकार हैं, जिन पर उनका कोई बस नहीं।

अन्त में जब हम सुनते हैं कि लिएटल की छत के टूट जाने से सादिक मर गया तो उस युवक के लिए जो क्षण भर को भी रंग-मंच पर नहीं आता और जिसके मनोविज्ञान का पूरा चित्र हमारे सामने नाटककार की कुशलता ने खींच दिया है, मन अनायास एक गहरी व्यथा से भर आता है।

'देवताओं की छाया में' से 'चरवाहे' के नाटकों तक पहुँचते-पहुँचते अश्क की यह शैली प्रौढ़ता पा लेती है। अपने पात्रों के मनोविज्ञान को दर्शाने का यह ढंग उन्होंने बड़ी सफलता से 'चरवाहे', 'चिलमन' और

'मैमूना' में अपनाया है। 'चरवाहे' में गोविन्द, 'चिलमन' में शशि और 'मैमूना' में साजिद मंच पर नहीं आते, पर हम उनके मनोविज्ञान को पूरी तरह समझ जाते हैं। फिर इन परोक्ष पात्रों की सहायता से रंगमंच पर उपस्थित रहने वाले पात्रों के मनोविज्ञान का दिग्दर्शन अश्क ने बड़ी सफलता से कराते हुए उनके अर्ध-चेतन की गुफाओं से उन सत्यों का उद्घाटन किया है जिन्हें कदाचित पात्र स्वयं भी नहीं जानते......

...क्या हरि जानता है कि वह अपनी बीमार पत्नी के सिरहाने दिन रात सेवा सुश्रूषा में रत केवल इसलिए है कि वह उससे प्रेरणा पाकर वेदना भरी कविताएँ लिखे और कविताओं के आकर्षण से शशि को बनारस से खींच बुलाये।

...क्या आमना जानती है कि वह साजिद से प्रेम न करती थी, पर उसकी दौलत से मुहब्बत करने लगी है और इसी लिए उसका पुराना प्रेमी अरशद जिससे वह साजिद की ज़िन्दगी में प्रेम करती रही, अब उसे अनपढ़, अशिष्ठ, ग़रीब और गँवार सा प्रतीत होने लगा है।

...क्या सरिता जानती है कि वह गौतम से नहीं अपनी कल्पना से प्रसूत उसके चित्र से प्रेम करती है, जिसे उसके पत्रों को पढ़कर उसने बनाया है।

पात्र वह सब नहीं जानते, किन्तु उन चरित्रों के अन्तर-मन के उन निगूढ़ मनोवैज्ञानिक सत्यों को एक वेत्ता की तरह लेखक ने स्पष्टतर करके हमारे सामने रख दिया है।

अपने पात्रों के मनोवैज्ञानिक सत्यों का निरूपण करने के लिए अश्क कोई विशेष दृश्य अथवा कोई असाधारण वस्तुस्थिति का चुनाव नहीं करते, बल्कि जैसा कि अमृत बाज़ार पत्रिका के समालोचक ने 'चरवाहे'

की आलोचना करते हुए लिखा है :

> Every situation is a natural corollary of events & man goes on unfolding himself under these situations.

तथा :

> The characters in these plays reveal themselves as they move and live in all their physical settings & what a marvellous insight he (the writer) has in the nature of man.

और इस मानव को अश्क ने किसी तंग छोटे घेरे से लेकर उसके मनोविज्ञान का चित्रण नहीं किया। अश्क के नाटकों में रंगरंग के इंसान अपनी आशाओं, निराशाओं, हसरतों, अरमानों, मनोवेगों और ग्रन्थियों के साथ मिलते हैं—'चरवाहे' की रत्नी और कान्त ही को नहीं, रत्नी के मामा-मामी, गोविन्द और राजा, जसोदा और किश्नी—सब को हम जान लेते हैं और 'मैमूना' में आमना और अरशद ही नहीं ख़ैरन और बतूलन, मैमूना और फ़रीद—अम्मा द्वारा बिगाड़े जाते उस नन्हें से बच्चे—को भी हम जानते हैं। जब वह बतूलन से कहता है कि मम्मो तो ख़ैरन बी की बेटी है तो हम पाते हैं कि आमना कैसे अनजाने अपने ही दो बच्चों में एक कभी न पटने वाली खाई पैदा कर रही है और बच्चे का मन अपनी ही बहन से उपेक्षा करने लगा है। रही मैमूना तो उसके हीन-भाव का चित्रण अश्क ने बड़ी ही गहरी हमदर्दी के संस्पर्श से चित्रित किया है। 'चुम्बक' में अश्क ने गोपा, सरिता और गौतम के मनोविज्ञान का बड़ा ही सुन्दर खाका खींचा है और 'चिलमन' में हरि, मनोहर और किरण अपनी दबी-छिपी आकांक्षाओं को लेकर आते हैं।

"उनसे कह दो, इस कमरे में बैठकर ब्रिज खेलें, मैं केवल देखूँगी"

किरण के इस एक वाक्य में जीवन के लिए कितनी छटपटाहट है ? वह जानती है कि वह मर रही है, पर दूसरों को जीवित देखकर, हँसते-खेलते देखकर जीवित होने का आभास पा लेना चाहती है।

और 'सूखी डाली' की वे इतनी ढेर सी स्त्रियाँ, किस कुशलता से अश्क ने चंद स्पर्शों से प्रत्येक के भिन्न-भिन्न मनोवेगों का दिग्दर्शन करा दिया है।

'देवताओं की छाया में' और 'चरवाहे' के एकांकियों के अतिरिक्त 'तूफ़ान से पहले' और 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' के एकांकियों और आदि मार्ग के बड़े नाटकों और फिर 'कैद' और 'उड़ान' और 'पैतरे' और 'अलग अलग रास्ते' में अश्क ने लाहौर के निकटवर्ती देहात की सीधी साधी युवती से लेकर बम्बई की 'टेढ़ी बैंगी' आया तक, देहात के स्वस्थ पर स्वच्छन्द चरवाहों से लेकर फ़िल्म की दलदल में फँसे एक्टरों, डायरेक्टरों और लम्पटों तक—क्लर्कों, लेखकों, वकीलों, डाक्टरों, सुकवियों, कुकवियों, मजमा लगाने वाले शोहदों, गुण्डों, मानव से घृणा करने और मानव के उत्कट प्रेम की ख़ातिर अपने प्राण तक होम कर देने वालों—कहने का तात्पर्य यह है कि एक विस्तृत क्षेत्र में मानव को समझने और समझाने का प्रयास किया है।

अश्क के मनोवैज्ञानिक नाटकों को पढ़ कर हम अपने आपको जानने में सफल होते हैं और जैसा कि अमृत बाज़ार पत्रिका के आलोचक ने ठीक ही कहा है :

"We feel, having read these plays that we are now greater as men & women, having known some thing which we saw yet did not know. We feel that our own life has become richer & deeper after having finished these plays. And it is here that Ashk emerges as a great playwright.

अश्क के प्रहसन

साहित्य में हास्य और व्यंग्य सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त करने के प्रभावशाली और कलात्मक साधन हैं। विशेषतः सामाजिक नाटकों की रचना में पटु कलाकार इन दोनों गुणों का प्रयोग ठीक उसी प्रकार करता है जैसे कोई सर्जन फोड़े का आपरेशन करने के लिए तेज़ धार वाले चाकुओं का! सफल व्यंग्य तेज़ धार वाले चाकू ही की तरह पैना होता है जो सामाजिक समस्याओं के फोड़ों का आपरेशन बड़ी खूबी से करता है। शा के नाटकों में यह एक बहुत बड़ी खूबी रही है। संक्रांति-कालीन सहित्य में तो इनका सफल प्रयोग वही कलाकार अपनी रचनाओं में कर सकता है जो कला के सामाजिक दायित्व के प्रति विशेष रूप से जागरूक हो; जो जातीय कुरीतियों, रूढ़िगत संस्कारों, समाज के वर्गीय स्वरों में छिपे मिथ्या-विश्वास-जन्य-राग-द्वेषों,

विषमताजन्य उत्पीड़नों और इन सब से पैदा होने वाली सांस्कृतिक विकृतियों पर प्रहार करता है और जो विश्वास रखता है कि इस युग के कर्दम में नये इन्सान का कमल खिलाने के प्रयत्न में, बीज रूप से उसका भी कुछ योग है।

वैसे तो अश्क के सभी नाटकों में व्यंग्य का पुट है, पर उनके प्रहसनों* में तो इसकी मुक्त छटा देखने को मिलती है। अश्क के दो तीन प्रहसन उनके एकांकी संग्रह 'देवताओं की छाया में', दो तीन 'पक्का गाना' में और सात 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' में संकलित हैं और उनका पूरा नाटक 'पैतरे' तो आरम्भ से अन्त तक एक प्रहसन ही है। इन नाटकों के अतिरिक्त 'छठा बेटा', 'अंजो दीदी' और 'स्वर्ग की झलक' में भी, अश्क के प्रहसनों की भाँति, व्यंग्य और हास्य स्वाभाविक, सशक्त और प्रभावशाली ढंग से अन्तर्निहित है। इसका अर्थ यह नहीं कि ये प्रहसन व्यंग्य की चोट दिखाने और केवल हँसी के लिए हास्य प्रस्तुत करने वाले मनोरंजक करिश्मे हैं। बल्कि इन प्रहसनों में सामाजिक यथार्थ के उद्‌घाटन में हास्य और व्यंग्य सहज रूप से सहयोगी बने हैं और वे एक हृदय स्पर्शी संकेत हैं। यदि एडिसन के शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि अश्क के प्रहसनों में सच्चा हास्य (True Humour) है, हिन्दी साहित्य का वह झूठा और फूहड़ हास्य (False & Crude humour) नहीं, जो केवल मज़ाक के लिए मज़ाक एवं अच्छाई और बुराई, सभी के विद्रूप के रूप में पिछले दिनों लिखा जाता रहा है, जिसका प्रयोग यथार्थ के उद्‌घाटन के

*प्रहसन का मतलब यहाँ प्राचीन रूपक के उस भेद से नहीं जिसमें हास्य रस के साथ काव्य इत्यादि होता था, बल्कि यह शब्द यहाँ अपने विस्तृत रूप में प्रयुक्त है और इसमें Farce तथा Sarcasms इत्यादि हास्य-व्यंग्य भरे सभी नाटक शामिल हैं।

लिए नहीं, केवल ज़बरदस्ती गुदगुदाने के लिए किया गया और जो 'शा' के शब्दों में हँसी के साथ आँखों में एक बून्द आँसू नहीं झलका सकता। अश्क के हास्य और व्यंग्य के ये नाटकीय प्रयोग हिन्दी साहित्य में स्वस्थ और प्रभावशाली हास्य और व्यंग्य का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं और साथ ही यथार्थवादी रचना शैली को आगे बढ़ाते हैं।

हिन्दी में प्रहसन लिखने का प्रारम्भ भारतेन्दु से होता है। भारतेन्दु ने उस समय जो प्रहसन लिखे, वे भी सामाजिक यथार्थ को प्रकट करने की आवश्यकता और प्रेरणा से लिखे गये थे। यद्यपि उनमें कला की इतनी परिपक्वता नहीं मिलती, फिर भी संक्षेप रूप में उस युग में ऐतिहासिक दृष्टि से उनका विशेष महत्व है। वे हिन्दी साहित्य की प्रगतिशील परम्परा की एक कड़ी हैं। भारतेन्दु ने अपने प्रहसनों और नाटकों में उस समय की पराधीनताजन्य सामाजिक दुरावस्था का चित्रण करने का प्रयत्न किया है। भारतेन्दु बाबू केवल नाटक और प्रहसन लिखते ही न थे, बल्कि उन्हें रंगमंच पर प्रस्तुत करने के लिए भी बेचैन रहते थे। भारतेन्दु द्वारा चलाई गई राष्ट्रीय प्रगतिशील परम्परा की यह कड़ी नाटककार प्रसाद के समय उपेक्षित हो गई। नाटक में श्रव्य काव्य के गुणों के समावेश पर अधिक ध्यान दिया गया और उसके दृश्यत्व गुण की उपेक्षा कर दी गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी रंगमंच ही मृतप्राय हो गया और नाटक केवल पाठ्य-साहित्य के रूप में रचे जाने लगे। किन्तु प्रसाद के बाद के हिन्दी नाटककारों ने अपनी इस कमी को महसूस किया। विशेषतः अश्क ने रंगमंच का

ध्यान रख कर सर्वाधिक सफल नाटकों की रचना की। उन्होंने सामाजिक समस्याओं को यथार्थवादी कलात्मक ढंग से अपने प्रहसनों और नाटकों में उभारकर, भारतेन्दु-युग से प्रारम्भ होने वाली और बीच में उपेक्षणीय, नाटकों की प्रगतिशील परम्परा को आगे बढ़ाया।

अश्क के प्रथम नाटक संग्रह 'देवताओं की छाया में' में तीन प्रहसन 'जोंक', 'अधिकार का रक्षक' और 'आपस का समझौता' और एक हास्य भरी झाँकी 'पहेली' संकलित है। इनमें जोंक को छोड़ कर शेष तीनों प्रहसन सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करते हैं। पहले 'जोंक' को लें :

जोंक—केवल फ़ार्स (Farce) है। अश्क का उद्देश्य इस नाटक को लिखने में शायद किसी व्यक्तिगत अनुभव को व्यक्त करना मात्र था अथवा 'मान न मान मैं तेरा मेहमान' का यथार्थ चित्र उपस्थित करके पाठकों को ऐसे 'तू कौन' मैं खाम-म-खाह !' टाइप के अतिथियों से खबरदार करना अथवा एक भलेमानुस की भलमंसी का चित्रण करना और बताना कि चंट लोग उस भलमंसी का कहाँ तक अनुचित लाभ उठाते हैं अथवा केवल शुद्ध हास्य प्रस्तुत करना था। उनका उद्देश्य कुछ भी क्यों न हो, कला की दृष्टि से उनका यह प्रहसन बड़ा सफल उतरा है और कई जगह सफलता से खेला भी गया है।

पहेली—एक छोटी सी झाँकी है जिसमें वर्ग पहेलियाँ (Crossword Puzzles) हल करने वाले युवकों की मनोवृत्ति की हल्की सी झलक है। प्रकट है कि अश्क इस समस्या को पूरी तरह पेश नहीं कर सके। कदाचित वे स्वयं उससे संतुष्ट नहीं, क्योंकि अपने उपन्यास

'गर्म राख' में वे फिर उस ओर पलटे हैं और उन्होंने एक पूरा परिच्छेद ऐसे लोगों पर सर्फ़ किया है।

इन दो एकांकियों के अतिरिक्त 'अधिकार का रक्षक', 'आपस का समझौता' और 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' संग्रह के सात एकांकी नाटक और 'पक्का गाना' संग्रह के प्रहसन—'नया पुराना', 'बहनें' और स्वयं 'पक्का गाना'—सभी सोद्देश्य हैं। अश्क ने इन प्रहसनों में वर्तमान समाज की अनेक समस्याओं को यथार्थ दृष्टि से उभार कर प्रस्तुत किया है। वस्तु का चयन ज़्यादातर मध्यवर्गीय जीवन से किया गया है। अश्क के वस्तु-चयन की दृष्टि की विशेषता यह है कि वह किसी जाग्रत समस्या, आकर्षक घटना और मनोरंजक चरित्र को देखते ही उनमें से किसी एक को चुनने की जल्दी नहीं करते, बल्कि ऐसी वस्तु का चयन करते हैं, जिसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति नाट्य-रचना में हो सकती है। वस्तु-चयन में यथार्थवादी शिल्पी की यह दृष्टि उसे उत्कृष्ट कला का उदाहरण प्रस्तुत करने ही में समर्थ नहीं बनाती, बल्कि वस्तु में अन्तर्निहित सामाजिक सत्य को भी प्रभावशाली ढंग से समुपस्थित करने की शक्ति देती है। कम-से-कम नाट्य-रचना में वस्तु-चयन के लिए यह शिल्प-दृष्टि होना बहुत अपेक्षित है। ऐसा न होने पर नाटक की नींव ही इतनी कमज़ोर हो जाती है कि रंगमंच पर उसका रंग-महल खड़ा करना असम्भव हो जाता है। फिर न तो उसमें समय की एकता निबाही जा सकती है और न कार्य-व्यापार की!

हिन्दी में वस्तु-ग्रहण करने में शिल्प की दृष्टि से पिछले नाटकों में ऐसी भूलें हो गई हैं। इनका एक मात्र कारण यह था कि वस्तु-चयन के सम्बन्ध में उन नाटककारों की जो दृष्टि थी, वह श्रव्य-काव्य की शिल्प-दृष्टि थी, इसलिए उन्होंने नाटक में भी कविता ही अधिक की।

या यों कह सकते हैं कि उनके नाटकों में उच्च कोटि के काव्य-गुण तो मौजूद हैं, किन्तु नाट्य-गुण कम। ऐसे नाटककार श्रव्य-काव्य की रचना करके फिर मांग करते हैं कि उनके नाटक के अनुकूल रंगमंच का निर्माण किया जाय। होता यह है कि उनके नाटक मात्र पाठ्य बन कर रह जाते हैं। यद्यपि जो नाटक रंगमंच पर पूर्ण-रूप से अभिनेय नही है, वह उतनी ही मात्रा में सुपाठ्य भी नहीं हो सकता। शास्त्रीय दृष्टि से भी ऐसे नाटक का रस-बोध पाठक को पूर्ण रूप से नहीं हो सकता और यदि हो सकता है तो जभी, जब नाटक पढ़ते समय पाठक के मानस-पटल पर उसके दृश्य, अभिनय और चरित्र सब साकार होने लगें और यह तभी हो सकता है, जब नाटक नाटक हो, कविता नहीं। इसके लिए आवश्यक है कि नाट्यकीय वस्तु के चुनाव में नाटककार की दृष्टि पैनी हो, या अनगढ़ वस्तुजगत में से किसी वस्तु को एक नाटकीय इकाई बना देने की उसमें क्षमता हो अश्क में ये दोनों ही बातें हैं।

इन नाटकों के वस्तुविन्यास में पैदा होने वाली परिस्थितियाँ चरित्रों के विकास या नाटक के वस्तुगत उद्देश्य के परिपाक में स्वाभाविक रूप से सहायक होती हैं। उनमें जोड़-तोड़ नहीं, बल्कि एक परिस्थिति के गर्भ से दूसरी परिस्थिति का जन्म होता चलता है।

अधिकार का रक्षक—एक कांग्रेसी नेता के दो-रुखे जीवन का पर्दा फ़ाश करता है जो कहता कुछ है और करता कुछ है। यद्यपि यह नाटक लगभग १५ वर्ष पहले लिखा गया, पर इसमें प्रस्तुत चित्र आज भी उतना ही सच्चा है जितना पन्द्रह वर्ष पहले और इसीलिए आज भी उतना ही लोकप्रिय है, और थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ निरन्तर खेला जा रहा है। समय-साधकता जब तक राजनीतिक शिखर पर

पहुँचने के लिए सीढ़ी का काम देगी, इस नाटक की सामाजिक यथार्थता और उपादेयता कम न होगी।

आपस का समझौता—भी उसी ज़माने में लिखा गया पर आज भी उतना ही सच्चा है। ये डाक्टरों की डकैती पर व्यंग्य करता है, जो आज और भी बढ़ गई है। डाक्टर आपस में मिलकर मरीज़ को क्या हानि पहुँचा सकते हैं, इसकी एक झलक इस एकांकी में मिलती है। इस समस्या के और भी पहलू हैं और अश्क जी को उन पर भी लिखना चाहिए। 'आपस का समझौता' के डाक्टर वर्मा सफल नहीं होते, पर जहाँ डाक्टर इस समझौते में सफल रहते हैं. मरीज़ की हजामत किस उलटे छुरे से करते हैं, यह भी अश्क को किसी दूसरे एकांकी में दिखाना चाहिए।

पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ—इसी नाम के संग्रह का पहला एकांकी है। इसमें एमेचर क्लबों की कठिनाइयों का यथार्थ चित्रण किया गया है। इसमें एमेचर नाटक-क्लबों में काम करने वाले शौकीन, नौसिखिए अभिनेताओं की कमज़ोरियों और व्यवस्था की गड़बड़ी और पहली बार स्टेज पर आने वालों की घबराहट का इतना सुन्दर चित्रण हुआ है कि दर्शक हंसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं। अश्क प्रायः इस नाटक को स्वयं सुनाते हैं—सभी पात्रों की भूमिका में एक्ट करते हुए—और उनके सुनाने का ढंग ऐसा लाजवाब है कि हँसी रोकना लगभग असम्भव है। १६५१ के दिसम्बर में जब पृथ्वीराज कपूर अपने थीएटर के साथ इलाहाबाद गये तो एक शाम अपने साथियों के साथ अश्क जी के यहाँ भी पहुँचे। चाय आदि के बाद अश्क जी ने कपूर साहब से कहा कि आप लोग तो बड़े सफल अभिनेता हैं, चाहते हैं तो लोगों को रुलाते हैं या चाहते हैं तो हँसाते हैं, मैं आज आपको एक

छोटा सा एकांकी महज़ सुना कर ही हँसा दूँगा।

और वे 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' अभिनय के साथ पढ़ने लगे, कुछ समय बाद मिसेज़ कपूर, उनकी भाभी, मिसेज़ कैफ़ी आज़मी, उज़रा मुमताज, ज़ोहरा सहगल, शम्मी कपूर, राजन, सुदर्शन सेठी—सबके सब ठहाके मार कर हँसने लगे, लेकिन स्वयं पृथ्वीराज कपूर कुहनी तकिये पर टिकाये, ठोड़ी हथेली पर रक्खे मौन सुनते रहे। अश्क कुछ घबराये भी, पर उनके पढ़ने के ढंग में अन्तर नहीं आया। आखिर जब अश्क जी ने रामकिशन की भूमिका करके दिखाई तो कपूर साहब और जब्त न कर सके। ठहाका मार कर हँस दिये। और फिर जो हँसे तो अंत तक हँसते रहे।

नौसिखिए लोग नाटक करने में कैसी ग़लतियाँ कर जाते हैं, इस बात को हास्य के पुट के साथ इस प्रहसन में व्यक्त करना अश्क जैसे अनुभवी नाटककार ही का काम है। क्योंदि जिस नाटककार को रंग-मंच का अनुभव नहीं (जैसा कि हिंदी के अनेक नाटककारों को नहीं है) वह ऐसा नाटक लिखने का साहस नहीं कर सकता। यह पूरा नाटक एमेचर-क्लबों की व्यवस्था पर एक व्यंग्य है।

कइसा साब कइसी आया—इस संग्रह का दूसरा नाटक है, जो बम्बईया हिन्दुस्तानी में लिखा गया है। यह चरित्र प्रधान एकांकी है, जिसमें बम्बई में घरेलू काम करने वाली एक नौजवान आया के बुभुक्षित मन की झांकी, उसके चरित्र में उभर कर सामने आ जाती है। इस एकांकी में बम्बई में बोली जाने वाली खिचड़ी हिन्दुस्तानी का प्रयोग बड़े प्रवाहपूर्ण ढंग से किया गया है और आया का यह खिचड़ी भाषा बोलना उसके चरित्र को उभारने में बड़ा सहायक है। नाटक की दूसरी खूबी यह है कि इसमें लगभग सारे का सारा वक्त आया ही बोलती

है। साहब एक आध वाक्य के अतिरिक्त कुछ नहीं कहता, पर इतने ही से अश्क ने उसका चरित्र और उसकी दुबिधा स्पष्ट कर दी है। नाटक की कला स्ट्रिंगबर्ग के 'स्ट्राँग' की याद दिलाती है।

हिन्दी नाटकों में चरित्र के साथ मेल बैठाते हुए, इस प्रकार लोक-भाषाओं का सफल प्रयोग शायद सर्व-प्रथम अश्क ही ने किया है।

बतसिया और तौलिये—इस संग्रह की सर्व-श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। 'बतसिया' तीन अंकों का प्रहसन है। इसमें भारतीय मध्यवर्गीय ईसाइयों के पारिवारिक जीवन की एक झाँकी है, जो उनकी कई कमज़ोरियों पर व्यंग्य करती है। साथ ही सामाजिक रुतबे के बढ़ने पर कैसे स्वाभिमान जग उठता है और रुतबे के खत्म हो जाने के बाद भी किस प्रकार उसकी गंध वर्षों तक व्यक्ति के दिमाग में बसी रहती है, रस्सी जल जाती है, पर बल नहीं जाता – इस मनोवैज्ञानिक सत्य की ओर अश्क ने बड़ी सफलता से संकेत किया है। बीएट्रिस का 'बतसिया' बुलाये जाने पर बार बार कहना—'हुज़ूर मेरा नाम बीएट्रिस है—एक ही वाक्य की पुनरावृत्ति अथवा हँसी के लिए प्रयोग होने वाला तकिया-कलाम नहीं, बल्कि वह बतसिया से बीएट्रिस हो जाने वाली नौकरानी के सजग स्वाभिमान का परिचायक है, जिसका नाटक के पूरे वातावरण और कथानक पर प्रभाव पड़ता है। बार बार कुछ स्वभाव और कुछ घटना क्रम में उलझे रहने के कारण घर के लोगों द्वारा बतसिया बुलाये जाने पर, कभी खीझ से, कभी विजय से, कभी क्रोध से और कभी संतोष से उसके एक ही वाक्य—हुज़ूर मेरा नाम बीएट्रिस है—स्वभाविक रूप से दुहराने के लिए बड़ी ही सफल अभिनेत्री चाहिए। 'बतसिया' के अन्य पात्र—जॉन, ल्यूक्स, विवियन आदि भी परिस्थितियों के सहज समन्वय के साथ-साथ उभर कर सामने आते हैं।

छोटा सा एकांकी महज़ सुना कर ही हँसा दूँगा।

और वे 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' अभिनय के साथ पढ़ने लगे, कुछ समय बाद मिसेज़ कपूर, उनकी भाभी, मिसेज़ कैफ़ी आज़मी, उज़रा मुमताज, ज़ोहरा सहगल, शम्मी कपूर, राजन, सुदर्शन सेठी—सबके सब ठहाके मार कर हँसने लगे, लेकिन स्वयं पृथ्वीराज कपूर कुहनी तकिये पर टिकाये, ठोड़ी हथेली पर रक्खे मौन सुनते रहे। अश्क कुछ घबराये भी, पर उनके पढ़ने के ढंग में अन्तर नहीं आया। आखिर जब अश्क जी ने रामकिशन की भूमिका करके दिखाई तो कपूर साहब और जब्त न कर सके। ठहाका मार कर हँस दिये। और फिर जो हँसे तो अंत तक हँसते रहे।

नौसिखिए लोग नाटक करने में कैसी ग़लतियाँ कर जाते हैं, इस बात को हास्य के पुट के साथ इस प्रहसन में व्यक्त करना अश्क जैसे अनुभवी नाटककार ही का काम है। क्योंदि जिस नाटककार को रंग-मंच का अनुभव नहीं (जैसा कि हिंदी के अनेक नाटककारों को नहीं है) वह ऐसा नाटक लिखने का साहस नहीं कर सकता। यह पूरा नाटक एमेचर-क्लबों की व्यवस्था पर एक व्यंग्य है।

कइसा साब कइसी आया—इस संग्रह का दूसरा नाटक है, जो बम्बईया हिन्दुस्तानी में लिखा गया है। यह चरित्र प्रधान एकांकी है, जिसमें बम्बई में घरेलू काम करने वाली एक नौजवान आया के बुभुक्षित मन की झांकी, उसके चरित्र में उभर कर सामने आ जाती है। इस एकांकी में बम्बई में बोली जाने वाली खिचड़ी हिन्दुस्तानी का प्रयोग बड़े प्रवाहपूर्ण ढंग से किया गया है और आया का यह खिचड़ी भाषा बोलना उसके चरित्र को उभारने में बड़ा सहायक है। नाटक की दूसरी खूबी यह है कि इसमें लगभग सारे का सारा वक्त आया ही बोलती

है। साहब एक आध वाक्य के अतिरिक्त कुछ नही कहता, पर इतने ही से अश्क ने उसका चरित्र और उसकी दुबिधा स्पष्ट कर दी है। नाटक की कला स्ट्रिंगबर्ग के 'स्ट्राँग' की याद दिलाती है।

हिन्दी नाटकों में चरित्र के साथ मेल बैठाते हुए, इस प्रकार लोक-भाषाओं का सफल प्रयोग शायद सर्व-प्रथम अश्क ही ने किया है।

बतसिया और तौलिये—इस संग्रह की सर्व-श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। 'बतसिया' तीन अंकों का प्रहसन है। इसमें भारतीय मध्यवर्गीय ईसाइयों के पारिवारिक जीवन की एक झाँकी है, जो उनकी कई कमज़ोरियों पर व्यंग्य करती है। साथ ही सामाजिक रुतबे के बढ़ने पर कैसे स्वाभिमान जग उठता है और रुतबे के खत्म हो जाने के बाद भी किस प्रकार उसकी गंध वर्षों तक व्यक्ति के दिमाग में बसी रहती है, रस्सी जल जाती है, पर बल नहीं जाता – इस मनोवैज्ञानिक सत्य की ओर अश्क ने बड़ी सफलता से संकेत किया है। बीएट्रिस का 'बतसिया' बुलाये जाने पर बार बार कहना—'हुजूर मेरा नाम बीएट्रिस है—एक ही वाक्य की पुनरावृत्ति अथवा हँसी के लिए प्रयोग होने वाला तकिया-कलाम नहीं, बल्कि वह बतसिया से बीएट्रिस हो जाने वाली नौकरानी के सजग स्वाभिमान का परिचायक है, जिसका नाटक के पूरे वातावरण और कथानक पर प्रभाव पड़ता है। बार बार कुछ स्वभाव और कुछ घटना क्रम में उलझे रहने के कारण घर के लोगों द्वारा बतसिया बुलाये जाने पर, कभी खीझ से, कभी विजय से, कभी क्रोध से और कभी संतोष से उसके एक ही वाक्य—हुजूर मेरा नाम बीएट्रिस है—स्वभाविक रूप से दुहराने के लिए बड़ी ही सफल अभिनेत्री चाहिए। 'बतसिया' के अन्य पात्र—जॉन, ल्यूक्स, विवियन आदि भी परिस्थितियों के सहज समन्वय के साथ-साथ उभर कर सामने आते हैं।

चलते-चलते अश्क ने आज के वकीलों पर भी पुरज़ोर व्यंग्य कस दिया है कि कैसे आज की वकालत अपराध की रोक थाम के लिए नहीं, वरन् अपराध को बढ़ाने के काम आ रही है। और कई बार वकील स्वयं मुजरिमों से कम नहीं उतरते।

तौलिये—में एक आभिजात्य-संस्कारों में पली नारी की सनक का उद्घाटन किया गया है, जो घर में हरएक व्यक्ति के लिए कम-से-कम तीन तौलिये रखती है—शेव करने, नहाने, हाथ मुँह पोंछने आदि के लिए, अलग अलग! और आशा रखती है कि एक का तौलिया दूसरा न ले। उसका पति फक्कड़ है और हर बार भूल जाता है—इसी छोटी सी घटना को लेकर अश्क ने इतना सुन्दर मनौवैज्ञानिक प्रहसन लिखा है कि यह दिल्ली ही में पिछले दो वर्षों में तीन चार बार खेला गया है।

सयाना मालिक नौकर रखने वाले मालिकों पर हल्का सा व्यंग्य है।

कस्बे के क्रिकेट क्लब का उद्घाटन—ऐसा एकांकी है, जिसमें 'कइसा साब कइसी आया' की तरह एक ही पात्र बोलता है। इसके छोटे से आकार ही में अश्क ने क्लब के उद्घाटन-कर्ता लाला भाना मल और क्लब के मन्त्री के चरित्रों की काफ़ी रेखाएँ स्पष्ट कर दी हैं। यह व्यंग्यात्मक एकांकी दोहरी मार करता है, एक ओर तो वह उन क्लबों पर व्यंग्य करता है जो अपात्र लोगों को केवल उनसे मिलने वाले चन्दे के मोह से सभाओं के प्रधान बनाते हैं, दूसरी ओर वह उन धनी लोगों पर व्यंग्य करता है जो सभा सोसाइटियों और क्लबों के उद्देश्यों से किसी तरह के परिचय के बिना केवल ख्याति के मोह में प्रधान बन जाते हैं। 'कस्बे के क्रिकेट क्लब का उद्घाटन' का व्यंग्य सूक्ष्म है और यह एकांकी ड्राइंगरूप क्लबों के लिए लिखा गया है।

मस्केबाज़ों का स्वर्ग—इस संग्रह का अन्तिम प्रहसन है १६५२ के नाटक समारोह में यह 'नीटा*' की ओर से इलाहाबाद में श्री विजय बोस के निर्देशन में बड़ी सफलता से खेला गया। हमारे फ़िल्मी स्टूडियो के भीतरी वातावरण पर यह बड़ा गहरा व्यंग्य करता है। और इस की कला कोमेण्ट्री सरीखी है। एकांकी के छोटे मंच पर स्टूडियो के रंगा रंग पात्रों की झलक वस्तु के तारों में बाँध कर अश्क ने प्रस्तुत कर दी है।

पक्का गाना संग्रह में यहनें—आधुनिकाओं की कुण्ठा पर बड़ा गहरा व्यंग्य है। नया पुराना—बताता है कि कैसे आजकल दयानतदारी और सच्चाई नाम की चीज़ मूर्खता समझी जाती हैं। इस नाटक में कला का भी एक नया प्रयोग अश्क ने किया है।

पक्का गाना—अश्क के प्रहसनों में न केवल कला का एक नया प्रयोग है, बल्कि वस्तु के विचार से बड़ा सफल प्रयोग है। यह एक साहित्यिक कंसर्ट है, जिसमें अश्क ने यह प्रयास किया है कि दर्शकों को भिन्न रसों का आभास मिले—कविता, हल्के गाने, प्रहसन, ग़ज़ल, गम्भीर नाटक, नाच और पक्का गाना—सब इस कलेवर में बड़ी दक्षता से सभो दिये गये हैं, पर यह गठबंधन अस्वाभाविक नहीं, बड़ी चतुराई और कारीगरी से अश्क ने इनको एक तार में पिरोया है—ऐसे कि छिन्न-भिन्न होने पर उनका कोई अस्तित्व नहीं। व्यंग्य की काट इसमें बड़ी गहरी है। हमारी रुचि किस प्रकार भ्रष्ट हो रही है और किस प्रकार अच्छा आर्ट आम लोगों को पक्के गाने सा लग रहा है, किस प्रकार घटिया फ़िल्मी गाने शास्त्रीय संगीत पर छा रहे हैं, यह अश्क ने बड़ी खूबसूरती से इस नाटक में दिखाया है।

---

*नार्थ इंडियन थीएट्रिकल एसोसीएशन इलाहाबाद।

अश्क ने इन सभी नाटकों में विभिन्न नाटकीय तत्वों का इस प्रकार समन्वय किया है कि लगता है एक तत्व दूसरे का पूरक है और वे सब मिलकर ही नाटक को पूर्णता की ओर ले जाते हैं। पात्र, सम्वाद, परिस्थिति और चरित्र-चित्रण एक दूसरे को दबाकर अपना विकास नहीं करते। इसलिए लेखक जो प्रभाव अपने नाटक के माध्यम से दर्शक तक पहुँचाना चाहता है, सफलता पूर्वक पहुँचा देता है ! इन नाटकों के चरित्रों में किसी-न-किसी प्रकार की सनक है और हो सकता है लेखक ने जीवन में आये कई व्यक्तियों की विभिन्न सनकों को एक चरित्र में समाहित करके या अनेक में विभाजित करके उन्हें उभारा हो। फिर भी वे यथार्थ और स्वाभाविक हैं उनसे दर्शक का तदात्म्य होता है। कुछ लोगों को आपत्ति है (मैं इसे आपत्ति ही कहूँगा) कि अश्क फार्मलिस्ट हैं, शैलीकार हैं, उनमें जीवन की उतनी आन्तरिक गहराई (डेप्थ) नहीं है। उन्हें यह बात जरा ध्यान से देखनी चाहिए कि अश्क वस्तुगत सत्य को कभी शिल्प के चमत्कार के लिए बलिदान नहीं करते, बल्कि उस सत्य को यथार्थ रूप में उभारने का सहज प्रयत्न करते हैं। उनका नाटक तौलिये ही लीजिए। बड़े हल्के फुल्के ढंग से ऐसे गहरे मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन अश्क ने उसमें किया है कि ज़रा दोबारा ग़ौर करने पर आदमी को चकित रह जाना पड़ता है, पर उन्होंने यह सब इतने सीधे ढंग से कर दिया है कि किसी आयास का बोध नहीं होता। अश्क का यह प्रयत्न ही उनकी टेकनिक है। इस यथार्थवादी टेकनिक में बड़ी-से-बड़ी मनोवैज्ञानिक गहराई को भी वे इतने सहज, ग्राह्य और सरल ढंग से व्यक्त कर देते हैं कि लगता है कि वह गूढ़ नहीं। इसलिए अश्क के प्रहसनों में जीवन की गहराई गूढ़ता या रहस्य बनकर नहीं प्रकट होती।

अश्क के दुखान्तकी

वर्तमान भारतीय नाट्य-साहित्य को अपनी प्राचीन नाट्य-परम्परा से विरासत में दुखान्तकी नाटकों की रचना-शैली नहीं प्राप्त हुई है, बल्कि आज जो पश्चिम के सम्पर्क से नाटकों में कला-वैविध्य आया है, उससे प्राप्त हुई दुखान्तकी शैली का जो स्वतन्त्र विकास हुआ है, उसका प्राचीन नाट्य-विधान में जागरूक निषेध ही मिलता है। संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों और नाटकों में दुखान्तकी के निषेध के पीछे एक उदात्त दृष्टिकोण भी था। वस्तु-विकास में आरम्भ से लेकर फलागम तक नायक के चरित्र की श्रेष्ठता तथा सफलता को प्रमाणित किया जाता था। फिर अन्त में दुखात्मक दृश्य का होना कैसे सम्भव था। इस विधान के पीछे एक आदर्शवादी भावना थी कि सांसारिक दर्शकों को नाटक देख कर आशा, सुख और शांति ही प्राप्त हों; निराशा, दुख और द्वन्द्व

नहीं। इस लिए रंगमंच पर मृत्यु, युद्ध और ऐसे ही अनेक वीभत्स दृश्यों का दिखाना वर्जित था। संस्कृत में केवल भास-रचित नाटक (व्यायोग) उरुभंग दुखान्तकी है। इसके अन्त में भीम और दुर्योधन के गदायुद्ध का वर्णन और दुर्योधन की मौत का करुण दृश्य है। इसके विपरीत भवभूति का उत्तर-रामचरित नाटक करुण रस से ओत-प्रोत है, फिर भी दुखान्तकी नहीं है। भवभूति स्वयं करुण रस को श्रेष्ठ मानते थे- 'एकोरसः करुण एव। गोवर्धनाचार्य ने आर्यसप्तशती में कवि भवभूति की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि उनके करुण भाव से और तो और पत्थर भी रो पड़ते हैं—एतत्कृत कारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा—किन्तु पत्थर को रुलाने वाला करुण नाटक 'उत्तर-रामचरित' फिर भी दुखान्तकी नहीं है। दूसरी ओर भास का उरुभंग (व्यायोग) करुण रस का न होकर भी दुखान्तकी है। स्पष्ट है कि इस भेद का कारण वह आदर्शवादी दृष्टिकोण ही है, जो भारतीय साहित्य के जीवन-दर्शन में गर्भित है और जिससे प्राचीन काल में सारे कला-तन्त्र का विधान नियन्त्रित होता है।

इसके विपरित पश्चिम में नाटक का आदि रूप ही दुखान्तकी से शुरू होता है। यूनान में डायोनिसियस देवता की सामूहिक पूजा में ऋतु परिवर्तन के समय होने वाले उत्सवों और सहगानों की मूल-प्रेरणा ग्रहण कर, न केवल यूनानी या पश्चिमीय नाट्य-कला का जन्म हुआ, बल्कि दुखान्तकी नाटकों का भी जन्म वहीं से माना जायगा। यूनानी विचारक अरस्तु ने सर्वप्रथम दुखान्तकी को परिभाषित किया। अरस्तु मूल्तः प्रत्येक कला को अनुकरण ही मानते हैं और नाटक को भी उन्होंने रंगमंच पर महत्वपूर्ण-जीवन-व्यापार का अनुकरण माना है। दुखान्तकी का मूल वे यही मानते हैं।

दुखान्तकी के विवेचन में उन्होंने उन्हीं तत्वों को श्रेष्ठ माना है जो एक श्रेष्ठ नाटक की रचना में सहायक होते हैं। किन्तु साथ ही यह भी माना है कि सौन्दर्ययुक्त अनुकरण से भय और करुणा के संचार द्वारा भावुकता की परिष्कृति होती है। अरस्तु ने भय और करुणा के संचार की तुलना रोगी को रोगमुक्त करने वाले विरेचन से की है जो रोगी के शरीरस्थल मल को साफ़ करता है। उसी तरह भय और करुणा का संचार पाठक के मन की शुद्धि करता है। नाटक का श्रेष्ठ नायक, जो आदि और मध्य तक अपने गुणों की उदात्तता से वातावरण को प्रभावित करता है, दुर्भाग्य, परिस्थिति या किसी स्वाभाव-गत दुर्बलता के कारण अन्त में शारीरिक या आध्यात्मिक पतन की ओर उन्मुख होता है तो दर्शक या पाठक के मन का घनीभूत दम्भ पिघल जाता है और उसे दुर्गुणों की ओर से सचेत कर देता है। जिन आलोचकों ने वासनाओं के द्वन्द्व को नाटक का मूल-रूप माना है, उनके अनुसार भी परिणाम यही निकलता है कि द्वन्द्व का वाह्य-रूप नायक के चरित्र में दिखाई देता है और संघर्ष में नायक की सफलता नाटक को सुखान्त और असफलता दुखान्त बना देती है। दुखान्तकी में नायक की शारीरिक या आध्यात्मिक मृत्यु से उत्पन्न-करुणा से दर्शक द्रवित होता है और भय से आतंकित ! शायद इसीलिए अरस्तु ने दुखान्तकी को केवल करुणा का उद्रेक करने वाला ही नहीं माना, बल्कि भय भी उसके प्रभाव का एक अनिवार्य परिणाम माना है। इस पारिभाषिक विवेचन की पृष्ठ-भूमि में यूनान के उस द्वैत-जीवन-दर्शन की सामाजिक परिस्थितियाँ हैं, जिन्होंने एक ओर तो वासना से विरक्ति का दार्शनिक उपदेश दिया था और दूसरी ओर वैराग्य के विरोध में शारीरिक-सौन्दर्य के विकास के लिए अनुरक्ति की प्रेरणा दी थी। अरस्तु की यह परिभाषा

सौन्दर्य और अध्यात्म, डायोनिसियस और एपॉलो के समन्वय की ओर संकेत करती है। इसी लिए यूनान के दुखान्त-नाटकों की कल्पना और सौन्दर्य में वहां के सामाजिक जीवन की झांकी विद्यमान है।

मध्य युग या उससे कुछ पहले पश्चिम के अन्य दूसरे देशों में नाटक-रचना में यूनानी नाट्य-विधान का ही अधिकतर अनुकरण किया गया, किन्तु शेक्सपियर के पहले उस समय की दुखान्तकी शैली के विकसित उदाहरण प्रस्तुत करने में कोई दूसरा नाटककार उतना समर्थ न हो सका जितना शेक्सपियर। शेक्सपीयर की दुखान्तकी शैली दुखान्तकी के अनुकरण की शुद्ध शास्त्रीयता के विरुद्ध रोमाण्टिक विद्रोह के रूप में प्रस्फुटित हुई है, यद्यपि शेक्सपियर पर इलिज़ाबेथियन युग की सेनेका-शैली के प्रतिशोधात्मक दुखान्तकी (Revenge Tragedy) या जिसे ट्रेजिडी आफ़ ब्लड (Tragedy of Blood) भी कहते हैं, का भी प्रभाव था। यही कारण है कि शेक्सपियर के नाटकों में ईर्षा और प्रतिशोध की आग स्थान-स्थान पर सुलगती दिखाई देती है। कहीं-कहीं लगता है जैसे ईर्षा-प्रतिशोध और हत्या ही शेक्सपियर के नाटकों को ट्रेजिक बना देते हैं। शेक्सपियर के 'जूलियस सीज़र', 'मैकबेथ', 'हैमलेट' और 'ओथेलो' आदि में इन बातों को स्पष्ट देखा जा सकता है। शेक्स-पियर के नाटकों में हत्या, ईर्षा और द्वेष के संघर्ष से मानवीय उदात्त भावनाओं को प्रतिफलित किया गया है। किन्तु भारतीय नाटकों में इस प्रकार का प्रतिशोधात्मक प्रदर्शन रंगमंच के लिए वर्जित था। शेक्सपियर ने उच्च, सम्पन्न वर्ग के नायकों का चुनाव अपने नाटकों के लिए किया (प्राचीन भारतीय नाटकों में भी अधिकतर उच्चवर्गीय नायक ही मिलते हैं) इस समय के दुखान्तकी की श्रेष्ठता के बावजूद, उसमें जीवन का वैविध्य और संकलन-त्रय एक साथ नहीं था जो बाद के नाटककारों

की नयी चेतना ने प्रयुक्त किया। नायकों को केवल एक (उच्च) वर्ग से ग्रहण करने की प्रथा को खंडित किया गया और शेक्सपियर के समय ही में वैविध्यपूर्ण सामान्य मानवीय जीवन से वस्तु और पात्र को ग्रहण करके मिश्रित नाटकों का विकास हुआ, जिन्हें न तो पूरी तरह सुखान्तकी कहा जा सकता था और न दुखान्तकी! और पीछे मुड़ कर देखने से ऐसा लगता है कि उस युग का दुखान्त-नाटकों के विकास का एक चरण था, सामाजिक परिस्थितियों से उद्भूत नाट्य-कला का एक रूप था, जिससे आगे बढ़ कर वर्तमान युग के सूत्रधार नाटककारों ने नये नाटकों की सृष्टि की थी।

मॉरिस मैतरलिंक ने दुखान्तकियों में केवल उच्च वर्ग के नायकों को लेने की प्रथा का विरोध किया और सामान्य जीवन की जाग्रत विविधताओं को नाटक का आधार बनाने की प्रेरणा दी। धीरे धीरे नाटक वर्ग का न रह कर समाज का बना और उसमें जीवन का वैविध्य प्रतिबिम्बित होने लगा।

पश्चिम की इस प्रगति से हिन्दी नाटककारों का सम्पर्क अँग्रेज़ी नाटकों से माध्यम से भारतेन्दु युग में ही प्रारम्भ हो गया था। उस समय ही शेक्सपियर के कई नाटकों का अनुवाद हिन्दी में हुआ था। किन्तु नाटक का रचना-प्रकार संस्कृत नाटकों की शैली का ही अनुवर्ती था। नाटकों का प्रारम्भ नाँदी पाठ से और समाप्ति भरत-वाक्य से होती थी। रचना के ऐसे क्रम में दुखान्त नाटक की सृष्टि होना सम्भव न था। फिर भी राष्ट्रीय जीवन की परिस्थितियाँ एक ऐसा सामाजिक असंतोष पैदा कर रही थीं जिसका प्रतिबिम्ब नाटकों की वस्तु पर भी पड़ने लगा था। राष्ट्र प्रेम और देश भक्ति का स्वर मुखरित होना शुरू हो गया था। असंतोष-जनक निराशा भी नाटकों में कहीं-कही प्रतिबिम्बित

होती थी, किन्तु दुखान्तकी की आत्मा तक हिन्दी का नाटक नहीं पहुँच पाया था। केवल भारतेन्दु के 'नील देवी' को किसी तरह का पहला दुखान्तकी कुछ लोग मानते हैं। ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय सामाजिक चेतना लोक-जीवन में जाग्रत हो रही थी, त्यों-त्यों साहित्य के रूप और वस्तु में भी अपने-आप सुधार होते जा रहे थे। विकास के इस क्रम में प्रसाद की सी प्रतिभा का उदय हुआ। प्रसाद के नाटकों में राष्ट्रीय जीवन का असंतोष ऐतिहासिक वस्तु-विधान के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ। इन नाटकों में आशावादी स्वर की साधना है, किन्तु नियति की काली छाया का आतंक उस पर आच्छादित है और किसी-किसी में दुखान्तकी के समान अवसाद की घटा उठती है, किन्तु बरस नहीं पाती। जैसे 'स्कन्दगुप्त' नाटक के अंत में हूणों पर स्कन्दगुप्त की विजय की सफलता ने नाटक के अवसादमय वातावरण को एकदम सुखद अंत में बदल दिया है। प्रसाद के युग में ऐतिहासिक कथा-वस्तु पर आधारित नाटकों का जो श्रीगणेश हुआ वह अब तक जारी है। साथ ही साथ नाटकों के रचना-प्रकार में नवीन तत्वों का समावेश होने लगा और जीवन की विविधता उसमें प्रतिबिम्बित होने लगी। ऐतिहासिक नाटकों में भी पुरानी कथावस्तु द्वारा नयी समस्याओं के संघर्ष को ही प्रस्तुत किया जाने लगा। इस प्रकार के ऐतिहासिक नाटकों में श्री उदय शंकर भट्ट का 'दाहर' दुखान्तकी का प्रथम उदाहरण है।

इस प्रसादयुगीन परम्परा को तो श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने समस्या नाटकों से भंग कर दिया था। वे स्वीकार भी करते हैं कि प्रसाद की प्रतिक्रिया में उनके समस्या नाटकों की सृष्टि हुई। वे प्रसाद के नाटकों को भारतीय संस्कृति के अनुरूप नहीं मानते, जब कि

श्री नंद दुलारे वाजपेयी प्रसाद के नाटकों को भारतीय संस्कृति का स्वर-वाहक मानते हैं। मिश्र जी का यह आरोप कि प्रसाद पर शेक्सपियर का प्रभाव अधिक है, विचारणीय है। फिर भी यह तो स्पष्ट है कि प्रसाद के नाटकों में आत्म-हत्या और प्रतिशोध का द्वन्द्व 'ट्रेजडी आफ़ ब्लड' के ढंग का है। किन्तु यह मानना कठिन है कि इसी लिए उनके नाटकों का स्वर एकदम विदेशी है। क्योंकि ट्रेजिडी की अनेक विशेषताओं की छाया उनके नाटकों पर होते हुए भी प्रायः वे सुखान्त ही हैं और यदि यहाँ छाया पूरी तरह विकसित हो जाती तो भी केवल इसी आधार पर प्रसाद को विदेशी संस्कृति का वाहक नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र के समस्या नाटक अधिक विदेशी रूप-विधान से प्रभावित हैं और उन्होंने दुखान्तकी भी लिखे हैं।

भारतेन्दु से ही एकाँकी लिखने का जो अधकचरा प्रयत्न शुरू हुआ था, वह प्रसाद के 'एक घूँट' की रचना से आगे बढ़ा और सामाजिक जीवन का जो वैविध्य बड़े नाटकों में एक साथ प्रतिबिम्बित नहीं हो पाया, वह इन एकांकियों की अलग अलग इकाइयों में मुखरित होने लगा। जीवन की छोटी से छोटी, किन्तु महत्वपूर्ण घटना के मूल सत्य को इस साहित्य-रूप में अभिव्यक्त होने का अवसर मिला और स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का जो विकास बड़े नाटकों की अनेकरूपता में नहीं हो पाया, वह एकांकियों में विकसित हो उठा, इसीलिए बड़े नाटकों की अपेक्षा हिन्दी एकांकी बड़े सफल हुए और उनमें अधिक संख्या में दुखान्तकी लिखे गये।

कुछ संस्कृत की परम्परा और कुछ हमारे दर्शकों की दर्शन-विनोद-प्रियता के कारण यूनानी लेखकों अथवा शेक्सपियर के ऐसे दुखान्तकी

हिन्दी में नहीं लिखे गये। दुखान्तकी का अर्थ हिन्दी में व्यापक रूप में लिया गया—दुखान्तकी वह, जिसका अन्त दुख में हो अथवा जिससे दर्शक का मन दुखी हो उठे। वह दुख अनिवार्यतः नायक अथवा नायिका की मृत्यु ही के कारण हो, वैसा ज़रूरी नहीं। पश्चिम में आधुनिक दुखान्तकियों में नायक की मृत्यु ज़रूरी नहीं समझी जाती। आदमी कई बार मरता नहीं, पर उसके जीवन का दुख मृत्यु से कहीं ज्यादा गम्भीर हो उठता है। अश्क का 'कैद' ऐसा ही दुखान्तकी है।

दुखान्तकी का सम्बन्ध विषय-वस्तु से अधिक और कला-रूप से कम है। इसको केवल एक कला-रूप ही मान लेना किसी प्रकार संगत नहीं है। वर्तमान सामाजिक जीवन की परिस्थितियों से उद्भूत जिस मानवीय अन्तर्व्यथा की अभिव्यक्ति आज साहित्य में हो रही है, वह चाहे 'शा' की हास्य-व्यंग्य-प्रधान शैली में हो चाहे करुण रोमाण्टिक शैली में—वह उस अन्तर्व्यथा की दबी हुई चिनगारियों को ही प्रज्वलित करती है।

अश्क ने युग के सत्य और अन्तर्व्यथा को अभिव्यक्त करने वाले कई सफल दुखान्तकी लिखे हैं। वे युग-सत्य को हास्य और व्यंग्य के सशक्त माध्यम से व्यक्त करते हैं। उनके दुखान्तकियों में हास्य और व्यंग्य के स्पर्श से नाटक की अन्तर्वेदना और भी तीव्र हो उठती है। विषय-वस्तु के लिहाज़ से हम अश्क के दुखान्तकियों को तीन भागों में विभक्त करेंगे :

१. वे नाटक, जिनमें पुराने दुखान्तकियों की तरह नायक नायिका या उनके किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाती है और वह मृत्यु गहरे अवसाद से मन-प्राण को भर देती है।

२. वे, जिनमें किसी की मृत्यु नहीं होती, पर नाटक का कुल

प्रभाव दुख और व्यथा का रहता है और जिसके समाप्त होने पर मन विषाद से भर जाता है।

३. वे, जो प्रकट हास्य रस के नाटक हैं और जिनका कलेवर हास्य व्यंग्य भरे सम्वादों में ढका रहता है, लेकिन जिनके अन्तर में दारुण ट्रेजिडी अन्तर्निहित रहती है।

पहली प्रकार के नाटकों में अश्क के पांच एकांकी आते हैं--'लक्ष्मी का स्वागत', 'पापी', 'चिलमन', 'देवताओं की छाया में' और 'तूफ़ान से पहले'।

लक्ष्मी का स्वागत—अश्क के पहले तीन एकांकियों में से है और उनके नाटकों में सबसे अधिक ख्याति इस नाटक को मिली है। बीसियों संकलनों में यह लिया गया है और बीसियों बार खेला गया है। अपने इस एकांकी में अश्क ने बड़े प्रभावशाली ढंग से उस प्रथा पर तीव्र प्रहार किया है, जो मानव की सूक्ष्मतम भावनाओं को अपनी मशीन में एकदम भावना रहित होकर पीसे जाती है। नारी को पण्य-वस्तु समझ, उसके प्रति युग युग से किया जाने वाला अत्याचार अश्क ने अपने नाटकों, कहानियों, कविताओं और उपन्यासों, में बराबर दिखाया है। यह नाटक भी उस अत्याचार का एक पहलू दर्शकों के सामने प्रस्तुत करता है। नाटक के अन्त में जब रौशन अपने मृत बच्चे का शव हाथों में उठाये प्रवेश करता है और उन्मादियों की तरह रोता-हँसता चीख़ता है—"हाँ हाँ, नाचो, गाओ, खुशियाँ मनाओ!" तो वह अपने माता-पिता के मुँह पर ही नहीं, सारे समाज के मुँह पर ज़ोरदार तमाचा लगाता है और यहीं नाटक की अन्तर्भूत व्यथा और भी घनीभूत होकर दर्शकों के मन-प्राण बाँध लेती है।

पापी—लिखने के क्रम में यह एकांकी भी अश्क के पहले

तीन नाटकों में आता है। स्टेज पर बहुत बार नहीं खेला गया, पर आल इण्डिया रेडियो से प्रायः ब्राडकास्ट हुआ और दो बार तो इण्टर-स्टेशन-प्ले के रूप में पेशावर से लेकर लखनऊ तक, ब्राडकास्ट हो चुका है। अश्क ने इसमें विधुर पति के अन्तर्द्वन्द्वों और बीमार पत्नी की वेदना का बड़ा ही सुन्दर और सफल चित्रण किया है। अन्तिम विन्दु पर पहुँच कर छाया की मृत्यु वातावरण पर एक गहरी व्यथा की छाप डाल देती है और मृत्यु के उस अँधेरे में शान्ति लाल के शब्द—"छाया देवी थी, रेखा भी देवी थी, मैं ही नीच हूँ, मैं ही पापी हूँ।"—नाटक समाप्त होने के बाद भी देर तक कानों में गूँजते रहते हैं।

चिलमन—यह एकांकी लेखक ने यद्यपि 'पापी' के वर्षों बाद लिखा, पर लगता है जैसे पापी लिखकर अश्क का नाटककार संतुष्ट नहीं हुआ और फिर उसने घरेलू जीवन की इस ट्रेजिडी को एकांकी का विषय बनाया और उसे एक नयी शक्ति के साथ व्यक्त किया। जैसा कि 'चरवाहे' की भूमिका में लिखा गया हैं 'पापी' के पाठकों और दर्शकों को 'चिलमन' की वस्तु में एक हल्की सी समानता अवश्य दिखाई देगी :

—*'पापी' की छाया यक्ष्मा से पीड़ित है।

'चिलमन' की किरण भी यक्ष्मा के दूसरे (और भी प्रबल) रूप में ग्रसित है।

*'पापी' का शान्ति लाल अपनी पत्नी से विश्वासघात करता है।

'चिलनन' का हरि भी अपनी पत्नी से विश्वासघात करता है।

—*'पापी' में छाया अन्त में मर जाती है और इस मृत्यु में

शान्ति लाल के विश्वासघात का भी हाथ है।

'चिलमन' के अन्त में किरण भी मर जाती है। और यद्यपि प्रकट दिखाई नहीं देता पर पूरे ध्यान से नाटक पढ़ने पर पता चलता जाता है कि हरि का शशि को खींच बुलाना ही उसकी मत्यु का तात्कालिक कारण है।

किन्तु 'पापी' से चिलमन तक पहुँचते पहुँचते अश्क की कला कितनी निखर गई है, इसे दोनों नाटकों के एक साथ पढ़ने पर ही जाना जा सकता है। 'मैं ही नीच हूँ मैं ही पापी हूँ !' की चीख़ से 'मैंने चिलमन उतार दी है, मैंने चिलमन उतार कर फेंक दी है !' का पश्चात्ताप हृदय में कहीं दूर तक उतरता चला जाता है और ट्रेजिडी को और भी घना बना देता है।

देवताओं की छाया में ऐसे गाँव के जीवन की ट्रेजिडी प्रस्तुत करता है, जिसके निकट एक आधुनिक कॉलोनी बस रही है। गाँव के शोषित मज़दूरों के जीवन में उस आधुनिक कॉलोनी के कारण क्या कुछ हो जाता है, बाहर और अन्दर कैसी ट्रेजिडियाँ घटित हो जाती हैं, इसका बड़ा ही सहानुभूतिपूर्ण चित्रण अश्क ने इस एकांकी में प्रस्तुत किया है। 'देवताओं की छाया में' का अन्त और उसकी ट्रेजिडी 'पापी' और 'चिलमन' ऐसी Spectacular (दर्शनीय) नहीं। अवसाद इस एकांकी में, नसों में रच जाने वाले ज़हर सा समा गया है। ट्रेजिडी की बाड इसमें दोहरी है—'सादिक मर गया'—इस घोषणा में जो ट्रेजिडी छिपी है, उससे कहीं बड़ी ट्रेजिडी जलाल की इस घोषणा में है—'गाँव में दूध कहाँ है ! दूध तो सब देव नगर चला जाता है, बच्चों तक के लिए नहीं बचता।'

तूफ़ान से पहले – १९४६ के साम्प्रदायिक दंगों की याद

है। उसकी ट्रेजिडी हमारे राजनीतिक जीवन की ट्रेजिडी है। घीसू की मृत्यु हर उस अच्छी भावना की मृत्यु है जिसे साम्प्रदायिकता ने उन दिनों कुचल कर रख दिया। लेकिन इस एकांकी तक पहुँचते-पहुँचते लगता है कि अश्क जीवन की घोर निराशा में भी आशा की झलक देखने लगे, इसलिए 'तूफ़ान से पहले' का अन्त दुखान्त होते हुए भी भविष्य के लिए आशा का संदेश देता है।

दूसरी प्रकार के दुखान्तकियों के अन्तर्गत—तीन बड़े नाटक 'कैद' 'भँवर', 'अलग अलग रास्ते' और चार एकांकी 'वेश्या', 'बहनें', 'विवाह के दिन' और 'मैमूना' आते हैं।

क़ैद—बहुत ही ऊँचे दर्जे का दुखान्तकी है। यह उन एकांकियों का उत्तम नमूना है, जिनमें किसी की मृत्यु नहीं होती, किन्तु फिर भी जो अपनी अन्तर्भूत व्यथा से पाठक अथवा दर्शक से मन-प्राण को अभिभूत कर लेते हैं। श्री जगदीश चन्द्र माथुर ने एक बार कहा, 'यदि मुझे अपना कोई एक प्रिय एकांकी चुनने को कहा जाय तो मैं 'कैद' चुनूँगा।'

कैद उन नाटकों में से है जिनमें किसी की हत्या नहीं होती और न कोई मरता है, पर जो मन को कुछ विचित्र से अवसाद से बाँध लेते हैं, जो हमारे गिर्द बहुत देर तक कुछ अजीब सी उदासी का वातावरण बनाये रखते हैं और चाहे उस वातावरण में जी कितना भी क्यों न घुटे, मन उस उदासी के झीनेपन को तोड़ना नहीं चाहता। परिणाम यह होता है कि नाटक का केन्द्रीभूत विचार सदैव स्मृति के पर्दों से टकराता रहता है और हम जब भी उन्मन-उदास होते हैं, वह हमारी

चेतना में कौंध जाता है।

भँवर—भी उच्च कोटि का मनोवैज्ञानिक दुखान्तकी है। 'कैद' और 'भँवर' में अन्तर केवल यह है कि जहाँ 'कैद' की नायिका समाज द्वारा बनाये हुए बन्धनों में अपनी इच्छा के बिना कैद है, वहाँ भँवर की हीरोइन अपने वर्ग और अपनी ऊँची शिक्षा द्वारा डाली गई बेड़ियों में बँधी है और नाटक के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते हम जान लेते हैं कि कैद की नायिका की तरह वह भी सदा उन में कैद रहेगी। व्यंग्य और हास्य द्वारा लेखक ने भँवर के वातावरण को उतना दुख भरा नहीं रहने दिया, लेकिन उसकी केन्द्रीभूत व्यथा को और भी प्रकाशित कर दिया है। नाटक की समाप्ति पर नायिका की घुटन और कुण्ठा मन में उदासी पैदा कर देती है और इसका कुल प्रभाव दुखान्तकी का हो जाता है।

अलग अलग रास्ते—को भी अश्क के नाटकों में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त रहेगा। अश्क ने इस घरेलू ट्रेजिडी के द्वारा हमारे आधुनिक समाज की एक बड़ी महत्वपूर्ण समस्या को उसकी सारी गम्भीरता के साथ प्रस्तुत कर दिया है। यह नाटक पिता की ट्रेजिडी है, बड़ी बेटी की अथवा छोटी की? सरसरी दृष्टि से नाटक को देखकर यह कहना कठिन है। लेकिन जैसा कि 'तूफ़ान के पहले' की ट्रेजिडी में एक अदम्य आशा अन्तर्निहित थी, इसी तरह इस नाटक के दुख भरे अन्त में रानो का विद्रोह आशा का प्रकाश भर देता है। रानो अपनी इच्छा के अनुसार जीवन जीने चली जाती है, राजो दुख ही में सुख मान कर उसी पति की शरण में जा पहुंचती है, जिसने उसे त्याग दिया है, केवल पण्डित तारा चन्द अपने आक्रोश में जलने को रह जाते हैं और इस तरह यह ट्रेजिडी पिता की ट्रेजिडी बन जाती है।

वेश्या—एकांकी भी अश्क के पहले तीन एकांकियों में से है और

शुद्ध दुखान्तकी न होकर मिश्रित एकांकी बन जाता है। नाटक का अन्त जो मोती के लिए सुख भरा है वही जवाहर के लिए दुख भरा हो जाता है। मोती के सुख से जहाँ मन सुखी होता है, जवाहर के दुख से उस पर अनचाहे भी हल्का सा अवसाद छा जाता है।

बहनें - वास्तव में व्यग्य है, लेकिन उस व्यंग्य में आधुनिकाओं के जीवन की ट्रेजिडी अश्क ने बड़ी सफाई से समो दी है।

विवाह के दिन में—अश्क ने बिना देखे युवक युवतियों को विवाह-बन्धन में बाँध देने का विरोध किया है और इस प्रथा से कैसी ट्रेजिडी घट सकती है, उसकी सम्भावना दिखाई है। नाटक के अन्त में परसराम सचमुच पागल हो गया है, अथवा पागलों की तरह हँसता है! यह साफ़ नहीं। उसकी बहन उसे पागल नहीं समझती। हम भी ऐसा ही समझें तो भला, नहीं यह एकांकी ट्रेजिडी बन जाता है। दिमाग़ की नसों के तन जाने से क्या कुछ नहीं हो सकता?

मैमूना—एक बड़ा ही दुख भरा एकांकी है। और जहाँ तक इसकी कला और मनोवैज्ञानिकता का सम्बन्ध है, अश्क के चन्द सर्व-श्रेष्ठ एकांकियाँ की पंक्ति में रखा जाने योग्य है। यह एकांकी उस नन्हीं सी लड़की ही की दुख भरी कहानी नहीं, जिससे उसकी अपनी माँ सौतेलियों का सा व्यवहार करती है, बल्कि उसके पिता अरशद की भी ट्रेजिडी है, जिसकी पत्नी उसके रहते किसी दूसरे से प्रेम करने लगती है। बाप यहाँ बेटी ही का प्रतीक बन कर रह जाता है। लेकिन क्या यह ट्रेजडी वास्तव में मैमूना और अरशद ही की है, क्या यह आमना की ट्रेजिडी नहीं, जो सदा जीवन के हर अहम क्षण में गणना (Calculations) करती है और जिसकी गिनती सदा गलत सिद्ध होती है।

तीसरी तरह के नाटकों में, 'छठा बेटा', 'पैंतरे', 'अंजो दीदी' जैसे बड़े नाटक आते हैं । पहली नज़र में देखने पर ये हास्य प्रधान नाटक दिखाई देते हैं, लेकिन इनके हास्य के आवरण में अश्क ने काफ़ी गम्भीर समस्याएँ भर दी हैं ।

पैंतरे—में बड़ी कुशलता से अश्क ने बड़े ही हास्य-व्यंग्य भरे लहजे में फिल्मी जीवन की दारुण ट्रेजडी भर दी है। उस जीवन में किसी साधारण कलाकार के लिए, जो किसी बड़े प्रोड्यूसर या डायरेक्टर का साला या भतीजा नहीं, सफलता पाने के लिए कैसी पैंतरेबाज़ी करनी पड़ती है, यह देख कर, उस हास्य के बावजूद जो नाटक की हास्यास्पद घटनाएँ और पात्र आप से आप उपजाते हैं, मन एक अदम्य अवसाद से भर जाता है। इस नाटक में चारली चेप्लन के फिल्मों का सा व्यंग्य और अवसाद भरा हुआ है। इसका हास्य इसकी ट्रेजिडी को और भी घनीभूत कर देता है

छठा बेटा—माता पिता की उन आशाओं की ट्रेजिडी है जो कभी पूरी नहीं होतीं। अश्क की सफलता यह है कि उन्होंने उस 'क्यों' का उत्तर भी दे दिया है, जिसके कारण वे आशाएँ अधूरी रह जाती हैं। बच्चों की बेवफ़ाई पर शेक्सपियर ने 'किंग लियर' सी महान ट्रेजिडी लिखी। अश्क चाहते तो 'छठा बेटा' को दारुण ट्रेजिडी बना सकते थे, पर उनकी यथार्थवादी दृष्टि पुत्रों का दृष्टिकोण देखे बिना न रह सकती थी। और यों यह ट्रेजिडी दोनों की ट्रेजिडी है । पण्डित बसन्त लाल के लड़के अपने बाप को सुख न देना चाहते हों, ऐसी बात नहीं, पर पण्डित बसन्त लाल जैसे चाहते हैं, वैसे सुख देना उनके बस में नहीं और इस तरह माता पिता के जीवन की यह ट्रेजिडी लड़कों के जीवन की भी ट्रेजिडी बन जाती है।

अंजो दीदी— का प्रकट रूप एक हास्य प्रधान नाटक का है, पर वास्तव में पैंतरे की तरह इसके गर्भ में भी एक गहरी व्यथा भरी समस्या अन्तर्निहित है। माता या पिता किसी का भी दमन घरेलू जीवन के तारों को इतना तान देता है कि वह ज़रा भी ठोकर से टूट जाते हैं, यही इसकी आधारभूत थीम है। और इसी सत्य को न जानने में अंजो दीदी के परिवार की ट्रेजिडी छिपी है।

बर्गसां ने लिखा है कि श्रेष्ठ दुखान्तकियों की रचना सभ्यता के उन्नति-शिखर पर पहुँचने के बादही सम्भव है। किन्तु आज के दुखान्तकियों को देख कर लगता है कि सभ्यता कभी शिखर पर नहीं पहुँचती, वह सदा किसी न किसी सभ्यता के शिखर पर चढ़ने के क्रम में रहती है और जो शिखर उसके पैरों के नीचे आ जाता है, वह रास्ता बन जाता है और उसे भविष्य के नये शिखर दिखाई देने लगते हैं। अश्क के दुखान्त नाटक सभ्यता के यात्रा-काल की रचनाएँ है। फिर भी वे श्रेष्ठ हैं। यों शिखर की ओर सभ्यता ही नहीं बढ़ती, कला भी बढ़ती है। कला ही का सामाजिक पर्याय सभ्यता है। हिन्दी नाटकों की कला-यात्रा में अश्क के दुखान्तकी युग-सत्य की व्यथा की यथार्थ अभिव्यक्ति करते हुए, आदर्श के शिखर बना कर आगे बढ़ते जा रहे हैं।

अश्क के नाटकों में युग-सत्य

समाज के द्वन्द्वात्मक विकास से साहित्य का अटूट सम्बन्ध है। जब लोग क़बीलों में रहते थे और उनमें वर्गों की सृष्टि नहीं हुई थी, उस समय मानव को प्रकृति से संघर्ष करना पड़ता था और जब उत्पादन और उत्तराधिकार के क्रम में होने वाले परिवर्तनों के कारण वर्ग समाज का विकास होने लगा तो मानव का संघर्ष प्रकृति और मानवकृत-शोषण दोनों के विरुद्ध शुरू हुआ। इस संघर्ष की प्रगति के साथ साथ वर्ग-स्वार्थ भी स्पष्ट होते गये। मानव-समाज की इस संघर्षशील, द्वन्द्वात्मक प्रगति का प्रभाव साहित्य में किसी न किसी रूप में सदा प्रतिबिम्बित हुआ है। इस संघर्ष के क्रम में ही धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, दास-मालिक, ऊँच-नीच और पाप-पुण्य की विविध धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि मान्यताओं, रीति-रूढ़ियों, मिथ्या

विश्वासों का जन्म हुआ, जो देश-काल के प्रभावों से वर्ग-समाज में होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित होकर भिन्न भिन्न युगों में भिन्न रूप धारण करते गये। सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म और रीति-रिवाज आदि का उदय और प्रचलन वर्ग-शासनों और वर्ग-प्रभुताओं से अनुशासित होता रहा। इस प्रकार प्रभुसत्ताधारी और शासित, शोषक और शोषित, धनी और निर्धन एवं श्रमिक और अवकाश-भोगी के वर्ग-संघर्ष भी जीवन के विविध क्षेत्रों में अपने विविधि रूपों में चलते रहते हैं। इस मानव-संघर्ष का अन्त होता है वर्गहीन-समाज के निर्माण से!

साहित्य मानव-संघर्ष की कलात्मक अभिव्यक्ति है। यह संघर्ष चाहे आन्तरिक हो या बाह्य, इस संघर्ष का एक मनोवैज्ञानिक परिणाम और लक्ष्य है— स्वार्थ-आधारित अवकाशभोगी मानव सत्ताओं और व्यवस्थाओं का अन्त और मानव-श्रम को महत्व देने वाले समता-आधारित, रचनात्मक वर्गहीन समाज का निर्माण! इस संघर्ष में रचनात्मक श्रम-शील मानव समुदाय एक ओर है और अवकाशभोगी सत्तासम्पन्न सीमित वर्ग दूसरी ओर। एक शोषित है दूसरा शोषक! मानव संघर्ष के इतिहास में सदा दो पक्ष रहे हैं। चाहे उनके वर्ग-रूप देश-काल के अनुसार बदलते रहे हों। आज भी इस संघर्ष के दो पक्ष हैं— एक उनका, जो अवकाशभोगी शोषक हैं और सत्ता को जैसे भी हो, अपने हाथों में बनाये रखना चाहते हैं। वे जीवन के विविध क्षेत्रों में अपने वर्ग के पुरखों की परम्परा का ऐन्द्रजालिक विस्तार किये हुए हैं; वे आज साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के पक्षधर हैं और अपनी अस्तित्व-रक्षा में बड़े बड़े युद्धों की तैयारी करते हैं। और दूसरा पक्ष उनका है, जो शोषण-चक्र में पिसते हुए भी नवजीवन-रचना के लिए श्रम करते हैं और संसार की शान्ति और रचना में विश्वास रखने वाली

अधिकांश मानवजाति के प्रतीक हैं। सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक भेद इन वर्ग-स्वार्थों की शोषण-परम्परा से नत्थी हैं। प्रत्येक युग के साहित्य में इस संघर्ष का प्रतिबिम्ब किसी न किसी रूप में दिखाई पड़ता है। हमें देखना होता है कि किस साहित्य में, किन ऐतिहासिक परि-स्थितियों के कारण, तमाम अन्तर्विरोधों के साथ, किस पक्ष का अधिक समर्थन किया गया है। जिस साहित्य में मानव-संघर्ष के रचनात्मक जन-कल्याणकारी पक्ष का समर्थन जितना होता है, वह उतना ही अपने युग-सत्य को यथार्थ अभिव्यक्ति प्रदान करता है। यह अभिव्यक्ति दो प्रकार की होती है। एक में तो जन-कल्याणकारी शोषित वर्ग की क्रान्तिकारी शक्तियों का सीधा समर्थन किया जाता है और दूसरे में शोषक वर्ग के जन-विरोधी तत्वों का उद्घाटन !

युग-सत्य की इन यथार्थ अभिव्यक्तियों के अतिरिक्त लेखक के वर्गीय जीवन के अन्तर्विरोध भी उसके साहित्य में प्रकट होते रहते हैं। वह जिन सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों के वातावरण में अपने साहित्य की रचना करता है, उनके अज्ञात प्रभाव भी उसकी रचनाओं पर अपनी छाप डालते हैं। साथ ही जन विरोधी-शक्तियाँ अर्थ और संस्कृति के माध्यम से ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करती हैं, जिनसे जनवादी शक्तियों के साहित्यिक और सांस्कृतिक पक्ष दुर्बल हो जायँ वे उदार-मानववाद, व्यक्तिवाद, प्रजातन्त्र, धर्म और दर्शन आदि के नाम पर अनेक ऐसे सिद्धान्त गढ़ती हैं, जो साहित्य के जनवादी रुख को कुण्ठित करने के प्रच्छन्न प्रयत्न होते हैं। जो लेखक इन सिद्धान्तों के कृत्रिम मानववादी रूपों के आकर्षण में फँस जाते हैं, वे साहित्य में कलावादी, रूपवादी, और समाजविरोधी व्यक्तिवादी-प्रतिक्रियावाद के चतुर शिल्पी बन जाते हैं। उनके शिल्प में ऐन्द्रजालिक चमत्कार तो होता है, किन्तु

वस्तु में युग-सत्य की सही अभिव्यक्ति नहीं होती, क्योंकि उनके प्रति-गामी संस्कार उन्हें जन-जीवन के सम्पर्क में नहीं आने देते।

मानव संघर्ष और साहित्य के इस अटूट सम्बन्ध को देखते हुए आज के युग-सत्य को साहित्य में परखने का एक ही माध्यम है—हम देखें कि साहित्य में जन-पक्ष का कितना समर्थन है और जन-विरोधी ताकतों के षड्यन्त्रों का कितना पर्दा फ़ाश हुआ है—इसके अतिरिक्त जो लेखक इस वर्ग-समाज में एक तटस्थ वर्गहीन मानववादी अभिव्यक्ति का दावा करते हैं, वे वर्ग-संगर्ष के युग-व्यापी सत्य पर पर्दा डाल कर कृत्रिम मानवतावादियों (साम्राज्य-वादियों और पूँजीवादियों) के पक्ष का अज्ञात रूप से समर्थन करते हैं। चाहे सचेत रूप से उन लेखकों का यह लक्ष्य न भी हो।

इस दृष्टि से अश्क के नाटकों में हमें उनके मध्यवर्गीय अन्तर्विरोधों की अभिव्यक्ति तो मिलती ही है, साथ ही उनमें जन-विरोधी शक्तियों का पर्दा भी फ़ाश दिखाई देता है। अश्क ने मध्यवर्गीय जीवन की विभिन्न समस्याओं का विश्लेषण करते हुए उस वर्ग के तमाम अन्तर्विरोधों और उसके प्रतिगामी तत्वों का यथार्थ उद्घाटन किया है। वे समस्याओं या पात्रों को केवल प्रकृत रूप में उपस्थित नहीं करते, न ही शिल्प-चमत्कार की सनक से ऐसे रूप-गठन या शैली का प्रयोग करते हैं, जो पाठकों और दर्शकों के लिए केवल एक रहस्यमय चमत्कार बन जाय और उससे किसी प्रकार की सामाजिक चेतना न प्राप्त हो। अश्क, इसके विपरीत रूप-गठन और शैली को भी वस्तु-गत सत्य की सरल अभिव्यक्ति का कलात्मक माध्यम बनाते हैं।

उन्होंने विवाह और प्रेम की समस्या को लेकर कई नाटक लिखे हैं जिनमें इस समस्या के विभिन्न पहलुओं को यथार्थवादी दृष्टि से उपस्थित

किया गया है। 'स्वर्ग की झलक' में आधुनिकाओं की पारिवारिक-दायित्वहीन-बुर्जुआ-फ़ैशन-परस्ती की खिल्ली उड़ाई है और ऐसी नारियों से अभिभूत होने वाले पतियों और डर जाने वाले मध्यवर्गीय नौजवानों पर व्यंग्य भी किया है। 'बहनें' नामक एकांकीभी वर-निर्वाचन के नाम पर आधुनिकाओं के उनमुक्त प्रेम के स्वांग का एक व्यंग्य चित्र है। 'कैद' नाटक में निष्क्रिय, पुराने संस्कारों के प्रभाव में जकड़ी एक नारी का करुण चित्रण है जो अवांछित पति की पारिवारिक 'कैद' में घुटी जा रही है, किन्तु 'अलग अलग रास्ते' में 'कैद' के उस विवश नारी-जीवन की असमर्थता के प्रति घोर विद्रोह का स्वर है। 'अलग अलग रास्ते' में रानी का अपने पति के विषय में यह कथन—"जिस व्यक्ति के निकट चन्द हज़ार के एक मकान का मूल्य मेरे मान से कहीं अधिक है, जो मुझे नहीं मकान को चाहता है, मैं उस लोलुप की शक्ल तक नहीं देखना चाहती"—उस विद्रोह को वाणी देता है। जब रानी का पिता ताराचन्द गरज कर पूछता है, "तू अपने पति से घृणा करती है?" तो रानी निर्भीकता से उत्तर देती है-- 'मेरा रोम-रोम उससे घृणा करता है।" वह अपने पिता से कहती है--"आपका धर्म भी पुरुषों का धर्म है।" और इस प्रकार वह धन लोलुप पति का त्याग कर देती है।

'मैमूना'-एकांकी की नायिका आमना के चरित्र में बुर्जुआ संस्कृति की प्रतिगामी आधुनिक नारी के अन्तर्विरोधों का मनोवैज्ञानिक उद्घाटन होता है। उसी प्रकार 'अंजो दीदी' में बुर्जुआ नारी के एक दूसरे पहलू पर व्यंग्य है और 'भँवर' में अभिजात वर्गीय बौद्धिक नारियों की अतृप्त आकांक्षा का यथार्थ रूप है। इसी भाँति दूसरे नाटकों में भी विवाह और प्रेम की समस्याओं को लेकर नारी जीवन के अनेक पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है।

'देवताओं की छाया में' एकांकी में भरी का यह कहना—"हम लड़कियाँ हैं। हम अपनी इच्छा से हँस नहीं सकतीं, बोल नहीं सकतीं, हिल-डुल नहीं सकतीं, चाहे जीवन में घुट घुट कर मर जाँय!" भारतीय नारी जीवन के रूढ़िग्रस्त बन्धनों की घुटन भरी करुण पुकार है।

अश्क के ऐसे सभी नाटकों में ज्ञात-अज्ञात रूप से सामाजिक व्यक्ति की हैसियत से नारी को सामन्ती और पूँजीवादी बन्धनों से मुक्त करने की भावना विद्यमान दिखाई देती है।

'उड़ान' में इन बन्धनों की तमाम समस्याओं का निदान है। इसमें माया के चरित्र के माध्यम से नारी के उस रूप को उपस्थित किया गया है जो पुरुष की दासता को मात्र दासी, पूज्या या भोग्या बनकर ही स्वीकार नहीं करना चाहती, बल्कि वह एक सामाजिक इकाई बन कर पुरुष की संगिनी बनना चाहती है।

अश्क की सहानुभूति श्रमिक वर्ग के साथ है। यद्यपि उन्होंने मज़दूरों के जीवन पर कोई नाटक नहीं लिखा फिर भी उनके नाटकों में यत्र-तत्र श्रम का शोषण करने वाली पूंजीवादी मनोवृत्ति का पर्दा फ़ाश किया गया है। 'देवताओं की छाया में' एकांकी में शोषण-ग्रस्त मज़दूर जीवन की छोटी सी झाँकी उन्होंने प्रस्तुत की है। इस नाटक के पहले दृश्य-विधान में ही अश्क दृश्य का संकेत देते हुए अपनी इस भावना को भी प्रकट करते हैं। वे लिखते हैं :

> "काकूके ऐसी ही एक नयी आबादी के पास दो अढ़ाई सौ कच्चे घरों का एक गाँव है। एक व्यवसाई

सोसाइटी ने (जो शिष्ट व्यवसाय की कला में निपुण है) इसके पास तीन चार सौ एकड़ ऊसर धरती सस्ते दामों मोल ले ली है। और फिर इस अपील पर कि उस धरती पर एक नये समाज की नींव रखी जायगी, जो सम्प्रदाय के स्थान पर मानव को अपने प्रेम का भाजन बनायेगा और देश के दीन-हीन कृषकों का सुधार करेगा, मंहगे दामों प्लाट बेचकर 'देवनगर' के नाम से एक नयी बस्ती का सूत्रपात कर दिया है। निकटवर्ती गाँवों के श्रमी वहाँ सुबह सात-आठ बजे से शाम के सात-आठ बजे तक, सख्त सर्दी अथवा सख्त गर्मी में, काम करते हैं और पाँच-छः आने दैनिक मजदूरी पाते हैं और वे लोग पत्र-पत्रिकाओं में बड़े गर्वस्फीत स्वर में घोषणा करते हैं कि उन्होंने लाखों रुपये देहात में वितरण कर दिये हैं और उनके नगर के निकटवर्ती गाँव सम्पन्न हो रहे हैं!"

यह दृश्य-विधान लेखक की वर्ग-भेद को पहचानने वाली सजग प्रगतिशील दृष्टि का ही परिचायक है। नाटक का दृश्य-विधान इस टिप्पणी के बिना भी पूरा हो सकता था, किन्तु शायद उस तरह पाठकों के सम्मुख श्रमिकों का शोषण करने वाले पूँजीवादी-मानववाद का पर्दा फ़ाश न होता। इस टिप्पणी की पृष्ठभूमि में नाटक में दिखाई गई गरीबी का चित्र वर्ग-भेद की यर्थाथता को और भी अधिक स्पष्ट कर देता है।

'अधिकार का रक्षक' एकांकी में पूँजीवादी संस्कारों पर कठोर व्यंग्य किया गया है, साथ ही आज के अवसरवादी नेताओं की पोल खोली गई है। इस नाटक के प्रमुख पात्र मि० सेठ चुनाव के लिए

जिस प्रकार ढोंग रचते हैं (जिनकी करनी कुछ है और कथनी कुछ) वह आधुनिक नेताशाही के ढोंगी रूप का ही एक चित्र है। एक ओर तो वे हरिजन सभा के मन्त्री से बात करते हुए पीड़ितों और पद-दलितों को ऊपर उठाने का दम भरते हैं, दूसरी ओर अपने नौकर को बुरी तरह गालियाँ देते और अपनी मेहतरानी को समय पर पैसा माँगने पर डाँटते हैं। सार्वजनिक रूप से वे एक ओर तो बच्चों को शारीरिक रूप से दण्ड देने का शाब्दिक विरोध करते हैं, दूसरी ओर अपने बच्चे को बेमतलब पीटते हैं। बाहर मालिकों के अत्याचारों के विरोध का ढोंग रचते है और घर में अपने नौकर को तनख़्वाह माँगने पर कहते है :

> "जा एक कौड़ी भी नहीं देते। निकल जा यहाँ से। जा जाकर पुलिस में रिपोर्ट कर दे। पाजी, हराम-खोर, सूअर! आज तक सब्जी में, दाल में, सौदा सुलफ़ में, यहाँ तक कि बाज़ार से आने वाली हर चीज़ में पैसे रखता रहा। हमने कभी कुछ न कहा और अब यों अकड़ता है।"

और जब इस पर नौकर यह कहता है :

> "सच है बाबू जी, गरीब लाख ईमानदार हो तो भी चोर है, डाकू है। अमीर यदि आँखों में धूल झोंक कर हज़ारों पर हाथ साफ़ कर दे, चन्दे के नाम पर सहस्रों उड़ा दे तो..."

मि० सेठ इस यथार्थ को सुन कर भड़क उठते है। और अपने नौकर को पीटने लगते हैं। इतना सब ढोंग रचने के बाद भी वे होज़री यूनियन के मन्त्री से कहते हैं :

"मैं उन लोगों में से नहीं जो कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। मैं जो कहता हूँ, वही करता हूँ। और जो करता हूँ, वही कहता हूँ।"

वे स्वयं पूँजीवादी मनोवृत्ति के गुलाम हो कर भी मज़दूरों को बहकाने के लिए, दिखावे के रूप में पूँजीपतियों की निन्दा करते हैं :

"ये पूँजीपति गरीब मज़दूरों के कई-कई महीने के वेतन रोक कर उन्हें भूखों मरने पर विवश कर देते हैं, स्वयं मोटर में सैर करते हैं, शानदार होटलों में खाना खाते हैं और जब वे गरीब दिन-रात परिश्रम करने के बाद, लोहू-पानी एक कर देने के बाद, अपनी मज़दूरी माँगते हैं, तब हाथ तंग होने का, कारोबार में हानि होने का, अथवा कोई ऐसा ही दूसरा बहाना बना कर टाल देते हैं।"

इस प्रकार मज़दूरों के पक्ष का ढोंग भरने वाले नेता (श्री सेठ) के पास उनके अखबार के सम्पादक महाशय जब स्वास्थय की खराबी और काम के आधिक्य के कारण एक सहायक की मांग करते हैं तो वे उन्हें एक नहीं दस आदमी मिल जाने की धमकी देते हैं। इसी तरह यह नेता विद्यार्थियों को धोखा देता है। महिलाओं में नारी-मुक्ति की बात कह कर अपने घर में अपनी पत्नी को सताता है। और यों 'अधिकार का रक्षक' आधुनिक नेताओं के ढोंगी जीवन पर एक करारा व्यंग्य बन जाता है। और इससे पूँजीवादी-वर्ग-स्वार्थ की पोल पूरी तरह खुल जाती है।

विज्ञान और कला के क्षेत्रों में पूँजीवादी व्यावसायिकता के कुप्रभाव के अनेक यथार्थ चित्र भी अश्क के नाटकों में मिलते हैं। आजकल

किस प्रकार डाक्टरों का ध्येय रोग-मुक्ति नहीं, बल्कि पैसा कमाना बन गया है, इसका एक चित्र 'आपस का समझौता' एकांकी में है। इसमें दो डाक्टर कमीशन के आधार पर एक दूसरे के पास मरीज़ भेजने का समझौता करते हैं। इसके प्रधान पात्र डा० वर्मा अपनी पत्नी से फ़र्माते हैं :—

> "और तुम नहीं जानतीं बाहर के रोगियों से कितना लाभ होता है। काम खराब हो जाय तो डर नहीं, बगड़ जाय तो डर नहीं और यदि ठीक हो जाय तो बाहर से और भी रोगी आने लगते हैं। और फिर सब से बड़ी बात यह है कि उनसे फ़ीस अधिक ली जा सकती है।"

विज्ञान के साथ कला के दूसरे क्षेत्रों में भी पूँजीवादी मनोवृत्तियों का कैसा कुप्रभाव फैल गया है, इसके भी कई चित्र 'मस्केबाज़ों का स्वर्ग' 'पैतरे' और 'पक्का गाना' नामक नाटकों में मिलते हैं। 'मस्केबाज़ों का स्वर्ग' फ़िल्मी कलाकारों पर लिखा गया एक प्रहसन है, जिसमें एक फिल्मी अभिनेता परेश कहता है, "यहाँ किसी साहित्यिक के लिए अभी जगह नहीं।" इसके उत्तर में इसका दूसरा स्वाभिमानी कथाकार मित्र हरीश कहता है, "अच्छे साहित्यिक के लिए अभी कहीं भी जगह नहीं!" इस नाटक के अन्त में खुशामद-परस्त फिल्मी दुनिया पर हरीश का यह अन्तिम वाक्य बिल्कुल फ़िट बैठता है—"यह फिल्मी दुनिया है—मस्केबाज़ों का स्वर्ग!"

'पैतरे' में भी इसी तरह बम्बई के फ़िल्मी क्षेत्र में काम करने वाले निर्देशकों और कलाकारों की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों का बड़ा यथार्थ और सुन्दर खाका खींचा गया है, जो पूंजीवादी प्रभाव का भी उद्‌घाटन

करता है :

'पक्का गाना' एकांकी में फिल्म कला के क्षेत्र में पूँजीपतियों की धाँधली के विषय में दीपक कहता है :

> "पूँजीपति इस मशीन से जो कुछ पैदा करना चाहता है, वह यह आपका आर्ट नहीं, बल्कि रुपया है। उसे गालियाँ खाकर भी रुपया मिल जाय तो उसे इससे भी झिझक न होगी। वह धड़ाधड़ ऐसी फ़िल्में बनायेगा, जिन में सरमायादारों को गालियाँ मिलें और उसकी जेब गर्म हो। लेकिन ज्योंही पब्लिक उनसे उकताई कि उसने फिर स्टंटबाज़ी शुरू की। सरमाये का अधिकार इन्डस्ट्री से हटे तो कुछ हो!"

ये शब्द कला के क्षेत्र में पूँजी की अमलदारी का विरोध करते हैं और कला के क्षेत्र को गन्दा करने वाले पूँजी के प्रभाव की यथार्थता को उद्घाटित करते हैं।

'बतखिया' नाटक में समाज की पूंजीवादी ज़हनियत और आज के न्याय की विशेषता का परिचय ल्यूक्स के इस कथन से होता है :—

> "यह हिन्दुस्तान है। यहाँ काबलियत की क़दर नहीं, दिखावे की क़दर है, जो साधू गाली दे वह सिद्ध, जो डाक्टर मरीज़ों के साथ तीखेपन से पेश आये वह धनवन्तरी का बाप और जो वकील जितना ही झूठा हो उतना ही सफल। वकालत आख़िर रह ही क्या गई? सच को सच और झूठ को झूठ साबित कर दिखाना वकालत नहीं, बल्कि हर तरीके से झूठ को सच साबित कर देना वकालत है।"

यह है पूंजीवादी व्यवस्था में पैसे से बिकने वाले न्याय का एक रूप !

अश्क ने अपने नाटक 'उड़ान' में माया के चरित्र पर युद्ध की विभीषिका के कुछ प्रभाव दिखा कर संकेत रूप में युद्ध का विरोध करते हुए शान्ति का पक्ष ग्रहण किया है। माया कहती है :

> "बमबारी ने जहाँ मकानों के परखचे उड़ा दिये, वहाँ उनके वासियों की लज्जा को भी तार-तार कर दिया। जिनकी शर्म उन्हें झरोखे से झांकने तक की आज्ञा न देती थी, उन्हें मैंने नंगे मुँह, नंगे मुँह क्या, नंगे शरीर सड़कों पर भागते देखा है।"

युद्ध की विभीषिका का नग्न रूप देखने वाली माया एक गीत के सहारे युद्ध के आघातों को भूलकर बड़े बड़े जंगल और पहाड़ पार करती रही। माया का यह गीत मानव की शन्ति-भावना का प्रतीक है जो युद्ध नहीं चाहता।

अश्क ने धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता को उभाड़ने वाली पूँजीवादी मानोवृत्ति और उसके पीछे साम्राजी साज़िश का भंडा फोड़ 'तूफ़ान से पहले' नामक अपने एकांकी में किया है। इसमें मुसलमानों की रक्षा करते हुए हिन्दू गुण्डे से मारा जाने वाला प्रधान पात्र घीसू मरते समय दांत पीस कर कहता है :

> "एक तूफ़ान आ रहा है। जिसमें ये सब दादे, ये गुण्डे, ये धर्म और जाति-पाँति के दर्प, गरीबों का लोहू पीने वाले पूंजीपति, ये भोले भाले लोगों को लड़वा अपना उल्लू सीधा करने वाले नेता—सब मिट जायेंगे। नयी दुनिया बसेगी, जिसमें ग़रीबों का, मजदूरों का राज होगा, जहाँ हिन्दू मुसलमान न होंगे, काले गोरे न होंगे,

सब इन्सान भाई भाई होंगे !"

यह कथन अश्क के प्रगतिशील जनवादी दृष्टिकोण का उद्घोषक है। इससे यह प्रतीत होता है कि समाज की प्रतिक्रियावादी, जन-विरोधी शक्तियों की मिटती हुई सत्ता और वर्गहीन-समाज के निर्माण के भविष्य के प्रति लेखक कितना जागरूक है।

अश्क ने अपने नाटकों में मध्य वर्गीय जीवन में पूंजीवादी प्रभावों से उत्पन्न विशृङ्खलताओं और उच्छृङ्खलताओं तथा उस जीवन के अन्तर्विरोधों के व्यंग्यात्मक चित्र उपस्थित करने के साथ-साथ जीवन के उदात्त मानवीय भावों का चित्र भी प्रस्तुत किया है, जो मानव-विकास का आशावादी प्रतीक है।

इस प्रकार वर्ग समाज के युग-सत्य को विभिन्न रूपों में अश्क ने अपने नाटकों में यथार्थवादी ढंग से अभिव्यक्त किया है।

मूल्यांकन

श्री गोपालकृष्ण कौल

श्री दुष्यन्त कुमार

अश्क के बड़े नाटक

अश्क के बड़े नाटकों के रूप-गठन में एकांकी के संक्षेपण का प्रभाव है। यद्यपि 'जय-पराजय' के रूप-गठन में कुछ पुरानापन और शास्त्रीयता एवं विस्तार है, फिर भी बाद के पूरे नाटक 'स्वर्ग की झलक', 'छठा बेटा', 'भवँर', 'क़ैद' 'उड़ान', 'पैंतरे' और 'अलग अलग रास्ते' आदि 'जय-पराजय' की पुरानी परम्परा के प्रभाव को तोड़कर नये रूप में आगे बढ़े हैं। 'अश्क' के बड़े नाटकों के संक्षेप-पूर्ण-गठाव को देख कर कुछ आलोचकों ने उन्हें 'लम्बे-एकांकी' की श्रेणी में रख दिया है, किन्तु उन आलोचकों द्वारा दी गई एकांकी की परिभाषा के अनुसार भी ये नाटक एकांकी प्रमाणित नहीं होते।

अश्क के बड़े नाटक नाट्य-शास्त्रीय नियमों की प्राचीन परम्परा के अनुगामी नहीं हैं। उन की वस्तु में पाँच संधियों, चार वृत्तियों, चौंसठ

सन्ध्य-स्थानों का यांत्रिक पालन किसी भी मात्रा में नहीं किया गया है और न पाँच से दस तक का अंक-विधान ही उस रूप में मिलता है। 'जय-पराजय' में तो इस प्राचीन परम्परा की छाया देखने को मिलती है, किन्तु बाद के नाटक आधुनिक-तम नाट्य-कला के उदाहरण हैं। बाद के नाटकों में न तो राजा, राजर्षि और कोई अवतारीपुरुष प्रधान पात्र है और न नायक में सामन्ती संस्कार वाले नाट्य-शास्त्रीय नियमों की छाया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है अश्क ने वस्तु को जीवन की यथार्थता तथा विविधता से चुना है और इस यथार्थवादी वस्तु-निर्वाचन की शैली के द्वारा भारतेन्दु से लेकर प्रसाद और उससे बाद के भी बड़े नाटकों की सामन्ती या उच्चवर्गीय वस्तु-निर्वाचन-परम्परा को तोड़ कर नाटकों के क्षेत्र को अधिक व्यापक बनाया है।

देश-काल और अभिनय के सन्तुलन का अश्क ने विशेष ध्यान रखा और यहसंकलन-त्रय उनके बड़े नाटकों में उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। दृश्य-विधानों को अधिक से अधिक विवरण-पूर्ण करके उन्होंने एक ओर रंगमंच की अनुकूलता के प्रति सतर्कता रखी, दूसरी ओर नाटकों को सरस और सुपाठ्य भी बना दिया। सम्वादों के अनुकूल उन्होंने कार्य-संकेतों का प्रयोग किया और 'स्वगत' के अस्वाभाविक प्रयोग को समाप्त कर दिया। 'जय-पराजय' और 'स्वर्ग की झलक' को छोड़कर बाकी सभी बड़े नाटकों के अंक ही दृश्य और दृश्य ही अंक हैं।

अश्क के बड़े नाटकों में असंगठित विस्तार (जय-पराजय का कुछ अंश छोड़ कर) नहीं हैं। उनके विकास का क्रम विस्तार से संक्षेपण की ओर है और इस प्रकार नाटक अधिक सुगठित और प्रभावशाली बनते गये हैं—'छठा बेटा' और 'अलग अलग रास्ते' इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन बड़े नाटकों में उपवस्तु और उपपात्रों का अधिक

जमघट भी नहीं जोड़ा गया है और यदि कहीं ऐसा हुआ भी है (जैसा 'पैंतरे' में) तो वह वातावरण और पृष्ट-भूमि की प्रभावोत्पादकता और स्वाभाविकता को बढ़ाने के लिए हुआ है। इस प्रकार 'जय-पराजय' से 'अलग अलग रास्ते' तक अश्क के बड़े नाटक स्वयं में विस्तार से संक्षेप-रूप-गठन की ओर शिल्प-विकास के सुन्दर नमूने हैं। उनके नाटकों में विभिन्न नाटकीय तत्वों का रसायनिक मिश्रण हैं। न तो वे हिन्दी के 'समस्या नाटकों' की तरह सन्धि-च्युत हैं और न असंगठित। वस्तु के यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए नाटकीय तत्वों को उनमें कलात्मक रूप से समन्वित किया गया है और वे कला की दृष्टि से आधुनिक अंग्रेज़ी, अमरीकी तथा यूरोपियन नाटकों की तरह हैं।

इंग्लिस्तान और अमरीका में रंगमंच साधन-सम्पन्न हैं और वहाँ रंगमंच पर ऐसे प्रयोग भी किये गये हैं, जिनमें न संकलन-त्रय है, न गठन और जो स्वप्न-संसार की तरह विशृङ्खल हैं। प्रीस्टले का 'जॉंस्टन ओवर जार्डन' इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। उसमें दृश्य इतनी जल्दी बदलता है और एक से दूसरा दृश्य ऐसा विचित्र आता है कि कल्पना नहीं की जा सकती। लेकिन वहाँ भी प्रीस्टले को रंगमंच पर उसे दिखाने के लिए बड़ी कठिनाई पेश आई थी और इतना खर्च उठा था कि उन्होंने जल्दी ही उसे रंगमंच से उठा लिया था, पर वैसा नाटक जिसमें लेखक अपनी कल्पना की बागें खुली छोड़ दे, वहीं सम्भव हो सकता है, जहाँ न केवल रंगमंच घूमने वाला बनाया जा सकता है, बल्कि विज्ञान की सहायता से सहस्रों दूसरे प्रसाधन उपस्थित किये जा सकते हैं। अश्क ने इस बात का ध्यान रखा है कि वे ऐसे नाटक लिखें, जिन्हें साधारण एमेचर क्लब भी खेल सकें और अभी तक उन्होंने कल्पना

की वैसी उड़ानें नहीं भरीं।

लेकिन उनके सभी बड़े नाटक केवल एमेचर क्लबों के लिए हों, ऐसी बात नहीं। 'पैंतरे', 'क़ैद' और 'उड़ान' बड़े स्टेज की मांग करते हैं। और उन्हें पूरी भव्यता के साथ खेलने के लिए पेचीदा स्टेज इफेक्ट्स की भी ज़रूरत है। 'अलग अलग रास्ते' और 'छठा बेटा' में मुख्य पात्रों का सफल चरित्र-चित्रण मँझे हुए अभिनेताओं की मांग करता है।

जय पराजय

यह नाटक अश्क का सब से पहला, उनके समस्त नाटकों की अपेक्षा बड़ा और एक-मात्र एतिहासिक नाटक है। इसके बाद उन्होंने वर्तमान जीवन के यर्थाथ नाटक ही लिखे और वे भी अपेक्षाकृत लघु !

'जय पराजय' की कथा वस्तु इतिहास के राजपूत काल से ली गई है। टाड राजस्थान में वर्णित एक घटना के आधार पर इसका निर्माण हुआ है। मुख्य पात्र सब वही हैं। अश्क ने मूल-कथा में केवल एक परिवर्तन किया है। 'टाड राजस्थान' में रणमल को राणा लक्षसिंह का ससुर बताया गया है, पर पं० गौरी शंकर हीरा चन्द ओझा ने 'उदय पुर का इतिहास' में रण मल को राणा का साला लिखा है। अश्क ने टाड की कथा में पं० गौरी शंकर के बताये तथ्य का परिवर्तन

कर इस नाटक का सृजन किया है।

राणा लक्षसिंह मेवाड़ राणा हैं। उनके दो पुत्र हैं—युवराज चंड और राघव देव और दो राज कुमारियाँ हैं—हेमवती और सुकेशी। इनकी माता के लिए रानी नाम का ही प्रयोग हुआ है। रावल चूड़ावत एक पड़ोसी राज्य मंडोवर के अधिपति हैं। उनके दो रानियाँ हैं, बड़ी रानी का नाम है कुसुम और छोटी का नाम है तारा। कुसुम से एक लड़का है रणमल, जिसे रावल चूड़ावत अपनी छोटी रानी के कहने से निर्वासित कर देते हैं। वह जाकर मेवाड़ में आश्रय लेता है। तारा से एक लड़की है जिसका नाम है हंसाबाई।

मंडोवर तथा मेवाड़ में अरसे से वैमनस्य चला आ रहा है जो पिछले कुछ दिनों से शान्त है।

रावल चूड़ावत अपनी छोटी रानी के कहने पर अपनी पुत्री हंसाबाई के विवाह का नारियल युवराज चंड के लिए भेजते हैं। दरबार में जब नारियल आता तो वृद्ध राणा लक्षसिंह के मुँह से हँसी हँसी में अनायास निकल जाता है कि 'नारियल राजकुमार के लिए होगा। हम बूढ़ों के लिए नारियल कौन लायगा।' इतनी सी बात के कारण युवराज चंड हंसा बाई को अपनी मां मान लेते हैं और विवाह से साफ़ इनकार कर देते हैं। अन्त में वृद्ध राणा को स्वयं अपने विवाह के लिए वह नारियल स्वीकार करना पड़ता है। रणमल भी यही चाहता है। वह सोचता है कि यदि हंसाबाई का विवाह वृद्ध राणा से हो गया तो राणा हंसा के कहे पर चलेगा और स्वयं वह हंसा के द्वारा चंड और राघव को रास्ते से हटा कर, धीरे धीरे राज्य में अपना अधिकार बढ़ाता जायगा और इस तरह अपनी सौतेली माँ से अपनी उपेक्षा का प्रतिशोध ले सकेगा। वह गुप्त-रूप से मंडोवर एक पत्र भेज कर चंड

के प्रण की सूचना भेज देता है। और सुझाव देता है कि चंड से यह शपथ और ले ली जाय कि यदि राणा के यहाँ हंसा से पुत्र होता है तो वही गद्दी का अधिकारी होगा। हंसाबाई चंड से प्रेम करती थी और जब उसे यह समाचार मिलता है कि वृद्ध राणा से उसका विवाह होगा तो उसका दिल टूक-टूक हो जाता है। फिर हंसा का विवाह राणा लक्षसिंह से हो जाता है और चंड भी शपथ ले लेता है कि वह अपना अधिकार त्याग, राज्य का एक सेवक हो कर रहेगा।

अब हंसा युवराज चंड की माँ हो जाती है, पर वह अपने हृदय से चंड का प्रेम नहीं निकाल सकती। वह चंड से अनुरोध करती है कि वह उसे माँ के रूप में नहीं, प्रेमिका के रूप में अपनाये। मर्यादा-निष्ठ, व्रती चंड उसके अनुरोध की उपेक्षा करता है। उससे हंसा के नारी हृदय को ठेस लगती है और उसका प्रेम प्रतिशोध की भावना में बदल जाता है।

उधर रणमल धीरे-धीरे अपने षड़यन्त्र का चक्र बढ़ाता जाता है। वह चंड और राघव दोनों को अपने रास्ते से हटा देना चाहता है। राघव और राज-नर्तकी भारमली में प्रेम हो गया था। रणमल भी भारमली के रूप पर आसक्त था, किन्तु भारमली ने उपेक्षा से उसे ठुकरा दिया था, इसलिए उसने द्वेष के वश हो एक दिन, जब भारमली और राघव रात्रि में एकांत में बैठे बातें कर रहे थे, युवराज चंड को ले जाकर उन्हें दिखा दिया। चंड ने उसे डाँटा और अपने बड़े भाई के आदेश से राघव राजधानी छोड़ कर खेलवाड़ा की जागीर पर चला गया। अब रणमल ने हंसा को अपनी ओर मिला कर षड़यन्त्र का जाल विस्तृत करना आरम्भ किया।

हंसा बाई के पुत्र उत्पन्न हुआ। राणा लक्षसिंह ने मुसलमानों से

गया के तीर्थ-यात्रियों की रक्षा करने के लिए युद्ध में स्वयं जाने का निश्चय किया और अपने पीछे अभिभावक रूप में चंड को राज्य और युवराज मोकल की देखभाल के लिए छोड़ दिया। वहीं युद्ध में वे वीर-गति को प्राप्त हुए।

अब रणमल हंसाबाई के कान भरता है कि चंड स्वयं राजा बनना चाहता है और चंड को निर्वासित करा देता है। वह भारमली को भी अपने चंगुल में फाँसने के लिए प्रयत्न करता है, पर वह किसी प्रकार उसके चंगुल से निकल कर राघव के पास उसकी जागीर खेलवाड़ा में पहुँच जाती है और रणमल के सारे षड़यन्त्र उसे बताती है और उसे चेतावनी देती है कि राघव के प्राणों की भी खैर नहीं। पर राघव समय से नहीं चेतता।

चंड भी निर्वासित होकर मांडू में जाकर शरण लेता है। अब वस्तुतः राज्य पर रणमल का अधिकार हो जाता है। वह स्वयं प्रधान-सेनापति बन जाता है और बालक युवराज मोकल के स्थान पर राज्य-काज करने लगता है। वह सेना में और सेना के उच्च पदों पर अपने विश्वस्त राठौर सैनिकों की नियुक्ति कर देता है, षड़यन्त्र कर धोखे से राघव को मरवा भी डालता है और भारमली को गिरफ़्तार कर अपने पास बुलवा लेता है।

इधर वह यवनों का आक्रमण रोकने का बहाना कर मंडोवर पर हमला कर देता है। रावल चूड़ावत की मृत्यु हो चुकी है और उसका सौतेला पाँच वर्ष का बालक भाई राज्य सिंहासन का उत्तराधिकारी है। रात में हमला कर वह राज्य पर अधिकार कर लेता है। रानी तारा अपने नन्हें युवराज को रणमल के क्रूर हाथों में पड़ने से पहले ही स्वयं अपने हाथों मार डालती है।

रणमल के बढ़ते कुचक्रों को देख कर हंसा को पश्चाताप होता है, पर रणमल का अधिकार और कुचक्र इतने शक्तिशाली हो जाते हैं कि उनसे निकलना उसके लिए दुष्कर हो जाता है। एक दिन रणमल बालक मोकल को मार डालना चाहता है कि एक धाय जो पहले से ही उसके अभिप्राय को ताड़ गई थी, उसे बचा लेती है और फिर युवराज को उसकी आँखों के सामने नहीं आने देती। हंसा अपने अभिमान में युवराज को सहायता के लिए नहीं बुलाना चाहती, पर अंत में धाय के समझाने पर उसे पत्र लिखती है। युवराज चंड पत्र पाते ही चलने को तैयार हो जाते हैं। पहले वे गुप्त रूप से अपने विश्वस्त सैनिक भेजते हैं और फिर स्वयं अपने पूर्व निश्चय और वचन के अनुसार दीपमाला की संध्या को आते हैं और दुर्ग को घेर लेते हैं। उनके सैनिक किवाड़ खोल देते हैं और वे विजयी होते हैं।

उस समय रणमल भारमली के हाथों शराब पीकर मस्त होने में मशगूल होता है जब उसे सूचना मिलती है कि महल घिर गया है, पर वह भारमली से और शराब पिलाने को कहता है और शराब पीते-पीते बेहोश हो जाता है। भारमली अवसर पाकर उसकी पगड़ी से ही उसे बाँध देती है और उसे मार कर अपने प्रिय राघव की हत्या का प्रतिशोध लेना चाहती है। वह छुरा चलाती है, पर उसका हाथ काँप जाता है और केवल रणमल का कंधा छलनी होता है। वह होश में आ जाता है और अपने बंधन खोल कर मुक्त हो जाता है।

उसी समय कमरे का किवाड़ टूट जाता है और चंड के सैनिक तलवारें लेकर घुस आते हैं और उसे मारना चाहते हैं। भारमली कहती है कि तुम लोग ठहरो मैं इसे मार कर अनेक अपमानों का बदला लूँगी। इसी बीच अवसर पाकर रणमल कमरे में रखा पीतल का एक कलश

उठा कर भारमली पर चोट करता है। वह घायल होकर गिर पड़ती है। वही कलश वह एक सैनिक पर भी मारता है। सैनिक भी घायल हो कर गिर जाता है और रणमल उसकी तलवार लेकर अन्य सैनिकों से लड़ता बाहर निकल जाता है। भारमली घायल अवस्था ही में, ज़रा सा उठकर, रणमल के पीछे छुरा फेंकती है, जिससे घायल होकर वह गिर कर मर जाता है। चंड और दूसरे सैनिक भी आ जाते हैं। घायल भारमली भी तब अपने प्राण त्याग देती है। मरते समय वह इच्छा प्रकट करती है कि उसके शव को खेलवाड़ा ही लेजाकर जलाया जाय। तभी हंसाबाई भी वहीं आ जाती है और रणमल को मरा देख कर वह चंड से कहती है—'चलो तुम्हारे मार्ग से यह काँटा भी निकल गया।' अपने प्रति विमाता का यह संदेह चंड सह नहीं सकता और वह उसी क्षण चला जाता है।

इस नाटक को लिखते समय वस्तुतः अश्क जी की दृष्टि सामंतयुगीन नैतिकता, आदर्शवादिता और मर्यादा (जो राष्ट्र-रक्षा, राष्ट्र-सेवा, राष्ट्र-गौरव और कर्तव्य-परायणता के नाम पर अपनी व्यक्तिगत आत्म-तुष्टि के खोखले सीमित स्वार्थ तक पहुँची हुई थी और जिससे वस्तुतः राष्ट्र की हानि हुई) तथा व्यक्तिगत अहम् भावना के व्यंग्यात्मक उद्घाटन पर रही है।

यह एक ऐतिहासिक हकीकत है कि राजपूत नैतिकता, आदर्श और मर्यादा की थोथी व्यक्तिगत अहं-भावना से बुरी तरह जकड़े गये थे। और अपनी व्यक्तिगत अहंवादी आन पर राष्ट्रहित को राष्ट्र गौरव के नाम पर कुरबान कर देते थे। यही उनके पतन की ट्रेजिडी का सबसे

बड़ा व्यंग्य था। इस यथार्थ पर ही अश्क ने मीठा व्यंग्य किया है।

इस नाटक का नायक चंड ऐसी ही नैतिकता, आदर्श और मर्यादा तथा कर्तव्यपरायणता की अहंवादी आन में ग्रस्त है जो अन्ततः राष्ट्र-पतन का कारण बनती है। चंड एक पितृ-भक्त, कर्तव्य-परायण, प्रजा का हित करने वाला, अपनी बात का पक्का, अभिमानी राजकुमार है। अपने पिता के मज़ाक में ही कह देने भर से कि 'हम बूढ़ों के लिए नारियल कौन लायेगा?' वह हंसाबाई को अपनी माँ मान लेता है और अपने हठ पर अड़ा रहता है। उसका यह हठ, जो उस काल की राजपूती आन-बान-शान बन गया था, राष्ट्र पतन का कारण बनता है। वह अपनी इस आन के लिए निर्वासित होता है, कष्ट उठाता है और अन्त तक भटकता रहता है' किन्तु राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य को निभाने से नहीं चूकता। आवश्यकता पड़ने पर वह आकर चित्तौड़ का उद्धार करता है। चंड के चरित्र का विकास अत्यन्त स्वाभाविक रूप से अपने में ठोस यथार्थता लिये हुए होता है।

हंसाबाई के चरित्र में भी हम अहं की पराकाष्ठा पाते हैं। उसका अहं नैतिक आदर्शवादी अहं नहीं है। उसका अहं मनोवैज्ञानिक अहं है। उसका नारी हृदय अपने प्रेम की उपेक्षा पाकर तिलमिला उठा है और प्रतिशोध की भावना उसमें जाग्रत हो गई। उसका चरित्र अत्यन्त स्वाभाविक रूप से विकसित हुआ है। वह बहुत भोली और सीधी है। रणमल बड़ी आसानी से उसे अपने हाथ की कठपुतली बना लेता है।

भारमली का चरित्र पवित्र हृदय की प्रेमिका के रूप से विकसित हुआ है। वह असाधारण गुण-सम्पन्न सुन्दर नर्तकी है, फिर भी उसका पवित्र प्रेम स्वयं अपना आदर्श है। वह राघव देव से प्रेम करती है और रणमल द्वारा उपस्थित की गई सारी बाधाओं और

कुचक्रों के बावजूद वह अपनी पवित्रता की रक्षा करती है और अन्त में उसी प्रेम की रक्षा में अपने प्रेमी के हत्यारे रणमल की हत्या करती है और अपने अपमानों का प्रतिशोध लेती है। इस रूप में भारमली वास्तव में श्री नगेन्द्र के शब्दों में—'देव सेना और मालविका के गौरव की अधिकारिणी है।'

रणमल एक खल-नायक है। अपनी सौतेली माँ के उकसाने से, अपने पिता द्वारा निर्वासित होकर वह चित्तौड़ में आकर रहने लगता है। चित्तौड़ के मन्त्री आदि उसके आगमन को अशुभ बता कर राणा से उसे शरण न देने की सलाह देते हैं। किन्तु राणा, चंड, राघव, तीनों ही उसे शरण देते हैं, पर वह उन्हीं के विरुद्ध षड़यंत्र कर अपना कृतघ्न रूप प्रकट करता है। वह राज्य हस्तगत करने के हेतु अपने छोटे भाई, अपनी सौतेली माँ, अपनी बहन हंसा (जिसकी कृपा से वह सारे षड़यंत्र सरलता से पूरे कर पाता है) अपने शरण दाता राघव और चंड किसी के प्रति वफ़ादार नहीं रहता। वह अपने स्वार्थ के लिए सभी को अपने रास्ते से अलग करने का षड़यंत्र रचता है। किन्तु अन्त में अपने किये का फल भोगता है।

राघव देव एक कर्तव्य निष्ठ राजकुमार है। भारमली उसे प्रेम करती है। वह भी उसकी ओर आकर्षित है, किन्तु उसे निभाने की आत्मशक्ति उसमें नहीं है। वह वीर होते हुए भी भीरु है।

सभी मुख्य पात्रों के चरित्रों में जय-पराजय का अपूर्व संघर्ष दिखाया है। सामान्ती अहं का सुन्दर अंकन है।

शिल्प की दृष्टि से अन्य ऐतिहासिक नाटकों की अपेक्षा जहाँ कुछ

बातों में यह नाटक श्रेष्ठ है, वहाँ अश्क के नाटकों में शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त अशक्त है। इसकी त्रुटियाँ अत्यन्त स्पष्ट हैं।

......नाटक आवश्यकता से अधिक लम्बा है, पहला सम्पूर्ण अंक ही यदि न होता तो काम चल जाता है। अनेक दृश्य कार्य-गति रोधक हैं—विशेषकर प्रथम अंक में।

......सुकेशी और हेमवती के प्रसंग से कथा विस्तार हो गया है, उनके बिना भी काम चल सकता था। उन्हें निकाल देने से नाटक में कोई कमज़ोरी नहीं आती।

......पहले अंक का पहला दृश्य रंगमंच पर सम्भव नहीं, इस प्रकार की जटिलताएँ कुछ अन्य दृश्य-विधानों में भी हैं।

......आरम्भ में झोटिंग भट्ट को महत्व पूर्ण पात्र के रूप में अंकित किया गया है, किन्तु फिर अन्त तक उसका कुछ पता नहीं चलता। मन्त्री का रोल भी राणा लक्षसिंह के बाद समाप्त हो जाता है। क्यों और कैसे समाप्त हो गया, इसका नाटक में न दिखाना अस्वाभाविकता है।

सम्वाद और उनकी भाषा बड़ी सुन्दर, प्रभाव पूर्ण और ज़ोरदार है। जिज्ञासा, रहस्योद्घाटन, चरित्र-निर्माण आदि की क्षमताएँ सम्वादों में विद्यमान हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से कार्य की अवस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और संधियों का नियम-बद्ध निर्वाह तो नहीं हुआ है, फिर भी उनका स्वाभाविक कथा-विकास के साथ समावेश हुआ है। नाटक का अन्त क्लाइमेक्स पर जाकर हो जाता है, किसी फल की प्राप्ति नहीं होती।

इस ऐतिहासिक नाटक में भी अश्क की दृष्टि यथार्थवादी रही है उन्होंने राजपूत-काल की अपने गुण-दोषों से युक्त यथार्थ तस्वीर का ही अंकन किया है, इसीलिए 'जय पराजय' ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

स्वर्ग की झलक

'जय पराजय' ऐतिहासिक नाटक लिखने के बाद अश्क ने 'स्वर्ग की झलक' अपना पहला सामाजिक और आधुनिक शैली का नाटक लिखा। 'जय-पराजय' में पिछली नाटकीय परम्परा के जो गुण-अवगुण ज्ञात-अज्ञात रूप से आ गये थे, उन सब का परिमार्जन इस सामाजिक नाटक में किया गया। अश्क की शैली के विकास-क्रम में 'स्वर्ग की झलक' महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसे लिख कर लेखक ने इतिहास के प्राचीन पुरातत्व से नाटक के वस्तु-तत्व को चुनने के परम्परा-प्राप्त मोह को भंग किया और नाटक को श्रव्य-काव्य मात्र की सीमा से निकाल कर उसको वास्तविक-रूप-दृश्य काव्य में प्रस्तुत करने के लिए, रंगमंच के विकास के साथ उसका सामंजस्य बैठा कर, शैली सजाने-सँवारने का कलात्मक प्रयत्न किया। इस दृष्टि से

यह याद रखना चाहिए कि 'स्वर्ग की झलक' 'छठा बेटा', 'कैद' और 'उड़ान' से पहले सन् १६३८ में, ऐतिहासिक नाटक 'जय पराजय' के बाद, लिखा हुआ अश्क का पहला सामाजिक आधुनिक नाटक है।

यह नाटक मध्यवर्गीय आधुनिकाओं के अस्वस्थ सामाजिक जीवन पर एक व्यंग्य है। साथ ही यह व्यंग्य उन आत्म भीरु-मध्यवर्गीय नवयुवकों पर भी है जो आधुनिकाओं की दायित्वहीनता और दिखावटी शिष्टाचार से घबड़ाकर या तो उनके आगे आत्मसमर्पण कर देते हैं या एकदम शिक्षित नारियों से ही दूर भागने लगते हैं। इस प्रकार नाटक में समाज के संक्रातिकालीन विवाह और प्रेम की समस्या के एक पहलू का यथार्थ उद्घाटन भी होता है।

रघु एक पत्रकार है। उसकी पहली पत्नी का स्वर्गवास हो चुका है और अब उसके भाई और भाभी उस पर ज़ोर देते हैं कि वह अपनी साली रक्षा से विवाह करले। किन्तु रघु बी० ए०, एम० ए०, पास अपने नये मित्र—अशोक और राजेन्द्र की सुशिक्षित पत्नियों जैसी अप-टू-डेट पत्नी चाहता है और रक्षा केवल 'भूषण' पास, सीधी-साधी लड़की है। इसीलिए रघु कहता है :

> "इस 'भूषण' के रहते हुए भी पत्र तक वह ठीक से नहीं लिख सकती। बात करने, कपड़ा पहनने की उसे तमीज़ नहीं, चार मित्र आ जायँ तो लाज से दुबक कर अपने कमरे में जा बैठे। मैं पूछता हूँ आप किस तरह मुझे फिर चक्की का पाट गले में बाँधने को कहते हैं।"

इस विरोध के कारण भाभी रघु की शादी प्रो० राजलाल की बी० ए० पास संगीत-कला-दक्ष अप-टू-डेट लड़की के साथ करने का

निर्णय करती है। यहाँ पहला अंक समाप्त हो जाता है और कथा-वस्तु की नाटकीय भूमिका प्रस्तुत हो जाती है।

दूसरे अंक में रघु के मित्र अशोक और श्रीमती अशोक के पारिवारिक जीवन की झाँकी है। रघु को अशोक के घर खाने का निमन्त्रण है। अशोक की पत्नी शिक्षित अप-टू-डेट है। अशोक खाना पकाने में पटु हैं। अपनी पत्नी से कहते हैं कि ज़रा उठकर रोटियाँ सेक ले, खीर और सब्जी तो वे पहले ही पका चुके हैं। किन्तु वह इनकार कर देती है। कहती है कि उसका सर दर्द कर रहा है, रात में उसने उठकर अपनी लड़की को दूध पिलाया, रात को वह जगी है, इसीलिए वह कुछ न करेगी। नौकर बीमार है। वह कहती है कि तीन नौकर रख लेने चाहिएँ और जब अशोक साहब झल्लाते हैं तो कहती है: 'मैं क्या जानूँ ? मैं स्वयं तो चूल्हा झोंक नहीं सकती।' इस बात से चिढ़ कर अशोक क्रोध में चीखते हैं कि इतने में रघु आ जाता है। रघु के आते ही अशोक कैसा रंग बदलते हैं...इसका इतना हास्योत्पादक और व्यंग्य-पूर्ण चित्र खींचा गया है...कि पाठक और दर्शक इस पारिवारिक परिस्थिति पर बिना हँसे और साथ ही बिना तिलमिलाये नहीं रह सकता। जब रघु पूछता है, 'क्या बात है इतने ऊँचे चीख रहे हो ?' तब अशोक अपनी बात को छिपाते हुए कहता है:

"चीख रहा हूँ! क्या करूँ, बीस बार कहा कि भाई तुम आराम करो। समय पर एक घड़ी का आराम बाद को एक वर्ष की मुसीबत से बचाता है, पर यह मानती ही नहीं (थके हुए स्वर से) स्वास्थ्य इनका खराब है, रात में सोई नहीं, पर ज्योंही सुबह मैंने बताया कि तुम्हारा खाना है, तो झट रसोई-घर में जा बैठीं। मैं सब्जी लेने गया

था...मेरे आते-आते इन्होंने खीर पका डाली (हँसते हैं) खीर बनाने में तो सीता जी बस निपुण हैं। मुझे लग गई देर, वापस आया तो बड़ी मुश्किल से रसोई घर से उठाया कि भाई आराम करो, फिर मुझे ही डाक्टरों के पीछे मारा-मारा फिरना पड़ेगा।"

यह सम्वाद केवल श्रीमती अशोक पर ही कठोर व्यंग्य नहीं है, बल्कि सारी परिस्थिति की विद्रूपता पर व्यंग्य करता है।

इसी प्रकार तीसरे अंक में रघु अपने मित्र राजेन्द्र (दर्शन के अध्यापक) की सुशिक्षित अप-टू-डेट पत्नी की पारिवारिक दायित्वहीनता के दर्शन करता है। श्रीमती राजेन्द्र का बच्चा बीमार है, किन्तु वे कंसर्ट के प्रबन्ध में व्यस्त हैं, उन्हें पति और पुत्र से अधिक बाहरी प्रदर्शन की चिन्ता है। इस दाम्पत्य जीवन की झाँकी भी व्यंग्यपूर्ण और हास्य-मिश्रित प्रस्तुत की गई है।

चौथे अंक में कंसर्ट का दृश्य है, जिस में रघु, प्रो० राजलाल की लड़की उमा का कला-प्रदर्शन भी देखता है। दूसरी ओर उसकी भाभी उमा के साथ रघु की सगाई पक्की कर लेती है। किन्तु अशोक और राजेन्द्र का विषम खीझ पूर्ण जीवन देख कर रघु का मन बदल जाता है और वह इन आधुनिकाओं से घबराकर अपनी साली रक्षा से ही शादी करने को तैयार हो जाता है।

इस प्रकार इस नाटक का व्यंग्य जहाँ शिक्षित आधुनिक नारियों की असंतुलित प्रवृत्ति पर चोट करता है, वहाँ रघु जैसे मध्यवर्गीय नवयुवक की भीरुता पर भी चोट करता है। यद्यपि इसमें पात्रों का चरित्र-चित्रण उनके जीवन के एक पहलू को ही लेकर किया गया है, किन्तु परिस्थिति जन्य सारी संश्लिष्ट समस्याएँ उभर कर सामने आ गई

हैं। रघु, भाई साहब, राजेन्द्र-दम्पति और अशोक-दम्पति का चरित्रांकन मूल उद्देश्य को बड़े यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है।

किन्तु नाटक का मूल उद्देश्य क्या है! क्या आधुनिक फैशनपरस्त नारियों के प्रति रघु की वितृष्णा द्वारा लेखक प्राचीन संस्कृति का पोषण करता है? क्या लेखक आधुनिक शिक्षा की खिल्ली उड़ाना चाहता है? शायद ऐसा नहीं है। इस नाटक में न तो एकदम प्राचीन संस्कृति का पोषण है और न आधुनिक शिक्षा की खिल्ली ही उड़ाई गई है। जो लेखक 'उड़ान' में माया जैसे स्वाभिमानी नारी-पात्र की सृष्टि कर सकता है, उसका उद्देश्य केवल इतना नहीं हो सकता। लेखक की सहानुभूति श्रीमती अशोक, श्रीमती राजेन्द्र और कुमारी उमा को फैशन परस्ती और अकर्मण्यता के प्रति नहीं है और मिस्टर राजेन्द्र की घरेलू स्थिति का चित्रण उपस्थित करके लेखक यह भी संकेत कर देता है कि ऐसी एकांगी पत्नियों से घर नहीं बन सकता। ऐसी पत्नियों के सेवक पतियों के आधुनिकपन—इस कृत्रिम जीवन को देखकर उनके प्रति दया और क्षोभ दोनों ही पैदा होते हैं। ऐसे चरित्र एक टाइप हैं जो नार्मल नहीं होते और जिनकी-हीन भावना उन्हें अपनी ग़लतफ़हमियों से ऊपर नहीं उठने देती। फिर ऐसे पति-पत्नी अपने दाम्पत्य जीवन में सामंजस्य कैसे पैदा कर सकते हैं?

'स्वर्ग की झलक' की भूमिका में अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लेखक ने स्वयं लिखा है:

> "यदि उसे (शिक्षित लड़की को) विवाह कर, सीधा साधा जीवन बिताना पड़ता है तो उसे इस सीधे-साधे जीवन पर नाक-भौं न चढ़ानी चाहिए!.........चाहिए यह कि जहाँ शिक्षा पाकर नारी-स्वाभिमान, आत्मविश्वास,

> व्यापक ज्ञान तथा समाज-सेवा की भावनाएँ पाये, वहाँ अपना संतुलन भी न खोये। तभी समाज में व्यवस्था कायम रहेगी।"

नाटक का मूल उद्देश्य तो इसी संतुलन की ओर इशारा करना है, जितना मज़ाक उड़ाया गया है, वह सब असंतुलित जीवन के एकांगीपन का है। नाटक से ध्वनित होता है कि न तो केवल फैशन-परस्ती आधुनिकता का नाम है और न अशिक्षा का नाम पुरातनता है। दोनों के समन्वय से ही नारी का स्वस्थ-विकास सम्भव है। रघु की भाभी के चरित्र में इस नूतन पुरातन के समन्वय की कुछ झलक है। इसमें केवल भाई साहब का चरित्र पुरातन संस्कारों का प्रतीक है।

रघु का चरित्र मध्यवर्गीय नवयुवक की सही झांकी प्रस्तुत करता है, जो परिस्थितियों के दबाव से आत्म-भीरु होकर आत्म-विरोधी निर्णय भी कर डालता है। जिस लड़की को वह अपने योग्य न समझता था, उसी को श्रीमती राजेन्द्र, श्रीमती अशोक और कुमारी उमा का कृत्रिम जीवन देखकर, प्रतिक्रियावश, वरण करने को तैयार हो जाता है।

कला की दृष्टि से अश्क का यह नाटक 'जय पराजय' के बाद उनकी शैली के चरम-विकास का एक चरण है। इसमें संकलनत्रय का 'जय पराजय' से ज्यादा ध्यान रखा गया है। सुबह दस बजे से रात के दस बजे तक के समय में सामाजिक जीवन की एक लम्बी कहानी को सुगठित रूप में उपस्थिति कर दिया गया है। चरित्रों की विशेषता इतने स्वाभाविक ढंग से उभर कर सामने आती है कि वस्तु विन्यास में एक प्रवाह पैदा हो जाता है और क्लाइमेक्स तक पहुँचते-पहुँचते सम्वादों में सहज-रूप से हास्य और व्यंग्य के इतने पुट आते हैं कि नाटक के साथ

तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

दृश्य-विधान और रंग-संकेत काफी विवरण-पूर्ण हैं और वे नाटक की मूल भावना को उद्घाटित करने में समर्थ हैं। शुरू के तीन अंक स्वयं दृश्य हैं। केवल चौथे अंक में चार दृश्य हैं। मूल नाटक के भीतर एक और स्टेज का समावेश करना नया प्रयोग है। संदेह हो सकता है कि एक स्टेज पर दूसरा स्टेज कैसे दिखाया जा सकता है, किन्तु निर्देशन से यह कठिनाई दूर हो सकती है।

इस नाटक की तुलना 'छठा बेटा' 'कैद' और 'उड़ान' जैसे नाटकों से नहीं हो सकती, क्योंकि एक तो 'स्वर्ग की झलक' इनसे पहले की रचना है, दूसरे नाटककार के शैली-विकास का वह प्रथम चरण है।

छठा बेटा

'जय-पराजय' और 'स्वर्ग की झलक' के बाद 'छठा बेटा' अश्क का तीसरा नाटक है। इस नाटक का रूप-गठन पिछले दोनों नाटकों से अधिक सुगठित और सन्तुलित है। यह 'जय-पराजय' और 'स्वर्ग की झलक' की तरह न तो कई अंकों (पाँच और चार) में विभाजित है और न इसमें प्रत्येक अंक के दृश्यों में स्थान की एकता का उस प्रकार का असन्तुलन है, बल्कि इस नाटक में स्थान, समय और कार्य-व्यापार—तीनों नाट्य-तत्वों का बहुत ही सन्तुलित रूप प्रस्तुत किया गया है। 'जय-पराजय' की अभिनय-अवधि चार या पाँच घण्टे थी, (यद्यपि नाटक की घटना कई वर्षों को अपने अंक में लिए हुए है) 'स्वर्ग की झलक' की अभिनय-अवधि डेढ़ घण्टे थी, (जब कि नाटक यथार्थ जीवन में पूरा एक दिन लेता है।) किन्तु इस नाटक

की अभिनय-अवधि उतनी ही है जितनी कि यथार्थ-अवधि! समय के सन्तुलन की दृष्टि से यह लेखक की बहुत बड़ी सफलता है। एक बरामदे में ही पूरे नाटक का आरम्भ, मध्य और अन्त सम्पन्न हो जाता है। पं० बसन्त लाल, उनके छै बेटे, मित्र और उनकी पत्नी—सबका चरित्रांकन, परिस्थितियों का यथार्थ निरूपण और व्यंग्य एवं हास्य मय-उद्घाटन, अर्थात् नाटकीय कला के सभी ब्योरे इतने सीमित स्थान और समय में ही कलात्मक रूप से सम्पन्न होकर उद्दिष्ट प्रभाव को प्रतिफलित करते हैं।

समय और स्थान के इस स्वाभाविक और कलात्मक सन्तुलन को एक अंक की सीमा समझ कर, कुछ आलोचकों ने 'छठा बेटा' को एकांकी की श्रेणी में रख दिया है। डा० सत्येन्द्र ने इसे लम्बा एकांकी माना है। यह भ्रम शायद इसीलिए हुआ है कि अपने पिछले नाटकों की तरह अश्क ने इसमें अंकों के विभाजन को स्पष्ट रूप से संकेतित नहीं किया और न उन जैसा अंक-विधान ही प्रस्तुत किया है। इस नाटक का क्षेत्र एकांकी जैसा नहीं है, क्योंकि न तो इसमें वस्तु के केवल एक कोण को प्रस्तुत किया गया है, न समस्या के केवल एक पहलू को ही नाटकीय इकाई बनाया गया है और न ही किसी एक चरित्र की केवल एक मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि का उद्घाटन किया गया है, बल्कि वस्तु के विविध कारणों की तीव्रता, समस्या के विभिन्न पहलुओं का यथार्थ उद्घाटन और कई चरित्रों की मनोवृत्तियों के स्वाभाविक प्रत्यक्षीकरण द्वारा इस नाटक का क्षेत्र बड़े नाटक की परिधि में ही आता है। इसलिए इसे लम्बा एकांकी नहीं कहा जा सकता, उसी तरह जैसे लम्बी कहानी को उपन्यास की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

'छठा बेटा' के आधारभूत विचार की प्रेरणा लेखक को जीवन की एक प्रत्यक्ष घटना से प्राप्त हुई है। 'प्रीत-नगर' से अटारी तक, दस

मील का लम्बा मार्ग, एक इक्के पर तय करते हुए, एक बुढ़िया माँ की कहानी सुन कर, उसकी कभी न पूरी होने वाली आकांक्षा से प्रेरित मूल-विचार को लेकर इस नाटक की रचना की गई है। पिता-पुत्र के मानवीय सम्बन्ध और एक दूसरे के प्रति पारिवारिक दायित्व के साथ मध्यवर्गीय जीवन की परिस्थितियों से प्रभावित व्यक्ति-स्वार्थ-जन्य भावनाओं का हास्य-व्यंग्य-पूर्ण यथार्थ चित्रण तो इस नाटक में हुआ ही है, साथ ही मानव की अतृप्त आकांक्षा की कभी न पूरी होने वाली प्यास की वेदना भी इसमें बड़े कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त हुई है। पं० बसन्तलाल का स्वप्न अवचेतन मन में घुमड़ने वाली अपने 'छठे बेटे' से सुख पाने की अतृप्त आकांक्षा की वेदना का प्रतीक है, जिसमें उनका 'छठा बेटा' दयालचन्द छाया रूप में आकर उनके दुखी मन को सान्त्वना देता है। प्रारम्भ और मध्य में हास्य-व्यंग्य-मय सम्वादों से मनोरंजकता विद्यमान रहती है, किन्तु अन्त में उद्देश्य का चरमोत्कर्ष अत्यन्त वेदना पूर्ण है और इस प्रकार यह नाटक अपनी मनोरंजकता की खूबी के बावजूद एक अतीव करुण और ट्रेजिक स्वर पर खत्म होता है।

पं० बसन्तलाल रेलवे के रिटायर्ड पदाधिकारी, शराबी और पुराने विचारों के पिता हैं। उनके छै बेटे हैं—हंसराज डाक्टर हैं, हरिनाथ कवि है, देवनारायण क्लर्क है, कैलाशपति एक उजड्ड एसिस्टेंट स्टेशन मास्टर है और गुरुनारायण छात्र है। छठा बेटा दयालचन्द इसमें कहीं मंच पर नहीं आता, केवल अन्त में पं० बसन्तलाल के स्वप्न में उसकी छायाकृति आती है, जो उनकी अतृप्त आकांक्षा का प्रतीक है। माँ का चरित्र एक ओर तो सर्व-सहा भारतीय पत्नीत्व के गुणों से विभूषित है और दूसरी ओर मातृत्व की ममता से आप्लावित है। लेखक की अपनी सहानुभूति माँ के चरित्र के प्रति स्पष्ट है। कमला मध्यवर्गीय पत्नी के

एक रूप का टाइप है। अवसरवादी मित्र के रूप में दीनदयाल और सम्बन्धी के रूप में चाचा चानन राम का चरित्रांकन भी यथार्थ है।

कथावस्तु केवल इतनी है कि पं० बसन्तलाल १०) का नोट लेकर आटा खरीदने जाते हैं, किन्तु वे शराब पीकर और लॉटरी का टिकट ख़रीद कर वापस लौटते हैं। पहले दृश्य में इतनी सी घटना की पृष्ठ भूमि को चरित्रों और सम्वादों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। दर्शक या पाठक को यह पता चल जाता है कि पं० बसन्तलाल एक शराबी पिता हैं, जिन्हें उनके पाँचों पुत्रों में से कोई भी अपने पास रखने और उनकी देखभाल करने को तैयार नहीं। इसके बाद के दूसरे और तीसरे दृश्य की कथावस्तु जीवन की यथार्थता से सम्बन्ध रखते हुए भी मात्र यथार्थता का भ्रम है—स्वयं यथार्थता नहीं। क्योंकि बाद का सारा कथा-व्यापार पं० बसन्त लाल के स्वप्न की घटना बन जाता है। दूसरे और तीसरे दृश्य में दिखाया गया है कि पं० बसन्तलाल की लॉटरी का टिकट उन्हें तीन लाख रुपये प्रदान करता है और वे अपने रईस होने की ख़बर देते हैं। इस खबर से ही उनके पुत्रों में हलचल मच जाती है। डा० हंसराज की पत्नी कमला, जो पहले उन्हें दस रुपये देने पर पछता रही थी, अब बड़े गर्व से कहती है कि उसके रुपयों से ही लाटरी का टिकट खरीदा गया था, इसलिए जीते हुए रुपये भी उसे ही मिलने चाहिएँ। कोई और तरकीब न दिखाई देने पर रुपया ऐंठने के लिए पाँचों पुत्र अपने पिता के परम सेवक बन जाते हैं। तीसरे दृश्य के सम्वाद और कार्य-व्यापार हास्य और व्यंग्य के छींटों से भरपूर हैं और यहाँ पर लेखक का यह विचार कि 'स्वार्थ हमारे उन 'गुणों' को उजागर

कर देता है, जिनके अस्तित्व से हम अपने निःस्वार्थ क्षणों में सदैव इनकार करते हैं।' पूर्णतया चरितार्थ हो जाता है। जब तीसरे दृश्य पर पर्दा उठता है तो दिखाई पड़ता है कि कैलाशपति, जिसे पिता ने अहमक कहा था और उसने बुरा माना था, अपने पिता की चिलम भरता है और उन की गालियाँ सुनता है; डा० हंसराज चिलम भरने की कला में अपनी निपुणता दिखाते हैं और अपने लम्बे बालों से प्यार करने वाला देवनारायण अपना सिर घुटा कर लम्बी चोटी रख लेता है। जब पं० बसन्त लाल उसके मुण्डित सिर पर चोटी की प्रशंसा करते हुए कहते हैं, "मनुस्मृति में यह लिखा है कि चोटी बिजली के वेग को रोकती है। यदि कहीं आदमी पर बिजली गिरे तो चोटी के मार्ग से शरीर में होती हुई धरती में प्रवेश कर जाती है।" तो अपने बाप की हाँ में हाँ मिलाने के लिए कैलाशपति चोटी को बिजली के कंडक्टरों से तुलना देता है और देव रेडियो से! और हास्य का पुट यहाँ और भी तीव्र हो जाता है। इसी प्रकार जब 'सिर घुटाये, लंगोट लगाये, तेल की मालिश से शरीर चमकाये कवि हरेन्द्र और भावी आई० सी० एस० गुरुनारायण प्रवेश करते हैं और पं० बसन्तलाल हरिनाथ से कहते हैं, "तुझमें क्या बल आयेगा साले। सारा दिन कविताएँ लिखता रहता है। कविताओं से क्या होगा? और फिर उनसे जो तू लिखता है? बलवान बन, बलवान! डंड पेल, कबड्डी खेल, दौड़ लगा, कुश्ती लड़!" और साथ ही जब वे अपने लड़कों से पंजा लड़ाते हैं, कलाई पकड़ कर ज़ोर आज़माते हैं, और 'सौंची पक्की' सिखाते हैं तो लड़कों की चाटुकारिता और स्वार्थ-पूर्ति के इस अभिनय पर पाठक और दर्शक दोनों ही हास्य और व्यंग्य के प्रभाव से तरंगित हो उठते हैं।

इस प्रकार खुशामद करके पाँचों बेटे पंडित बसन्त लाल से लगभग

सारा रुपया ऐंठ लेते हैं और चौथे दृश्य में हम देखते हैं कि पंडित बसन्त लाल को साथ रखने से सभी लड़के फिर इनकार कर देते हैं और अन्त में उनका खोया हुआ छठा बेटा दयाल चन्द आकर उन्हें अपनी सेवा का आश्वासन देता है।

चौथे दृश्य में छाया-कृतियाँ ही बातचीत करती हैं, जिनके सम्वादों से उन्हें पहचाना जाता है। अन्त में जब पं० बसन्तलाल सोकर उठते हुए कहते हैं, 'मेरा छठा बेटा!' और पूर्णतः सजग होते और धरती से लाटरी का टिकट उठा कर देखते हुए चिल्लाते हैं—'तो क्या यह सपना था'– और धम्म से फिर चारपाई पर गिर जाते हैं, तब स्पष्ट हो जाता है कि तीन लाख की लाटरी जीतना, पाँचों बेटों का खुशामद करना और फिर पैसा लेकर अपने बाप को तिरस्कृत करना एवं अन्त में छठे बेटे का आगमन—सब कुछ पं० बसन्तलाल के अवचेतन मन की दबी हुई अतृप्त कामना है, जो स्वप्न में साकार हो उठी है'। यथार्थता के इस भ्रम को इतने यथार्थ संकेतात्मक ढंग से नाटक में प्रस्तुत किया गया है कि स्वप्न का भ्रम भी यथार्थ बन गया है और वह हमारे जीवन को अनेक समस्याओं को गहराई से स्पर्श करता है।

नाटक में अश्क ने स्वप्न का मंच-संकेत बड़ी चतुराई से दिया है। दूसरे दृश्य से ही—जब पं० बसन्तलाल बरामदे में सो जाते हैं तो उस पलंग पर चौथे दृश्य के अन्त तक लगातार एक व्यक्ति सोता रहता है और सारा कार्य-व्यापार उस सोते हुए व्यक्ति के सामने ही चलता रहता है और अन्त में जब वह सोकर उठता है तो हम देखते हैं कि वह सोया व्यक्ति और कोई नहीं, पं० बसन्तलाल ही हैं।

साथ ही पहले दृश्य के बाद स्टेजपर रोशनी का कम होना और अन्त में स्टेज पर केवल-छाया कृतियों का दिखाई देना, बाद में इस बात का विश्वास दिला देता है कि सचमुच बसन्तलाल स्वप्न देख रहे थे, रोशनी अन्त में फिर पहले दृश्य सी हो जाती है। इसके अतिरिक्त अन्तिम दृश्य की छायाएँ पं० बसन्तलाल के अवचेतन मन की धुँधली इच्छाओं के प्रतीक-स्वरूप सामने आती हैं—जिनमें मूर्धन्य है छठा बेटा—यह भी स्वप्न का संकेत ही है। स्वप्न-नाटक के रूप में हिन्दी में यह एक सफल प्रयोग है। इसे यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का एक सुन्दर उदाहरण भी कह सकते हैं। क्योंकि स्वप्न की दृष्टि से इसे कुछ लोग फ्रायड के स्वप्न-सिद्धान्त का दृष्टान्त बता सकते हैं, किन्तु यह नाटक केवल एक मनोवैज्ञानिक समस्या का निरूपण या निदान नहीं, बल्कि यथार्थ जीवन की कलापूर्ण अभिव्यक्ति भी है जो एकांगी मनोवैज्ञानिक नहीं है।

पं० बसन्तलाल, चाचा चानन राम, डा० हंसराज, दीनदयाल और माँ का चरित्र अपनी पूरी यथार्थता के साथ उभर कर सामने आया है। साथ ही हरिनाथ, कैलाशपति, देवनारायण और गुरुनारायण तथा कमला के चरित्रों की [illegible] को भी बड़ी खूबी सी स्पष्ट किया गया है। अश्क छोटे से छोटे चरित्र के अंकन में भी परिश्रम करते हैं और वह हमें जाना-पहिचाना सा लगने लगता है। कमला कुछ देर के लिए स्टेज पर आती है, किन्तु अपने चरित्र की छाया वातावरण पर छोड़ जाती है। ये चरित्र पारिवारिक इकाई के रूप में तो यथार्थ अंकित हुए ही हैं, साथ ही उनमें वर्गीय-अन्तर्विरोधों और मध्यवर्ग के विभिन्न रूपों के गुण-दोष भी यथार्थ-रूप से मुखर हुए हैं—जैसा डा० हंसराज में एक डाक्टर का, हरिनाथ में एक मिडियाकर कवि

का, पं० बसन्तलाल में एक शराबी का, देव में एक क्लार्क का, गुरु में एक आधुनिक छात्र का और दीनदयाल में एक अवसरवादी मित्र का!

इस नाटक में अश्क ने समाज के प्रति अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब ही नहीं दिया, समाज की कई समस्याओं का सम्वादों और चरित्रों के कार्य-व्यापार में यथार्थ उद्घाटन ही नहीं किया, अपितु हास्य और व्यंग्य के प्रहार करके उनके गुण-दोषों से परिचय भी कराया है।

रंगमंच की दृष्टि से तो यह सफल नाटक है ही (दो वर्ष पहले इलाहाबाद के म्योर हॉस्टल में यह श्री सतीश पांडेय के निर्देशन में बड़ी सफलता से खेला गया; गत वर्ष नागपुर में खेला गया; इस वर्ष आर्टिस्ट कम्बाइन ग्वालियर ने इसे १० जनवरी को ग्वालियर में और २७ फरवरी को मैसी हाल दिल्ली में बड़ी सफलता से खेला) लेकिन यह अभिनेय ही नहीं सुपाठ्य भी है! इसमें पाठक और दर्शक को समान-रूप से श्रव्य और दृश्य—दोनों काव्य-रसों की उपलब्धि होती है। अश्क के चटपटे सटिप्पण दृश्य-विधान पाठक का मनोरंजन ही नहीं करते, निर्देशक को मंच-निर्देश में सहायता भी देते हैं।

कैद

'कैद' अखनूर की प्राकृतिक सुषमा में गूँजता हुआ जीवन के करुण संगीत का स्वर है। प्रकृति के चिरमुक्त सौन्दर्य की पृष्ठ-भूमि में मानवीय जीवन की विवशता की कहानी इस नाटक में दर्द से भर और उभर उठी है। प्रकृति कितनी मुक्त है और मनुष्यता कितनी विवश, एक का आकाश-सा सीमाहीन, मुक्त, सौन्दर्य, दूसरे की बेबसी को और भी बेबस बना देता है। जहाँ एक ओर अखनूर की घाटी की सुन्दरता मन को गुदगुदाती है, वहाँ दूसरी ओर मानवीय विवशता की कहानी शुरू से अन्त तक सिसकती रहती है।

अश्क ने यह नाटक सन् १६४३ के अन्त और ४४ के आरम्भ में लिखा था। तब उन्होंने इत्तफ़ाक से अखनूर की यात्रा की थी (जिसे वहाँ के लोग छोटा काश्मीर भी कहते हैं।) और उसके सौन्दर्य से वे इतने

अभिभूत हुए कि उस सौन्दर्य को अपनी कला में सजीव किये बिना न रह सके। प्रकृति ने उन्हें 'कैद' लिखने की प्रेरणा दी और लगभग तीन वर्ष में उन्होंने माँझ-सँवार कर इसे अनुपम कलाकृति का रूप दे दिया। इसीलिए यह नाटक कला की दृष्टि से बहुत सुगठित है। किन्तु 'कैद' केवल कला-सौन्दर्य का चमत्कार नहीं, बल्कि जीवन के यथार्थ की झाँकी भी है। सौन्दर्य के आलोक में सामाजिक जीवन के घुटन से भरे अँधेरे पहलू को इस नाटक में लेखक ने इस तरह उपस्थित किया है कि सुन्दरता का आलोक भी ग़म के तम से घिरने सा लगता है।

अप्पी (अपराजिता) दिलीप, प्राणनाथ और इस नाटक की दुनिया में ज़िन्दा रहने वाले शेष सारे पात्र अपनी अपनी जगह इतने बेबस हैं कि सब की विवशता मिल कर सामाजिक विवशता के वर्तमान रूप को साकार कर देती है। केवल अप्पी और दिलीप की बेबसी ही नाटक में दर्द पैदा नहीं करती, बल्कि प्राणनाथ की वह मजबूरी भी कम दर्द-भरी विवशता नहीं, जिसमें वह अपने को मन ही मन अपराधी समझता है। दिलीप का दर्द तो कविता बन कर निकल सकता है, किन्तु प्राणनाथ की पीड़ा को निकलने का कोई मार्ग नहीं। पहले दृश्य में ही प्राणनाथ और अप्पी की बातचीत से विदित हो जाता है कि अपराजिता प्राणनाथ की दूसरी पत्नी है। पहली पत्नी अपराजिता की बड़ी बहन थी, जिसकी मौत के बाद प्राणनाथ ने अप्पी से शादी की, किन्तु अप्पी का मन था दिलीप के साथ। फिर भी वह सुगृहिणी थी।

पर्दा उठने पर हम उसे उदास-उदास पाते हैं। मन में जैसे अतीत

के प्यार की याद सताती रहती है। और प्राणनाथ कोशिश करके भी अप्पी की इस उदासी को दूर नहीं कर पाता। उसके मन में यह कुरेद रहती है कि उसने अप्पी से शादी करके उसके साथ अन्याय किया है। वह 'गिल्टी कान्शस' है। इसी लिए वह ग़म से भरा है। इस ग़म को प्राणनाथ के कई सम्वादों में संकेत से व्यक्त किया गया है। अप्पी को वह सदा कुछ न कुछ बीमार देखता है। उसे यह अच्छा नहीं लगता। वह जानता है कि काँटा तो मन में है। वह कहता है :

> "किन्तु जहाँ रोग है, वहाँ इलाज भी तो है।
> तुम्हारे रोग का कोई इलाज ही नहीं, काश तुम्हारे रोग की दवा मेरे पास होती !

ये शब्द प्राणनाथ की उस हार्दिक सहानुभूति की ओर संकेत करते हैं, जो अप्पी के प्रति उसे है और जिसे अप्पी भी समझती है। फिर भी अप्पी प्राणनाथ को कर्तव्य वश प्यार करती है, इसीलिए वह पत्नी बनी गृहधर्म का पालन तो करती है, किन्तु दाम्पत्य-जीवन में घुल-मिल नहीं सकती। परिणाम यह है कि वह अपने बच्चों को भी समुचित प्यार नहीं दे पाती, बल्कि मन की दबी हुई खीझ और झुँझलाहट इन बच्चों पर उतारती है। अप्पी और प्राणनाथ के समाजिक सम्बन्धों की तह में एक ऐसा असन्तोष है, जो सम्बन्धों की प्रतिष्ठा को तोड़ने में असमर्थ होने की बेबसी से हर समय कराहता रहता है। इन दाम्पत्य सम्बन्धों के मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व की गहराई में उतर कर लेखक ने एक ऐसे तथ्य का उद्घाटन किया है जो आज के असंतुलित पति-पत्नी सम्बन्धों के कारण बिगड़ने वाली समाजिक परम्परा की ओर इशारा करता है। प्राणनाथ और अप्पी के अस्वस्थ सम्बन्धों से उपजी हुई वह एक प्रकार की आन्तरिक वितृष्णा पारिवारिक

विकास के मूलाधार मातृ-स्नेह को ही दुर्बल बना देती है और संतान के नवांकुरों का स्नेहसिंचन नहीं हो पाता। जिन माता-पिता ने अप्पी की शादी प्राणनाथ के साथ करदी, अप्पी का वास्तविक विक्षोभ और असंतोष उनके प्रति है, पर अब तो वे सामने हैं नहीं, इसलिए सारा विक्षोभ बच्चों के प्रति उभर कर निकलता है या प्राणनाथ के प्रति !

इस विषम उदास जीवन में जब अप्पी को अपने पति से सूचना मिलती है, कि दिलीप आया है तो उसमें एक दम बिजली सी दौड़ जाती है। जैसे आज तक वह सो रही थी और इस ख़बर ने उसे जगा दिया हो। इस उत्साह में वह घर की सफ़ाई और बच्चों के साज-सँवार में भी जुट जाती है, क्योंकि उसे अपने प्रिय के आठ वर्ष बाद पाहुन बन कर आने में जो आनन्द मिल रहा है, लगता है, वह आनन्द शायद उसे इतने वर्षों में अखनूर की सुरम्य घाटी की गोद में बसे अपने पति के घरमें कभी नहीं मिला। नाटक का पूरा वातावरण और अप्पी का इस समय का उत्साह और आनन्द बच्चों के प्रति कुछ स्नेह को भी उभार देता है, किन्तु इस सब का निमित्त है उसका दिलीप के प्रति प्यार। जैसे यहाँ पर सारा नाटक चीख़कर कहता है कि काश ये बच्चे दिलीप और अप्पी के प्यार की सहज समाजिक उपज होते तो !......यद्यपि लेखक की सहानुभूति प्राणनाथ के प्रति अधिक है, फिर भी दिलीप के समक्ष उसे रखकर प्राणनाथ की शारीरिक कुरूपता और दिलीप की सुन्दरता को वह इस प्रकार मंच पर एक साथ उपस्थित करता है कि अप्पी का दुर्भाग्य साकार हो उठता है। और यहीं पर जब वह बन्दर को किंगकांग बताती है तो प्राणनाथ के पूछने पर कि किंगकांग क्या ? अप्पी कहती है :

"एक भयानक फ़िल्म का नाम है। जिसमें एक

वनमानुस एक सुन्दर लड़की को उठा कर ले जाता है।
उसी जैसा भयानक और निडर है यह बन्दर !"

ये शब्द न केवल अप्पी के मन की सारी कटुता बड़े सहज व्यंग्य के साथ प्रकट करते हैं, वरन् अप्पी की सुन्दरता और प्राणनाथ की असुन्दरता के सम्बन्ध को भी साकार कर देते हैं। वह सोचती है कि उसके सौन्दर्य-सुख का अपहरण करने वाला उसका पति प्राणनाथ किंगकांग जैसा ही तो है ! प्राणनाथ सब समझता है और इसीलिए 'गिल्टी-कान्शस' है। प्राणनाथ के चरित्र को लेखक ने इतनी सहानुभूति प्रदान की है कि उसके प्रति अप्पी के तमाम विक्षोभ के बावजूद भी पाठक या दर्शक प्राणनाथ से घृणा नहीं कर पाता।

दिलीप और अप्पी में प्यार है। किन्तु दिलीप बौद्धिक है, कवि है। इसलिए सब कुछ झेल कर भी निराश नहीं हैं और अप्पी कितनी निराश है ? दिलीप जब कहता है :

"तुमने अपना नन्हा सा स्वर्ग बसा लिया, पर मैं......मैं न जाने किन अग्नि-परीक्षाओं से निकल गया !......तुम्हारा एक घर है, पति है, बच्चे हैं और मैं......मैं......

तब अप्पी कहती है :

"स्वतन्त्रता की आग में जल कर कुन्दन बन गये तुम और न टूटने वाली बेड़ियाँ मेरे पावों में बँधती चली गईं !"

यह सुन दिलीप को आश्चर्य होता है। उस में उतनी घुटन नहीं है, जितनी अप्पी में है। वह कहती है :

"हम ग़रीबों का क्या है, माता पिता ने जहाँ बैठा दिया,

जा बैठी !.....

और फिर :

"मैं यहाँ आकर सब कविताएँ भूल गयी हूँ !"

जब दिलीप अखनूर और उसके घर के शान्त वातावरण की प्रशंसा दिल्ली शहर के कोलाहल की तुलना में करता है तो अप्पी कहती है :

"क्यों दिलीप काले पानी में भी तो ऐसी शांति और मौन होता होगा ?"

और फिर :

"मुझे कभी कभी ऐसा लगता है, जैसे यह अखनूर मेरा काला पानी है और मैं यहाँ आजीवन बन्दी बना दी गई हूँ।"

अप्पी के बन्धन की पीड़ा नाटक के चारों दृश्यों में अन्तर्भूत रहती है। वैसे सभी अपनी अपनी परिस्थितियों में कैद अन्दर ही अन्दर घुट रहे हैं—दिलीप अकेला है, घर नहीं बसाता, इधर उधर घूमता है और कविता लिखता है। बौद्धिक है, इसलिए गहरे में घुस कर सोचता भी है। किन्तु अप्पी का अभाव उसके जीवन की गति में कितना ज्ञात-अज्ञात रूप से कारण बना है, इसे वह अनजाने में जानता है और जान कर भी अनजाना बनता है। वह अप्पी की तरह हताश नहीं बौद्धिक और आशावादी है। यह बौद्धिकता ही उसके हार्दिक मन्थन को सह्य बनाती रही है और वह हताश होनेसे बचता रहा है। इसके विपरीत अप्पी दिलीप के अभाव में अपने पारिवारिक जीवन में ऊपरी तौर से सारे काम करते हुए भी उदास और निर्लिप्त सी रहती है और प्राणनाथ लगता है, जैसे किसी प्रायश्चित की भावना से हर समय पीड़ित है। उसकी यह भावना ही उसके चरित्र को उठा देती है। शेष

पात्रों की रेखाएँ भी साफ़ चमकती हैं और वे नाटक के मूल उद्देश्य को उद्घाटित करने में समर्थ हैं ।

नाटक का उद्देश्य केवल अप्पी के जीवन की पीड़ा और विवशता को दिखाना ही नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन की उस कुरीति की ओर संकेत करना भी है, जो व्यक्ति-सम्बन्धों में सहज और स्वस्थ संतुलन नहीं कायम होने देती और जिसके चलते योग्य व्यक्तित्व भी अपने विकास की सारी सम्भावनाएँ खो देते हैं। इस प्रकार यह नाटक समाज के उन व्यापक और विविध व्यक्ति-सम्बन्धों पर भी प्रकाश डालता है, जो अपने अन्तर्विरोधों के कारण स्वस्थ मानवीय प्रेम को नहीं पनपने देते ।

कला की दृष्टि से यह हिन्दी में सफल नाटक का उदाहरण है। संकलनत्रय को इस नाटक में इस खूबी से निभाया गया है कि कहीं भेद नहीं पैदा होता है। सुबह से शाम तक की कहानी में ही पूरे नाटक की कहानी का लम्बा समय समा जाता है और एक कमरे में ही सारी घटनाएँ बड़े स्वाभाविक ढंग से घटित हो जाती हैं और सब से बड़ी बात यह है कि अखनूर की लम्बी चौड़ी घाटी के विस्तृत सौन्दर्य का आनन्द भी केवल चार दृश्यों के माध्यम से एक ही स्थान में सम्पन्न हो जाता है। रंगमंच की दृष्टि से इतना गठाव है कि पढ़ते पढ़ते दृश्य साकार से होने लगते हैं। लेखक की संकेतात्मक शैली सम्वादों और दृश्य-विधान के विवरणों को इस ढंग से प्रस्तुत करती है कि दृश्य और श्रव्य दोनों के काव्य-रस इस नाटक में मिलते हैं।

'कैद' दुखान्तकी है और करुण रस से परिपूर्ण है। किन्तु उस पुराने ढंग का दुखान्तकी नहीं है, जिसमें हत्या, नायक का पतन, मृत्यु

और रक्तपात ही मुख्य होते थे, बल्कि मानवीय भावनाओं के सामाजिक रूपों—जीवित व्यक्तियों के यथार्थ-संघर्ष और द्वन्द्व की ओर संकेत करके लेखक नाटक में प्रारम्भ से अंत तक, समाज की करुण स्थिति के गर्भित सत्य को सामने ला प्रस्तुत करता है। जैसा कि अन्यत्र कहा गया है—'क़ैदे-हयात-ओ बन्दे ग़म'...ग़ालिब के इस शेर का दर्द सारे नाटक में समाया हुआ है, आशा की किरण है तो दिलीप की कवि-सुलभ-आशा में। अप्पी की घोर निराशा को देखकर वह कहता है :

> "मैं सोचता हूँ कि जब किसी तरह भी इस कारा से मुक्ति नहीं, हर हाल में यह अनिवार्य है तो क्यों इसकी चिन्ता की जाय, काट सकें तो इन जंजीरों को काटा जाय, नहीं तो क्यों न इनमें जकड़े जकड़े इन्हें भुला दिया जाय।"

और फिर :

> "कवि जब कुरूपता को देखता है तो अप्पी, वह सुन्दरता को नहीं भुलाता। अतीत की गहरी गुफाओं से निकाल कर वह इस सुन्दरता को अपने वातावरण की कुरूपता पर छा देता है।"

अप्पी से अलग होकर दिलीप बड़ी बहादुरी से यह सब करता आया है, उसकी बातों से हम यह जान जाते हैं। नाटक जब खत्म होता है और वह अप्पी से अलग होने पर मजबूर होता है तो हम जानते हैं कि वह फिर उसी वीरता से अपनी जंजीरों को भुलायेगा और भूली बिसरी खूबसूरती को अपने वातावरण की कुरूपता पर छाता रहेगा ..यहीं उसकी ट्रेजिडी अप्पी की ट्रेजिडी से कई गुणा बढ़ जाती है और उसकी विवशता हृदय में टीस उठा देती है।

उड़ान

'उड़ान' लिखने से पहले १९४२-४३ में अश्क ने उर्दू में एक नाटक लिखा था—शिकारी! 'शिकारी' के पात्र वही हैं जो उड़ान के। अन्तर केवल उसके उद्देश्य और अन्त में है। शिकारी-शंकर—को लेकर लिखा गया है और शेष पात्र उसी के चरित्र को उभारते और पूर्ण करते हैं। शिकारी की माया सचमुच की एक कमज़ोर हिरनी है। एक अबला युवती! नाटक के अन्तिम दृश्य में, जब मदन उसे लेकर चलता है तो शंकर न केवल बंदूक लेकर उसे डराता है, बल्कि गोली दाग देता है, पर रमेश बीच में आ जाता है और शंकर की गोली मदन की हत्या करने के बदले अपने मित्र रमेश को शिकार कर लेती है। तब शंकर अपने अभिन्न हृदय मित्र को बाहों में उठा लेता है और अत्यन्त पीड़ा से कहता है—"लो इस घाटी के पैरों में फड़फड़ाने

की तुम्हारी साध पूरी हो गई। लेकिन तुम तो फड़फड़ाये भी नहीं, बस चित हो गये।''

और तब माया की ओर पलट कर वह चीखता है कि वह चली जाय कि उसके कारण उसका प्यारा मित्र उसके अपने हाथों मौत के मुँह में समा गया......क़हर और ग़ज़ब से भरे हुए उसके अन्तिम सम्वाद में शंकर की बर्बरता में छिपा हुआ उसका स्नेह उमड़ उठता है और जब एक ओर माया और मदन डरे-सहमे सरक जाते हैं और दूसरी ओर मित्र का शव उठाये, सिर झुकाये, भारी कदमों से शंकर जाता है और पर्दा गिरता है तो उस बर्बर, लेकिन स्नेहशील शिकारी का चित्र दर्शक को अभिभूत कर लेता है।

अश्क ने जब यह नाटक लिखा तो श्री अन्सार नासरी को—जो उस समय आल इंडिया रेडियो दिल्ली में नाटक के इंचार्ज थे और भावुकता पूर्ण नाटकों का निर्देशन बड़ी कुशलता से करते थे—यह बड़ा पसन्द आया, पर नाटक के अन्त से वे संतुष्ट न हुए। रमेश की मृत्यु उन्हें अपनी कोमल भावनाओं पर ठेस पहुँचाने वाली लगी। तब अश्क ने इसका अन्त यों बदल दिया कि रमेश मदन को गोली मारना चाहता है, पर चूँकि वह बर्बर शिकारी सचमुच माया को चाहने लगा है, इसलिए वह नहीं चाहता कि मदन को मारकर माया को दुखी करे, इसलिए वह बंदूक झुका लेता है और रमेश से कहता है कि वह दोनों को सकुशल घाटी के नीचे छोड़ आये और टूटा हुआ सा वापस फिरता है।

'शिकारी' रेडियो पर बड़ा सफल हुआ और सेना के एक दस्ते और दिल्ली के एक कालेज के छात्रों ने उसे खेला भी। लेकिन अश्क न पहले और न दूसरे रूप में उसे छापने को तैयार हुए। कला की

दृष्टि से 'शिकारी' अपने में पूर्ण और प्रभावोत्पादक था, पर उसकी समस्त खूबियों में अश्क को एक खूबी का अभाव खटका और उसकी पूर्ति के लिए उन्होंने उड़ान भरी। 'शिकारी' की पूर्णता एक व्यक्तित्व के चित्रांकन की पूर्णता थी और 'उड़ान' की एक अन्य व्यक्तित्व की। 'शिकारी' शंकर को लेकर लिखा गया लेकिन 'उड़ान' माया को!

अश्क ने अगले तीन वर्ष में नाटक को कई बार लिखा, यहाँ तक कि उन्होंने एक निर्बल अबला को एक सबल व्यक्तित्व प्रदान करके उसे शिकारी ही नहीं समाज के दूसरे व्यक्तित्वों के साथ रख कर, उसकी विशेषता को और भी उजागर कर दिया और नाटक का नाम 'शिकारी' न होकर 'उड़ान' हो गया।

और अब 'उड़ान' की समस्या स्त्री-पुरुष के असंतुलित सामाजिक सम्बन्धों में संतुलन बैठाने की समस्या है। शंकर शिकारी है, रमेश कवि और मदन एक मध्यवर्गीय मनोवृत्ति का ढुलमुल यकीन युवक। तीनों चरित्र पुरुषों की मानसिकता के तीन स्तरों पर व्यवहार करते हैं। माया युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त एक साहसी तरुणी है जो पहाड़ों, जंगलों और नदी-नालों को पार करती हुई, रास्ते में बने हुए अपने प्रिय साथी मदन से बिछुड़ कर, जंगल के पथ में थक कर चूर और बीमार पड़ जाती है और आखिर शंकर के डेरे में पनाह लेती है। शंकर के साथ है रमेश—एक कवि। एक शिकारी और दूसरा कवि, एकांत जंगल और फिर शरण में आई एक सुन्दर तरुणी! जब माया स्वस्थ हो जाती है तो शिकारी और कवि—दोनों ही उसके सौन्दर्य की ओर आकर्षित हो, उसे प्रेम करने लगते हैं। किन्तु दोनों का प्रेम दो स्तरों का है—

मानसिकता भिन्न है, इसीलिए माया के प्रति दोनों का प्रेम-भाव दो रूपों में प्रकट होता है—शिकारी का प्रेम शक्ति की भाषा में और रमेश का प्रेम श्रद्धा की भाषा में ! शिकारी (शंकर) जब माया के करुण संगीत का स्वर सर्वप्रथम जंगल में गूँजता हुआ सुनता है तो केवल नारी स्वर ही से उत्तेजित हो कर वह कहता है :

> "शिकार की धुन मेरी नसों में उबलती हुई आग बन रही है। अपनी बाहों में किसी भूली भटकी हिरनी को भर लेने की इच्छा तेज़ शराब की तरह मेरी धमनियों में दौड़ रही है।"

उसकी भावना इतनी वासनासिक्त है कि उसमें माया के दुख-दर्द के प्रति हमदर्दी नहीं पैदा होती, केवल अपनी वासना की भूख मिटाने की चिन्ता रहती है। वह प्रेम में भी निशाना बनाता है—उसे, जिसे वह चाहता है। वह कहता है :

> "किसी चिड़िया को निशाना बनाते समय कभी हमने सोचा है कि वह प्रसन्न है या उदास। हम तो शिकार करते हैं भाई ! और शिकारी कभी भावनाओं की चिन्ता नहीं करता......"

और शंकर के बारे में लच्छमन की यह उक्ति कि 'साहब भाग्य के बड़े बली हैं। जिन जंगलों में कभी ढूँढे से भी हिरन नहीं मिलता, वहाँ हर बरस उनके भाग्य से एक न एक शिकार हो जाता है।' एक तीर से दो शिकार करती है। कवि रमेश उसे जन्म का शिकारी कहता है, पर लगता है, शंकर जंगल ही का शिकारी नहीं, जीवन के हर क्षेत्र में शिकारी-स्वभाव का है।

इसके विपरीत कवि का प्रेम श्रद्धा और स्वप्न की भाषा में उमड़ता

है। वह माया के प्रेम से इतना अभिभूत होता है कि उसके प्रति अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाते नहीं थकता और माया कवि के श्रद्धातिरेकपूर्ण प्रेम की भावुकता से ऊब जाती है। जब रमेश पहली बार माया को देखता है तो शंकर से कहता है' 'वह इस लोक की लगती ही नहीं शंकर।' जब शंकर पूछता है, 'तो प्रेम करने लगे हो तुम उसे!' तब रमेश कहता है, 'वह प्रेम की नहीं, पूजा की चीज़ है।'

एक दूसरे स्थल पर रमेश माया से कहता है :

> "मैं सचमुच आपका आभारी हूँ। मेरे मन के आकाश पर अंधकार के अतिरिक्त कुछ न था। आप एक जगमगाते तारे को भाँति आईं और एक झिलमिला सा उजाला उस अँधेरे की नस-नस में दौड़ गया। मन के सूने मन्दिर को एक देवी मिल गई। मैं तो अपना सारा जीवन उसकी आराधना में गवाँ सकता हूँ।"

रमेश में माया की दुख-गाथा के प्रति हमदर्दी है और इसके लिए माया मन में कृतज्ञ भी है, किन्तु वह रमेश के पूजा-मूलक प्रेम से प्रभावित नहीं होती।

शंकर का प्रेम यदि उद्दाम वासना का प्रतीक है तो रमेश का निष्क्रिय रूमानी भावुकता का। एक में पौरुष का आधिक्य है तो दूसरे में स्त्रीत्व का भक्तिभाव। एक ओर शंकर का पुंसत्व पाशविकता की विवेकहीनता तक पहुँचने को तैयार है तो दूसरी ओर रमेश की कोमलता भक्तिभाव की स्त्रैणता तक पहुँचने को तत्पर! दोनों में असंतुलन है। लगता ऐसा है कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों के प्रेम-स्तर एकीकृत होकर, एक दूसरे की क्षति-पूर्ति कर सकते हैं।

नाटक के अन्तिम भाग में मदन सामने आता है। उसके चरित्र का

आभास पहले माया द्वारा सुनाई गई कष्ट-कथा से मिल जाता है। मदन मध्यवर्गीय पति की भावना का प्रतीक है। वह आत्म-भीरु और स्वार्थी था। माया उसमें साहस और परोपकार का संचार करती है। किन्तु उसकी मूलवृति माया से पुनर्मिलन होने पर संदेह के रूप में सिर उठाती है। वह माया को अपनी सम्पति समझता है। उसके प्रेम में सामन्ती संस्कार हैं, जो पर-पुरुष की छाया में भी पत्नी नारी को भ्रष्ट हुआ मान लेते हैं। वह माया को रमेश के पास बैठा देखकर और यह जान कर कि वह इतने दिन उनके पास रही है, उसे पतिता समझ लेता है और माया को उन दोनों के पास एकान्त जंगल में छोड़कर जाने को उद्यत हो जाता है, जिनसे बचकर वह उसके साथ जाना चाहती है, और जिनके पास वह केवल उसी से मिलने की आशा में तब तक रही।

और माया अन्त में तीनों को छोड़कर चली जाती है—तीनों को जो उसे क्रम से खिलौना, देवी या दासी समझते हैं और वह केवल संगिनि होना चाहती है।

'शिकारी' जहाँ शंकर के चरित्र को उभारता था और शेष सभी पात्र उसी के चरित्र को पूर्णता प्रदान करने के लिए रखे गये थे, वहाँ 'उड़ान' माया के चरित्र को उभारता है और शेष पात्र उसकी अपेक्षा गौण हो जाते हैं।

माया रंग-मंच पर एक थकी-हारी, बेबस-बीमार हिरनी सी रमेश के सहारे प्रवेश करती है। लेकिन क्या वह वैसी ही बेबस है, जैसी कि शंकर उसे समझता है, जिसे वह अनायास गोद में भर सकता है? नहीं, शुरू ही से उसके चरित्र की शक्ति के संकेत नाटक में मौजूद

है। केवल यही एक बात कि वह तीन सौ मील पैदल चलकर आई है कि आठ दस दिन केवल जड़ी बूटियाँ खाती रही है उसकी अदम्य शक्ति का परिचय देती है। मिथ्या लाज को वह रंगून की बमबारी में छोड़ आई है, लेकिन वही नारी जो रमेश से कहती है—मैं शर्म और बेशर्मी से ऊपर उठ गई हूँ, आप जैसे चाहें बैठ जायँ—जब शंकर उसे बाँह में लेकर चलना चाहता है तो उसकी आग्नेय दृष्टि की एक ज्वाला से झुलस कर परे हट जाता है।

दूसरे दृश्य में हम उसे स्वस्थ देखते हैं, लेकिन उसके मन पर बमबारी का असर है, कभी वह शिकार को दिलचस्प समझती थी, पर रंगून में उसने हवाई जहाज़ों से गोलियाँ बरसती देखीं, उसने माताओं को देखा जो गोलियों की वर्षा से लोहू में लथपथ, मरे हुए बच्चों को सीने से लगाये भाग रहीं थीं और हम जानते हैं कि उसे शिकार और शिकारियों से सख्त नफ़रत है। ऐसे में जब शंकर उसे बन्दूक से शिकार करना सिखाता है और वह उसकी बाँह के घेरे से निकल जाती है तो शंकर उसकी भावनाओं को नहीं समझता, पर हम समझते हैं।

तीसरे दृश्य में उसका चरित्र और भी खुलता है और हम जानते हैं कि किस तरह वह मदन से प्रेम करने लगी और किस तरह उसने उसे एक स्वार्थी, आत्म-भीरु युवक से परोपकारी साहसी और दूसरे की खातिर जान हथेली पर रखकर नाहूंग की फुंकारती हुई लहरों से जूझने वाला शेर दिल बना दिया। उन दिनों की याद करती हुई वह कहती है :

"न जाने कितनी फुरती, कितना साहस, कितनी उदारता, कितनी संवेदना उसमें आ गई। वह न आता

तो सारे का सारा काफ़िला मौत की उस घाटी में ख़त्म
हो जाता।"

और हम जानते हैं कि यह नारी, जिसे शंकर बार-बार बाहों में भरना चाहता है, पर सफल नहीं होता और जो रमेश को अपनी ढाल बनाये है, वह साधारण नारी नहीं, वह जिससे प्रेम करती है उसी की होगी, नहीं खत्म हो जायगी। किसी शिकारी के बस में नहीं कि उसे अपनी वासना का शिकार बना ले।

माया क्या है—यह चौथे दृश्य में खुलता है। एक नारी जो शक्ति का दूसरा रूप है। जब वह पाती है कि मदन, जिसके लिए वह इतने दिनों से मर रही है, जिसके कंधे से कंधा भिड़ा कर वह जीवन-पथ पर चलने के सपने देखती थी, उसे अपनी मलकियत समझता है, उसे रमेश के साथ बैठे देख कर शक करता है, शंकर के यहाँ उसके रहने को बुरा समझता है तो वह उबल पड़ती है :

"मैं सच कहती हूँ मैं दोनों से डरती हूँ। एक (रमेश) आकाश में बसता है, वह मुझे अपने साथ आकाश की उँचाइयों में लिये उड़ना चाहता है। दूसरा (शंकर) उस अँधियारे खड्ड से भी अँधकार-मय संसार का वासी है। उस का बस चले तो न जाने मुझे किन अँधेरी गहराइयों में ले जाय। मैं दोनों से डरती हूँ। ऊँचाई या गहराई मेरा आदर्श नहीं। गहरे खड्डों और ऊँचे शिखरों से मैं ऊब गई हूँ। मैं समतल धरती चाहती हूँ—समतल और सुखद !"

वह धन और ऐश्वर्य की भूखी नहीं है। वह स्वस्थ, विश्वास-युक्त संतुलित प्रेम चाहती है। वह मदन से कहती है :

"उन लोगों का धन ऐश्वर्य और सुख आराम क्या मुझे क्षण के भर के लिए भी अपनी ओर खींच सकता है ? तुम्हारे साथ में रास्ते की जड़ी-बूटियाँ खाकर निर्वाह कर सकती थी ! सूखी कठोर धरती पर सो सकती थी !"

मदन को हर प्रकार से विश्वास दिलाने पर भी जब उसे विश्वास नहीं होता और वह उसे अन्यमनस्क भाव से अपने साथ चलने को कहता है तो माया के स्वाभिमान को करारी ठेस लगती है। वह कहती है :

"यों शहीद न बनो मदन ! जाओ, जब एक बार संदेह तुम्हारे मन में बैठ गया, तो चाहे मैं सीता की तरह अग्नि-परीक्षा भी क्यों न दे दूँ, उसे अपने स्थान से न हटा सकूंगी। मुझे क्या मालूम था कि तुम्हारी स्वार्थ-परता का एकदम उदारता से और बुराई का भलाई से बदल जाना भी स्वार्थ का ही दूसरा रूप था। जिस उद्दंड लड़की ने तुम्हें डाँटा था, उसे तुम अपने वश में देखना चाहते थे, अपने इंगित पर चलने वाली दासी देखना चाहते थे। मुझे खेद है कि तुम्हें समझने में मैंने भूल की।"

कितना विद्रोह है माया की इस उक्ति में कि सीता की भाँति उसका अग्नि-परीक्षा भी देना मदन के संदेह को दूर नहीं कर सकता। यह एक साथ दो तरफ़ा व्यंग्य है—अग्नि-परीक्षा देने वाली रूढ़ि पर और मदन की कायरता पर।

और अन्त में शंकर के मदन को ललकार कर रोकने पर जब मदन कहता है कि ये तो स्वतः मेरे साथ जा रही हैं, माया के

को दूसरी करारी चोट लगती है और उसका मन पूर्ण रूप से विद्रोह कर उठता है और वह कहती है :

"जाओ ! तुम अपने रास्ते चले जाओ, इस बर्बर शिकारी से मैं स्वयं निबट लूँगी ।"

और जब शंकर क्रोध से बन्दूक तानता है तो वह साहस से सीना तान कर शंकर के सामने खड़ी हो जाती है और उसे एक करारी फटकार बताती है । माया कृतघ्न और एहसान फ़रामोश भी नहीं । लेकिन वह अहसानों के बदले में वासना-तृप्ति का साधन नहीं बनना चाहती । वह कहती है :

"एहसान करके जताना अथवा उसका बदला माँगना उसका मोल घटा देता है । मैं तुम्हारी कृपा भूली नहीं । भूल जाती तो तुम इस प्रकार जीवित खड़े दिखाई न देते ।"

और शंकर के हाथ से बंदूक लेकर वह बता देती है कि बंदूक पर उसका हाथ कैसा सधा है । उसके अंतिम सम्वाद उसके चरित्र को पूरी तरह हमारे सामने रख देते हैं :

"मदन जिसे चाहता है, मैं वह असहाय अबला नहीं जो हर समय पुरुष के आश्रय की आशा बाँधे दासी की तरह खड़ी रहती है । वह बीमार हिरनी भी मैं नहीं, जिसे गोद में भर कर तुम लोग मन-मानी करना चाहते हो..."

और जब इसके विरोध में रमेश पुकार उठता है... 'माया देवी !' तो वह उसे काट देती है :

"मैं देवी भी नहीं जो सदा अपने आसन पर बैठी रहे, तुम लोग महज़ एक दासी, खिलौना या देवी चाहते

हो, संगिनी की तुम में से किसी को ज़रूरत नहीं।"
और वह तीनों को छोड़ कर अपनी मंज़िल पर चली जाती है।

वास्तव में आज की सामाजिक परिस्थितियों ने नर-नारी के सम्बन्धों में एक विकृति पैदा करदी है। न तो पुरुष ही नारी को संगिनी के रूप में देखना चाहता है और न रूढ़ि-ग्रस्त संस्कारों में पीड़ित नारी का दमित व्यक्तित्व संगिनी बनने का साहस करता है। जो पात्र इस विश्वास की घोषणा अपने व्यक्तित्व में करेगा वह रूढ़ परिस्थितियों से विद्रोह करेगा। यह नाटक नारी को पुरुष की रूढ़ दासता से मुक्ति की ओर उन्मुख होने का संदेश देता है। साथ ही पुरुष की मानसिकता के उन तीन स्तरों को शंकर रमेश और मदन के रूप में सामने रखता है, जो नारी के प्रति पुरुष समाज की मनोभावना को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार यह एक यथार्थवादी समस्या-नाटक है जो एक जाग्रत सामाजिक समस्या की गहराइयों को जीवन के माध्यम से उद्घाटित करके भविष्य की ओर संकेत करता है।

और यों 'उड़ान' अश्क के पहले नाटक 'कैद' का पूरक है। 'कैद' वर्तमान की दशा बताता है, 'उड़ान' भविष्य की। 'कैद' में नारी बँध गई है, अपनी आत्मा की मंज़िल और अपने सपनों के देवता से दूर, परिवारिक बंधनों और सामाजिक रूढ़ियों में आबद्ध वह चट्टानों पर सिर पटकती हुई, पछाड़ें खाती हुई, जलधारा की तरह टूट-टूट कर बिखर रही है, 'उड़ान' में वही नारी आदिम पुरुष की हिंस्र वासना कवि-हृदय की अपार्थिव उपासना और स्वामी की अधिकार-लोलुपता का निषेध करती हुई, यथार्थ की चट्टानों पर घायल, लेकिन अपराजित

एक उन्मुक्त हिरनी की तरह एक स्वस्थ समाधान की खोज में निकल जाती है

रंगमंच की दृष्टि से 'कैद' ही की तरह 'उड़ान' भी प्रभावोत्पादक है। इसमें एक तरह से लिरिक (गीति-काव्य) जैसा सरस गठाव है। भाषा ही कवित्व पूर्ण नहीं है, बल्कि नाटक की आत्मा में भी कविता की भावना है – पुरुष और नारी का आकर्षण विकर्षण ! अश्क एक सफल कवि भी हैं, इसलिए नाटक में कवित्व की छाप होना स्वाभाविक है, किन्तु सफलता यह है कि कवित्व नाटक में ऐसा खप गया है कि उसकी आत्मा का शृङ्गार बन गया है इसलिए रंगमंच पर इसे प्रस्तुत करने में काफ़ी परिश्रम और सूझ-बूझ की आवश्यकता है।

अंजो दीदी

'अंजो दीदी' अश्क ने सन् ४३ में लिखना शुरू किया था। वे इसे दो अंकों में लिखना चाहते थे, जिनकी परिधि में वे न केवल एक अभिजात वर्गीय परिवार के बीस वर्षीय जीवन को चित्रित कर सकें। वरन् अपने मूलभूत विचार का प्रतिपादन भी करें। परन्तु हुआ यह कि जब उन्होंने इसका पहला अंक लिखा तो वह अपने इतना पूर्ण लगा कि उसी रूप में कई बार ब्राडकास्ट हुआ और खेला भी गया, लेकिन जैसा कि 'अदिमार्ग' और 'शिकारी' में भी हुआ, अश्क स्वयं उससे संतुष्ट नहीं हुए और निरन्तर अपने मूलभूत विचार को उसके विस्तार और सम्पूर्णता के साथ व्यक्त करने की बात सोचते रहे और आख़िर दस वर्ष बाद उन्होंने दूसरा अंक लिखकर कर डाला। अब दोनों अंकों को एक साथ पढ़ने पर

होता है कि 'अंजो दीदी' का पहला अंक जो अपने में पर्याप्त पूर्ण लगता था, सफल एकांकी होते हुए भी, कितना अपूर्ण है।

'अंजो दीदी' का प्रारम्भ बड़े ही सहज और स्वाभाविक ढंग से होता है। सुबह नाश्ते का समय है और अंजली इसकी व्यवस्था करते नौकरानी को आदेश देती है :

अंजली : मुन्नी नाश्ता रखो मेज़ पर (तनिक कड़े स्वर में) तुम का कर क्या रही हो, आठ बजने को आये हैं और नाश्ते कही पता नही ?

मुन्नी : (पृष्ठभूमि में) बस लिये आ रही हूँ मेम साहब।

[अंजली फिर खट खट करती अन्दर के दरवाज़े पर जाकर बच्चे को आवाज़ देती है।]

अंजली : नीरज बेटा, कपड़े बदल लिये तुमने ?

निरज : बस हो गया तैयार ममी।

अंजली : अपने पापा से कहो नहा कर सीधे इधर आयें...... (फिर पलटती है) अभी तक स्नान नहीं किया और आठ बजने को आये हैं।

वास्तव में वस्तु-निर्माण में निरूपण वाली दशा के ये कथोप-कथन ही नाटकीय पृष्ठभूमि, नाट्य स्थिति, और उस पूरे वातावरण का परिचय करा देते हैं, जिसके अन्तर्गत नाटक के अगले विकास की सम्भावनाएँ निहित हैं। यहीं से पाठक को परिस्थिति का थोड़ा सा ज्ञान और मुख्य पात्री का परिचय भी प्राप्त होता है। बारम्बार कहे जाने वाले 'आठ बजने को आये' हैं वाक्यांश से न केवल उसका ध्यानाकर्षण ही बढ़ता है, बल्कि उसके मन में विस्मय का बीजारोपण भी

होता है।

इसके बाद कहानी अपनी स्वभाविकता से विकसित होती है। अंजली अपने अनुशासन से सारे घर में ऐसी एकरूपता और समय-बद्धता उपस्थित कर देती है कि सारा वातावरण कुछ घंटों के लिए मौन, स्थिर और अपरिवर्तनशील सा लगने लगता है। समय से आठ बजे नाश्ता, एक बजे दोपहर का खाना और तीन बजे तीसरे पहर का नाश्ता, फिर नौ बजे शाम का खाना—ये सब बातें अपने साथ ही अंजली इस घर में भी लेती आई है। सफ़ाई की और वक्त की वह इतनी पाबन्द है कि क्या मजाल आठ से सवा आठ हो जायँ, या चादर और ग़िलाफ़ के किसी कोने पर दाग़ मिल जाय या किसी के कपड़ों की क्रीज़ में टेढ़ापन आ जाय। यहाँ तक कि उसके नौकर भी इतने साफ़ हैं कि कभी कभी किसी अजनबी को सहसा विश्वास नहीं होता कि ये घर के नौकर हैं या परिवार के सदस्य! सफ़ाई, समय की बंदिश और नियम-बद्धता उसे अपने नाना से विरासत में मिली है (जिनका कि वह बात बात उल्लेख करते हुए कहती है 'हमारे नाना जी कहा करते थे...)इसी प्रभाव के कारण असम्भव है कि घर में एक तिनका भी इधर उधर पड़ा मिल जाय, या उनका छोटा सा बच्चा नीरज भी पढ़ने के समय में खेलता और खेलने के समय में पढ़ता नजर आ जाय। अंजली के इस अनुशासन की परिधि केवल नौकरों या नीरज तक ही सीमित हो, ऐसी बात नहीं है, बल्कि स्वयं उसके पति भी इसकी गिरफ़्त में हैं, जिनकी सारी उन्मुक्तता, फक्कड़पन और मनमौजीपन अंजली के आते ही धूल में मिल गये। अब वे भी समय पर खाते पीते सोते और नहाते हैं, चाहे उन्हें खाने के समय सोने और सोने के समय नहाने की ही इच्छा क्यों न हो रही हो! एक दम सैलानी

और फक्कड़ मामा श्रीपत का आगमन इस दमन को और भी सुस्पष्ट कर देता है और हम इस दमन और उसकी यथार्थ बुराई को भली भाँति समझ जाते हैं।

दूसरे दृश्य का पर्दा उसी [illegible] में बीस वर्ष पश्चात् उठता है, जबकि नीरज विवाहित होकर डिप्टी कमिश्नर तो नहीं मिटी ने जिस्ट्रेट अवश्य बन जाता है। अंजो दीदी को मरे पाँच वर्ष हो चुके होते हैं, फिर भी दोनों कमरों पर जैसे कड़ी नज़र रखता हुआ सा उनका फ़ोटो सामने दीवार पर लगा है। किन्तु ज्यों ज्यों नाटक की कथावस्तु बढ़ती जाती है, हम पाते हैं कि मरने के बाद भी अंजो दीदी की व्यवस्था का प्रभाव उस घर पर छाया रहता है।

नीरज तो जैसे अपनी माँ के कठोर अनुशासन की साक्षात् प्रतिक्रिया है। वह अपने मामा की ही भाँति लापरवाह और मनमौजी जोव है, किन्तु यहाँ भी यह बिडम्बना है कि जैसे अंजो दीदी उसे क्रिकेट के कप्तान के बदले डिप्टी कमिश्नर बने देखना चाहती थीं, उसी प्रकार वह अपने पुत्र नीलम को आइ० ए० एस० की बजाय क्रिकेट का कप्तान बने देखना चाहता है। अपनी माँ के कठोर अनुशासन और दमन-नीति की वह आलोचना करता है, पर यह नहीं जानता कि स्वयं भी उसी ग्रन्थि का शिकार है।

उधर नीरज की पत्नी ओमी ठीक अंजो दीदी के ही पद-चिन्हों पर चलती हुई जैसे उन्हीं का प्रतिरूप है। अंजो दीदी ने उसे हज़ारों में चुना था, और अपने ही अनुरूप ढाल लिया था। इसी का परिणाम है कि वह भी अपने पुत्र नीलम को आइ० ए० एस० ही बनाना चाहती है, क्रिकेट का कप्तान नहीं।

और वह बच्चा नीलम—वह न क्रिकेट का खिलाड़ी बनना चाहता है, न आ० ए० एस०—वह तो कवि बनना चाहता है—और

यहीं जैसे इस असंगति को अधिक स्पष्ट करने के लिए मामा श्रीपत का पुनः आगमन होता है और हम पाते हैं कि मामा अब इतने फक्कड़ नहीं रहे, स्वयं नीरज भी अपने आदर्श को यों बदलते देखकर आश्चर्यान्वित होता है, पर मामा श्रीपत किसी सनक या फ़ैड के क़ायल नहीं। जहाँ कोई आदत सनक बनी कि वे उसे बदल देते हैं। वे बालक नीलम को उसी तरह कवि बनने की सलाह देते हैं, जिस तरह कि बीस वर्ष पहले उन्होंने नीरज को क्रिकेट कप्तान बनने की सलाह दी थी।

नाटक अत्यन्त करुण-स्थल पर समाप्त होता है, क्योंकि अंजो दीदी अपने जीवन-काल में जो न कर सकी, वह मरने पर कर जाती हैं। उनके पति वकील साहब जो अब जज बन गये हैं, उनकी मौत के बाद बिल्कुल नियमित जीवन व्यतीत करने लगते हैं।

वस्तुतः देखा जाय तो वकील साहब का जीवन एक गम्भीर करुणा से ओत-प्रोत है। जब श्रीपत उन्हें बताता है कि अंजो दीदी दौरे से नहीं, बल्कि विष के प्रभाव से मरी थीं और यह सब उन्होंने उन्हें सबक सिखाने के लिए किया था तो जज साहब के मन में गहरी विक्षुब्धता के भाव उभर आते हैं। वे इसी आवेश में शराब का प्याला ओठों तक ले जाते हैं, पर फिर उसे रख देते हैं और सोचते हैं कि जिस पत्नी ने उन्हें व्यवस्थित और ठीक करने के लिए अपने प्राणों तक की आहुति दे दी, उसे वे निराश नहीं करेंगे।

इधर ओमी देखती है कि घड़ी फिर खराब हो गई है और वह महसूस करती है कि यह जैसे कभी नियमित होना न सीखेगी। संक्षेप में यह मुख्य कथा-वस्तु है, जिसमें कई प्रसांगिक कथा-वस्तुओं का त्रिज़ीनी-करण प्रभावोत्पादन की क्षमता को बढ़ाता है। लेखक का उद्देश्य यहाँ बहुत ही सन्तुलित रूप से इस बात पर ज़ोर देना है कि जीवन

सफ़ाई और नियम-बद्धता बुरी चीज़ें नहीं, पर अति की सीमा पर पहुँच कर वे अच्छी चीज़ें भी बुरी लगने लगती हैं। हमें बालकों पर या किसी पर भी अपने विचारों या सिद्धान्तों को लादना नहीं चाहिए, क्योंकि उनका प्रभाव कोई भी दूसरा व्यक्तित्व ठीक उसी रूप में ग्रहण नहीं कर सकता। हर बच्चा अपने कुछ संस्कार लेकर उत्पन्न होता है, जिनके प्रति उसकी स्वाभाविक रुचि होती है, उन्हें विकास का समुचित अवसर दिया जाना चाहिए। नीरज और नीलम इसके दो ज्वलंत उदाहरण है। बाल्यावस्था में नीरज क्रिकेट का कप्तान होना चाहता था तो उसका पुत्र कवि होना चाहता है। यहाँ विचारणीय बात यह है कि यदि नीरज का स्वाभाविक विकास हुआ होता, तो वह क्रिकेट का प्रसिद्ध खिलाड़ी नहीं बन सकता था? यहाँ लेखक घटनाओं के चक्रव्यूह में अपने उद्देश्य को इस प्रकार छिपाये रहता है कि वह कहीं भी मुखर नहीं होता, सिर्फ़ ध्वनित होता है—व्यंजित होता है। यह व्यंजना साहित्य का एक गुण है, जिसके अभाव में प्रायः कलाकार उपदेशक होते देखे गये हैं।

जैसा कि हमने ऊपर विचार किया कि लेखक अपना उद्देश्य केवल व्यंजित करता है अतः उसके उपकरण भी अधिकांश में प्रतीकात्मक हैं, जिन्हें समझने के लिए थोड़ी समझदारी और श्रम की उपेक्षा है। उदाहरण के लिए जब अंजो दीदी के काल में ही श्रीपत घर से जाने के बहाने वकील साहब को दिलकुशा ले जाता है, तब भी घड़ी खराब होने का एक प्रसंग आया है और अंत में जब श्रीपत वकील साहब को पुनः शराब पिलाने की असफल चेष्टा करता है तो फिर घड़ी खराब होने का एक प्रसंग आता है। प्रतीक रूप में घड़ी की चाभी केवल अंजो दीदी के उस दमन को व्यंजित करती है जो उस घर पर छाया है

और इसका खराब होना मानो उस व्यवस्था की अति का द्योतक है। और तो और स्वयं श्रीपत एक उपकरण है जो कार्यावस्थाओं और अर्थ प्रकृतियों में एक संधि का काम करता है। अर्थात् वह ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा पारिवारिक दमन और सनक के विरुद्ध लेखक अपने विचार व्यक्त करता है ।

यों दूसरे दृश्य में आकर नाटक का रुख थोड़ा बदलता सा लगता है, किन्तु फिर वही हास-परिहास और व्यंग्य-विनोद के फव्वारे छूटने लगते हैं। नाटककार की सफलता इस बात में है कि वह एक क्रूर और असंगत रूढ़ि पर चोट करता है, हमें वास्तविकता का प्रत्यक्ष रूप से कटु अनुभव कराता है, मगर फिर भी रुलाता नहीं, हँसा-हँसा कर वह हमारे ही मन की सारी कटुताओं को इस प्रकार हमारे सामने रखता है है कि हमें स्वयं अपना ही परिचय मिलता है और मन के अचेतन स्तर में हम उस तथ्य को धारण कर भविष्य के लिए सतर्क हो जाते हैं। वस्तुतः ऐसी ही कला जीवन के प्रति श्रद्धा तथा विश्वास की ज्योति जाग्रत करती है।

नाटक धीरे-धीरे प्रारम्भ की अवस्था से विकसित होकर मध्यावस्था तक पहुँचते-पहुँचते फलागम तक आ जाता है। और फिर दूसरे दृश्य में भी उसी अवस्था से विकसित होकर उसी अन्त तक पहुँचता है। शास्त्रीय दृष्टि से यह दोष है, किन्तु आधुनिक दृष्टिकोण से यह टेकनिक की विशेषता है। इसी सम्बन्ध में इस ओर भी ध्यान आकर्षित किया जा सकता है कि 'अंजो दीदी' संकलन-त्रय की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। बीस वर्ष की अवधि और समय की एकता दो विभिन्न

बातें हैं, पर इस सम्बन्ध में जैसा कि हमने पहले कहा, यह टेकनिक के कारण हुआ है। किन्तु यदि जानबूझ कर ऐसा हुआ है तो भी कोई बुराई नहीं कही जा सकती, क्योंकि नाटक का प्रभाव सम्पूर्ण और एकाग्र रूप से पड़ता है। 'संकलन-त्रय' के सिद्धान्त, अर्थ और प्रयोग में, स्वयं विद्वानों में भी बड़ा मत-वैभिन्य है, हाँ प्रभाव की एकता या 'यूनिटी ऑफ इम्प्रेशन' पर सभी बहुत ज़ोर देते हैं, जो कि 'अंजो दीदी' का सबसे प्रमुख गुण है। सरसी ने (Sarcey) इसके समर्थन में कई तर्क उपस्थित किये हैं।

एक दूसरी बात नाटक के नाम करण के विषय में उठ खड़ी होती है कि जब अंजो दीदी का देहान्त हो जाता है और उनके बाद भी नाटक उतना ही, बल्कि उससे भी कुछ अधिक विस्तार ग्रहण करता है, तो फिर इसका नामकरण उन्ही के नाम पर क्यों किया गया है? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है, किन्तु उत्तर शायद यह है कि अंजो दीदी स्वयं उस दमन-प्रवृत्ति की प्रतीक हैं जो माता-पिता प्रायः अपने बच्चों पर, अपनी कुंठाओं को उनमें उतारने की इच्छा से, करते हैं। फिर यद्यपि अंजो दीदी मर जाती हैं पर उनकी छाया, उनकी प्रवृत्तियाँ, उनकी बातें अन्त तक नाटक पर छाई हुई सी लगती हैं। उनकी मृत्यु के बाद दूसरे भाग का उसी तरह प्रारम्भ और उसी तरह अन्त होना, प्रायः उन्हीं वाक्यांशों की पुनरावृत्ति होना, ओमी पर उनकी स्पष्ट छाप होना—ये सब बातें 'अंजो दीदी' के गम्भीर प्रभाव की द्योतक हैं। इसीलिए कदाचित् लेखक ने उन्हीं के नाम से नाटक का शीर्षक दिया है।

रही इसकी अभिनेयता, जिसके विषय में दो मत हो ही नहीं सकते, तो इतने कम पात्र, कम स्थान, और थोड़े से उपकरणों को जुटाकर कहीं भी इसका सफल प्रदर्शन किया जा सकता है। हास्य-व्यंग्य और विनोद

की मात्रा तो इसमें इतनी अधिक है कि दर्शक एक बार हँसते-हँसते लोट पोट जायँ। किन्तु इसके साथ ही उद्देश्य या प्रभाव में कहीं भी कमी नहीं आती। 'अंजो दीदी' में अश्क ऐसी परिस्थिति और ऐसा वातावरण प्रस्तुत कर देते हैं कि कुरीति अत्यन्त बेढंगी और कुरूप लगने लगती है—उसके अपनाने वाले हास्यास्पद से जान पड़ते हैं और बरबस उन पर हँसी आती है।

पात्रों का चरित्र तो हर घटना, हर सम्वाद और हर परिस्थिति में ऐसा निखरता चलता है कि अन्त तक पहुँचते-पहुँचते हम उनसे मन-ही-मन एक अत्यन्त निकटता और घनिष्ठ आत्मीयता सी स्थापित कर लेते हैं। जब बालक नीरज के क्रिकेट-कप्तान बनने की बात सामने आती है तो हमारी सहानुभूति उसके साथ होती है, किन्तु जब नीलम कवि बनना चाहता है तो हम उसे कवि-रूप में देखने की इच्छा रखते हैं। वैसे नौकरानी से लेकर मालकिन तक, हर पात्र का एक बिल्कुल स्वतंत्र व्यक्तित्व है और यद्यपि वे ओमी अथवा अंजली द्वारा परिचालित होते हैं, किन्तु उनके हृदय में उनके अपने स्वप्न, भावनाएँ और आकांक्षाएँ रहती हैं, जो समय-समय पर सिर उठाती दीखती हैं।

चारित्रिक-अन्तर्द्वन्द्व दिखलाने में 'अश्क' को ऊँचे दर्जे की सफलता मिली है। उदाहरण के लिए पहले दृश्य में मुन्नी और श्रीपत की बातों को उद्धृत किया जा सकता है या वकील साहब के उस औत्सुक्य का हवाला दिया जा सकता है जो वे श्रीपत के ट्रेन-रोमांस और 'दिलकुशा' के विषय में दिखलाते हैं। सम्वादों में हर पात्र का अपना लहजा और अपना स्वर है। केवल कुछ वाक्य सुनकर ही पाठक सही-सही अनुमान लगा सकता है कि यह किसकी 'टोन' है। 'टोन' की यह विभिन्नता वार्तालाप में रोचकता और स्वाभाविकता को बढ़ाती है।

वास्तव में सभी पात्र सरल और ग्राह्य हैं, पर कहीं श्रीपत को ग़लत समझ कर लेखक का अभीष्ट-आदर्श न मान लिया जाय, इस लिए इस बात पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है कि श्रीपत लेखक का आदर्श नहीं, वह असम की अति है। इन दोनों के मध्य-मार्ग की ओर संकेत करना लेखक का अभीष्ट है। वह कहीं श्रीपत बनने की सलाह नहीं देता। हाँ, उसके कुछ गुणों को ग्रहण करने का संकेत अवश्य करता है। इसीलिए नाटक के प्रभाव में इतनी शालीनता है।

इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि दो पृथक भागों में विभाजित होते हुए भी जो पात्र एक बार प्रारम्भ में उठाये गये हैं—बिना किसी काट-छाँट या परिवर्तन के उनसे ही सारी कथा-वस्तु को इस प्रकार सिल दिया गया है कि उनके बिना जैसे कथानक के वर्तमान रूप की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

'अंजो-दीदी' हास्य और गाम्भीर्य का संधिस्थल है और अश्क तथा अन्य नाटककारों के श्रेष्ठ परिहासपूर्ण-नाटकों में शीर्ष-स्थान पाने का अधिकारी भी। किन्तु जिस प्रकार अश्क के सभी हास-परिहास के पीछे एक करुण भावधारा निरन्तर प्रवाहित होती रहती है, उसी प्रकार की एक अन्तर्निहित भावधारा इसमें भी दीखती है।

भँवर

वैयक्तिक-व्यतिक्रम और सामाजिक विषमताओं के कारण कभी-कभी जीवन में ऐसी ग्रंथियाँ पड़ जाती हैं और व्यक्तित्व में अनायास ही ऐसा उलझाव और दुरूहता आ जाती है कि औरों के लिए ही नहीं, स्वयं अपने लिए भी वह व्यक्तित्व एक प्रश्न चिन्ह बनकर रह जाता है । साधारण व्यक्तियों के लिए उसकी थाह पाना कठिन ही नहीं असम्भव होता है, परन्तु कलाकार अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और विवेचना-शक्ति के बल पर उसका उद्‌घाटन और विश्लेषण कर, उसे सर्वसाधारण पाठकों के लिए ग्राह्य और बोधगम्य बनाता है। ऐसे एक नहीं अनेक व्यक्तित्व हमारे आज के समाज में बिखरे पड़े हैं।

'भँवर' की नायिका प्रतिभा भी एक ऐसी ही पात्र है। उसके विषय

में जहाँ नीलिमा और प्रतिमा दो मत रखती हैं, वहीं निर्मल और जगन भी उसे पहचानने में ग़लती करते हैं। मगर स्वयं प्रतिभा किसी को ग़लत नहीं समझती । सबके विषय में उसका अपना दृष्टिकोण है और उसी से वह सबकी परीक्षा करती है। किन्तु उसके दृष्टिकोण पर बौद्धिकता का इतना गहरा रंग चढ़ा हुआ है कि प्रायः वह आसाधारण सा लगने लगता है। वस्तुतः उसके दृष्टिकोण की इस असामयिक-बौद्धिकता के कुछ कारण हैं, जिनमें उसका व्यक्तिगत जीवन-क्रम सबसे प्रमुख है।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उसकी मानसिक-कुंठाओं के मूल में सेक्स की समस्या कम महत्वपूर्ण नहीं है। वास्तव में उसकी कुछ दमित वासनाएँ ही अव्यक्त रूप में उसके माथे पर असमय ही ऐसी छाप छोड़ देती हैं, जो उसे बौद्धिक रूप से प्रौढ़ और यों कुछ अधिक आकर्षक बना जाती हैं। उसके प्रथम आकर्षण-केन्द्र प्रोफ़ेसर नीलाभ हुए, जो इस प्रेम के पचड़े से और इस प्रकार नारी-मात्र से ही न जाने कब के विरक्त हो चुके थे। प्रतिभा यौवन की सीमाओं में प्रविष्ट होने वाली मुग्धा तो थी नहीं कि उसमें स्थैर्य होता, अतः तभी उसका प्रेम और आकर्षण शत-शतमुखी होकर अपने सहपाठी सुरेश के प्रति मुड़ चला। सुरेश ने, जो पहले से ही इसकी प्रतीक्षा में था, खुली बाहों उसका स्वागत किया । फलस्वरूप दोनों विवाह के सूत्र में बँध गये। भावना या यथार्थ का सम्मिलन जिस प्रकार अकसर असम्भव होता है, उसी प्रकार प्रतिभा और सुरेश भी बहुत शीघ्र ही एक दूसरे से ऊब गये, जिसके परिणाम-स्वरूप प्रतिभा यदि सम्बन्ध-विच्छेद कर अपने घर चली आई तो सुरेश ने अपनी एक अन्य सहपाठिनी से विवाह कर लिया।

इस तरह प्रतिभा के जीवन में जो निराशा, असफलता और एकाकीपन बढ़ता गया, वही रूप बदल कर उसकी धारणाओं और विश्वासों को कुछ-कुछ दार्शनिक रंग देता रहा। इसी कारण जहाँ व्यक्तिमात्र में उसका विश्वास कम हुआ, वहीं उसमें निराशा की भावना भी बढ़ी। पर्दा उठते ही हम प्रतिभा को एकाकी और नितान्त सम्वेदना-शून्य अँगड़ाई के साथ यह कहते सुनते हैं, "ओह...ओ कितना शून्य है यह जीवन! कहीं भी तो कोई ऐसी चीज़ नहीं जो ठोस हो; जिसका सहारा लिया जा सके।" इस प्रकार प्रारम्भ से ही हम उसमें एक अतृप्ति की भावना पाते हैं। इसी अतृप्ति से खीझकर वह जैसे अनेक मित्रों (जो वास्तव में मित्र नहीं, परिचित ही हैं) के माध्यम से शान्ति के कुछ उपकरण जुटाती है। उसे न नीहार का संगीत अच्छा लगता है न प्रकृति की छटा। वह खिड़की में खड़ी होती है तो प्राकृतिक सौंदर्य देखने नहीं, अपनी भावनाओं को प्रकृति पर आरोपित करने। जीवन से उसकी कोई दिलचस्पी नहीं। दावतों को वह आत्म-प्रदर्शन का बहाना और सौंदर्य के कृत्रिम प्रसाधनों को आत्म-प्रवंचना का एक रूप मानती है। वह महसूस करती है कि सारा समाज जैसे एक रौ में बहा जा रहा है। किन्तु उसमें भी वह प्रो० नीलाभ को इस सबसे ऊँचा और अपनी श्रद्धा का पात्र मानती है। कारण स्पष्ट है कि वहाँ तक पहुँच नहीं पाती। जीवन में उसकी चापलूसी करने वाले अनेक मिले, किन्तु जहाँ उसे भी परास्त होना पड़ा वह स्थल प्रो० नीलाभ ही थे। इसीलिए उन्हें वह अपना श्रद्धेय मानती है।

आयरलैंड के प्रमुख नाट्यकार और कवि विलियम बटलर येट्स से जब एक अन्य नाट्यकार लार्ड डनसेनी ने पूछा, "आप छोटे नाटक के कथानक के प्रमुख तीन गुण क्या मानते हैं?" तो उन्होंने उत्तर दिया,

"विस्मय"। डनसेनी ने फिर पूछा, "दूसरा गुण ?" उत्तर मिला, "विस्मय।" "और तीसरा ?" येट्स ने उत्तर दिया, "विस्मय।" इससे केवल इसी बात पर प्रकाश पड़ता है कि नाटक की कथावस्तु में 'विस्मय' अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। नाटक की पाँच अवस्थाओं (प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम) और पाँच प्रकृतियों (बीज, विंदु, पताका, प्रकरी और कार्य) में यह विस्मय 'प्रारम्भ' और 'बीज' में कार्य करता हुआ पाया जाना चाहिए। 'भँवर' का प्रथम दृश्य प्रारम्भ होते ही हमें प्रतिभा के मुँह से कुछ ऐसे वाक्य सुनने को मिलते हैं कि सहसा ही मन विस्मयाभिभूत हो जाता है और यह जानने की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है कि आखिर इन निराश वाक्यांशों के पीछे क्या राज़ है ?

वस्तुतः अश्क के नाटकों की कथावस्तु आतिशबाज़ी के अनार की तरह है जो छूटने के साथ छुर...रर...र की ध्वनि करता है, फिर यही ध्वनि तीव्रतर होती जाती है, फिर ऊँचे उठती जाती है और आकाश में 'पटाख' की एक आवाज़ होती है और तब रंग-बिरंगी सुखद, शीतल किरणें निकल कर मन को आह्लाद से भरने लगती हैं। 'भँवर' की वस्तु भी पाँच अवस्थाओं, प्रकृतियों और संधियों (मुख, प्रतिमुख, गर्भ विमर्श और निर्वहण) द्वारा आंगिक, वाचिक, आहार्य्य और सात्विक अभिनय के माध्यम से उन चारों दशाओं को पूर्ण करती है, जिन्हें निरूपण, अवरुधन, उत्कर्ष और अपकर्ष कहा गया है और जिनके कारण हमने इसकी कथावस्तु की तुलना आतिशबाज़ी के अनार से की है।

कुछ शस्त्रीय शब्दावली के प्रयोग से यह न समझ लिया जाय कि मैं इसमें शास्त्रोक्त लक्षणों की खोज कर रहा हूँ, इसलिए यह

स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि भँवर में शास्त्र-सम्मत लक्षणों का सर्वथा अभाव न होते हुए भी, बड़ी संख्या में उनका तिरस्कार किया गया है। भरत मुनि ने तो नाटकों के प्रारम्भ में ही पूर्वरंग, नांदीपाठ, सूत्रधार आदि की बड़ कड़ी शर्तें रख दी हैं और फिर विष्कभंक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार, अंकास्य, आदि-आदि न जाने कितनी झंझटें खड़ी कर दी हैं ? मगर भँवर की ही भाँति अश्क के किसी भी नाटक में यह सब औपचारिकता नहीं बरती गई। यों तो यह विद्रोह शेक्सपियर से ही मिलना शुरू हो जाता है और बाद के नाटककार इसकी सर्वथा उपेक्षा ही करते चलते हैं, किन्तु हिन्दी में यह प्रवृत्ति प्रसाद से जन्म लेती है। लेकिन इसमें भी कुछ ऐसे अपवाद हैं, जिनका आज तक निर्वाह किया जा रहा है। संकलन-त्रय इसी अपवाद रूप में सही, अश्क के भी कुछ नाटकों में पाया जाता है। और यह 'भँवर' में भी है। प्रतिभा के कमरे में ही सारे कार्य-व्यापार सम्पन्न होते हैं। किन्तु पाठक ऊब न जायँ, इस दृष्टि से तीन बार पटाक्षेप कर तीन विभिन्न दृश्य-विधानों को आयोजित किया गया है। पहले दृश्य में यदि प्रतिभा बैठी दीखती है तो दूसरे और तीसरे में प्रतिभा और प्रमिला के दर्शन होते हैं।

कथावस्तु सहज मंथर प्रवाह से चलती रहती है, किन्तु पग-पग पर कौतूहल और जिज्ञासा की जार्ग्रत, दुविधा का चमत्कार और रोचकता कहीं भी मन की एकाग्रता को खंडित नहीं होने देती। 'भँवर' के सारे वातावरण पर एक सहज गाम्भीर्य की छाया मँडलाती रहती है, जिसका संचालन जैसे किसी पर्दे की ओट से स्वयं प्रतिभा करती है। वह मुस्कराती है तो वातावरण में चाँदनी छिटक जाती है, वरना वही बोझिल-बोझिल सी उदासी, ऊब और घुटन। अश्क के नाटकों के

पाठक को 'भँवर' के माध्यम से अश्क के एक नये रूप का परिचय मिलता है। हिन्दी में नाटककार 'अश्क' अपने चुटीले-तीखे व्यंग्य और उन्मुक्त हास्य के लिए प्रसिद्ध हैं, किन्तु 'भँवर' में अश्क हमारे सम्मुख विचारक और समाज-शास्त्री के रूप में आते हैं। कहीं-कहीं सांकेतिक रूप में उनके आलोचक के भी दर्शन होते हैं, किन्तु वे आलोचना-स्थल इतने अनिर्दिष्ट और सूक्ष्म हैं कि सहसा नज़र में नहीं आते, हालांकि अपने अभीष्ट प्रभाव को डालने में उन्हें पूरी-पूरी सफलता मिलती है। रही हास्य की बात, वह तो निश्चय ही 'भँवर' में नहीं मिलता, किन्तु एक अन्तर्निहित व्यंग्य अवश्य है—हमारी फ़िल्मी सभ्यता और कृत्रिम ज़िन्दगी पर! हरदत्त का जीवन स्वयं एक विराट व्यंग्य है, जिसे अधिक मूर्त्तरूप इसलिए नहीं दिया जा सका है कि वह विषय-गांभीर्य के प्रभाव की अन्विति में बाधक हो सकता था। इसी प्रकार हमेशा 'डिनर' और 'लंच' की चिन्ता में व्यस्त प्रतिभा की माँ, आफ़िस की बातों में व्यस्त बाबू जी, क्रिकेट में खोया जगन और दर्शन में डूबा प्रो० ज्ञान—सब अपने और समाज के लिए व्यंग्य और हास्य के कारण हैं।

'भँवर' के लेखक को 'भँवर' लिखने की प्रेरणा जीवन की यथार्थता से मिली है। "मैं नाटक कैसे लिखता हूँ ?" में उन्होंने स्वीकार किया है कि उन्होंने तीन लड़कियों के वास्तविक जीवन को प्रतिभा में ढालने की कोशिश की है, क्योंकि उनके जीवन की व्यग्रता और उलझनें उन्हें बड़ी हद तक एक सी ही लगीं। सचमुच ही प्रतिभा का व्यक्तित्व भँवर में घूमने वाली एक ऊर्म्मि का सा है, जिसकी गति-विधि को आँकना साधारण काम नहीं।

अन्य पात्रों पर हालांकि प्रतिभा की अपेक्षा कम मेहनत की गई

है, किन्तु उनके व्यक्तित्व को चार-चार लकीरों के माध्यम से ही इस प्रकार स्पष्ट कर दिया गया है कि अश्क की शिल्प-प्रतिभा का लोहा मानना पड़ता है। तनिक प्रतिमा को देखिए, जिस जगह से लेखक उसे नाटक में लाता है, वहीं उसका सारा प्रवृत्ति-विश्लेषण कर डालता है। अपनी सारी कमज़ोरियों और विशेषताओं के साथ वह हमारे सम्मुख स्पष्ट हो उठती है, पर यह कहीं भी लेखक का उद्दिष्ट नहीं प्रतीत होता। वह भागी आती है और कहती है :

> 'दीदी, दीदी, ज़रा देखना मैं ठीक भी लाई हूँ ये चीज़ें। फूली न समाती थी नीला अपने टायलेट बक्स पर।। फर्स्टक्लास लाई हूँ मैं भी। देखो, यह लिपस्टिक, यह पाउडर, यह फाऊंडेशन लोशन—सब आर्डीना के हैं और यह हूबीगाँट का रूज़ और मस्कारा और आई ब्रो पेंसिल! क्यों हैं न फर्स्ट रेट, जल जायगी मीला!

और वह जैसे आई थी, वैसे ही विद्युत-वेग से भाग जाती है। कहना न होगा इन चन्द टुकड़ों में प्रतिमा के स्वभाव का सारे का सारा चांचल्य और औद्धत्य झलकने लगता है। इसी प्रकार अन्य सारे पुरुष और स्त्री पात्रों के चित्रण में भी यही स्पष्टता आ सकी है। किन्तु पात्र कुछ अधिक हैं। यह बात दूसरी है कि उनसे प्रभाव की एकता कहीं भी खंडित नहीं होती।

कथोपकथन के विषय में यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इतनी स्वभाविकता के साथ सम्वाद लिखने वाला लेखक हिन्दी में दूसरा नहीं है। फिर सभी सम्वाद पात्रों की मन-स्थिति पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं। ज्ञान और फ्रायड से आक्रान्त बुद्धिवादी प्रोफ़ेसर ज्ञान एक ओर जब गम्भीरता पूर्वक प्रेम के स्तरों का विवेचन करता है

तो उसकी शैली निहायत संयत और संतुलित है, किन्तु मानसिक संतुलन खोकर जब वह भी औरों की भाँति प्रेम निवेदन करने लगता है तो अनायास ही उसकी ओजपूर्ण शैली में भारी परिवर्तन आ जाता है। उसके सम्वाद खंडित और अव्यवस्थित से लगने लगते हैं, जैसे कहीं कुछ भूल गया हो। वस्तुतः 'भँवर' के सारे पात्र समय की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता देखकर चलते और ठहरते हैं। उनके अन्तस्तल का अन्तर्द्वन्द्व दिखाने में अश्क को गाल्सवर्दी सी सफलता मिली हैं। 'भँवर' में मनोविज्ञान का बहुत आश्रय लिया गया है और इसलिए इसे मनोविज्ञान-प्रधान-नाटक ही माना जाना चाहिए।

कुण्ठा तथा व्यक्ति-निष्ठता से पीड़ित प्रतिभा जैसे पात्रों की सतह तक पहुँचने का सफल प्रयास अश्क ने किया है। काल तथा परिस्थितियों के आवर्त्त में पड़े हुए एक पात्र के हृदय पर सामाजिक क्रिया-प्रक्रियाओं का क्या प्रभाव होता है, यही सब इस 'भँवर' में चित्रित है।

आधार-भूमि इसकी भी वही (सामाजिक) है, जो प्रायः अश्क के सभी नाटकों की होती है। किन्तु अन्य नाटकों की भाँति यह समस्या-प्रधान न होकर, चित्रण और विश्लेषण प्रधान है। मॉरिस मेतरलिंक के शब्दों में, "ऐसे नाटक ही अधिक प्रभावोत्पादक और अमर कला के उदाहरण बनते हैं।" 'भँवर' भी अपनी साफ़ सेटिंग, शालीनता, मनोविज्ञान और अभिनेयता आदि गुणों की सहजता के कारण अश्क के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में गणना करने योग्य है। मूर्त्त चित्रण और अमूर्त्त अभिव्यंजना-कौशल के सहारे 'भँवर' में उस भँवर पर हर कोण से प्रकाश डाला गया है जो नाटक का प्राण-तत्व है।

प्रस्तुत नाटक में जगह-जगह प्रेम और विवाह की जो मार्मिक

व्याख्या की गई है उससे पात्रों की स्थिति ही स्पष्ट नहीं होती, अश्क के विचारों और व्यक्तिगत धारणाओं से भी पाठकों का साक्षात्कार होता है। आज के जीवन की कृत्रिमता और फिल्मी-प्रभावों पर उनकी नाराज़गी बार-बार मुखर होकर सामने आती है, जिसे यथार्थ का योग कारुणिकता प्रदान कर और भी मार्मिक बना देता है। नीहार की वर्षगाँठ के उपलक्ष में हुई पार्टी के बाद ज्ञान और प्रतिभा परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं—

ज्ञान : आप तो फिल्मी गीत गाये जाने की बात सुन कर ही उठीं, मैं तो सच जानिए, मन से बैठा ही न था। आपके कारण चला गया था, नहीं मुझे बड़ी झुँझलाहट होती है ऐसी पार्टियों से। भला अब विमला की माता जी इस बात पर ज़ोर दे रही हैं कि सब बातें छोड़ कर विमला का गाना सुना जाय। मानो किसी थर्ड रेट फिल्म का थर्ड रेट गाना थर्ड रेट ढंग से गा कर वे सुनने वालों पर कोई बड़ा अहसान कर देगीं।

प्रतिभा : और मिसेज़ गुप्ता चाहती हैं कि उनकी लड़की का कथाकली डांस देखा जाय (हँसती है।) कथाकली डांस! किसी गरीब क्लर्क से उसकी शादी हो जायगी और सारे का सारा कथाकली डांस धरा रह जायगा।

उपर्युक्त उद्धरणों में जहाँ छिछले आत्म-प्रदर्शन पर चोट है, वहीं सामाजिक करुण विडम्बना को भी उभार कर सामने रखा गया है कि किस प्रकार हमारे समाज में लड़कियाँ बड़े मनोयोग से जो सीखती हैं, वही अगले जीवन में उनके लिए निरर्थक होकर एक स्मृति और सुधि

बन कर कोंचता रह जाता है। साथ ही अश्क आज के नवयुवकों के खोखले प्रेम पर व्यंग्य करने से नहीं चूकते कि किस प्रकार जगन और निर्मल, प्रतिमा और नीहार से प्रणय-बद्ध होने पर भी प्रतिभा का सामीप्य प्राप्त करने की असफल चेष्टा करते हैं।

सम्पूर्णतया बौद्धिक और गंभीर होते हुए भी नाटक का प्रवाह कहीं शिथिल नहीं होने पाता, क्योंकि वास्तविकता या स्वाभाविकता कथा-वस्तु को उत्तेजनापूर्ण ढंग से अंतिम प्रभाव तक लिए चलती है। लेखक की निरीक्षण-क्षमता चुने हुए स्थलों में सम्पूर्ण सामञ्जस्य और समन्वय स्थापित करती है और असमवेष्ठित पात्र एवम् प्रभावों को आधिकारिक प्रभाव में विलीन कर लेती है। नाटक पूरा प्रभाव छोड़कर समाप्त होता है और हमारे मानस-पट पर ऐसी युवती का चित्र खींच जाता है जो खूब पढ़ी-लिखी है, बुद्धिवादी है, पर जो जीवन में कहीं चूक गई है। समय का वह क्या करे, इसकी उसे समझ नहीं। शारीरिक सौन्दर्य के अतिरिक्त उसके पहले विवाह की असफलता ने उसे अपूर्व आकर्षण प्रदान कर दिया है और युवा से लेकर प्रौढ़ तक सब उस आकर्षण की आग में जलते हैं, लेकिन स्वयं भँवर की ऊर्मि सी अपने ही स्वप्न के गिर्द चक्कर खाती है। वह किसी के सौन्दर्य, किसी की बौद्धिकता और किसी के फक्कड़पन की ओर आकर्षित होती है, पर अपने दिमाग़ में उसने भावी जीवन का जो स्वप्न बना रखा है, वह उनमें किसी के साथ पूरा होते न देख, फिर अपने में सिमट जाती है। अवकाश भोगी-वर्ग की इस युवती की कुण्ठा अश्क ने बड़ी सफलता से इस नाटक में व्यक्त कर दी है।

पैंतरे

'पैंतरे' हास्य और व्यंग्य-प्रधान पूरा नाटक है। इसमें बम्बई के फ़िल्मी-क्षेत्र में काम करने वाले नये-पुराने कवि, अभिनेता, निर्देशक, लेखक और रँगरूट–एक्स्ट्रा आदि के जीवन की झाँकी उपस्थित की गई है। साथ ही आज कल रिहाइशी मकानों के अभाव की कठिन समस्या पर भी बड़े व्यंग्यमय हास्य के पुट से नाटक में संकेत किया गया है। इस प्रकार नाटक की वस्तु के दो आधार हैं—एक तो मकानों की समस्या और दूसरा भारतीय फ़िल्मी-जीवन का यथातथ्य रूप! लेखक को नाटक लिखने की मूल प्रेरणा मकान की समस्या से प्राप्त हुई और उसमें अपने फ़िल्मी जीवन के संस्मरण जोड़ कर उसने उसे पूरे प्रहसन की सामग्री बना दिया। परिशिष्ट में स्वयं अश्क ने यह बात स्पष्ट कर दी है।

मकान की समस्या से सम्बन्धित अपने जीवनानुभव से प्रेरणा पाकर अश्क ने 'तकल्लुफ़' कहानी लिखी और 'तकल्लुफ़' को रेडियो-प्ले में रूपांतरित करने के क्रम में ही उन्होंने पैंतरे नाटक का खाका बना डाला। लगता है कि 'तकल्लुफ़' (कहानी) और 'मस्केबाज़ों' का स्वर्ग (प्रहसन) दोनों की मूल-प्रेरणा के एकीकरण से 'पैंतरे' की सृष्टि हुई है।

यह नाटक तीन अंकों में विभाजित है और इसके प्रत्येक अंक में दो दृश्य हैं। लेकिन इन दृश्यों का संयोजन अश्क ने ऐसे किया है कि पर्दा कुछ क्षण ही को गिरता है और दोनों दृश्य समय की अवधि के बावजूद एक ही दृश्य बनाते हैं। नाटक में स्थान और समय की एकता का संतुलन 'छठा बेटा' जैसा नहीं है, फिर भी उसमें ऐसी एक-सूत्रता है जो इसको स्वाभाविकता प्रदान करती है। पहले अंक का स्थान रशीद भाई का फ़्लैट है, दूसरे का दादर बार और तीसरे का शाहबाज़ का फ़्लैट। स्थानों की विभिन्नता कथा-वस्तु की नाटकीय इकाई को गतिशील बनाने में एक संतुलन पैदा करती है। रशीद भाई के फ़्लैट में कथा-वस्तु फ़िल्मी-जीवन की एक झाँकी से शुरू होती है और इस पहले दृश्य के अन्त में मकान की समस्या की ओर संकेत करके वह आगे बढ़ती है। स्टंट फ़िल्मों के लेखक और अभिनेता रशीद भाई सामाजिक फ़िल्म में काम पाने के लालच से डायरेक्टर क़ादिर को सपत्नीक अपने घर पर चाय पीने के लिए बुलाते हैं। चाय के साथ-साथ रशीद भाई बड़ी सफ़ाई से डायरेक्टर क़ादिर की खुशामद करते हुए उनके फ़िल्मों की तारीफ़ के पुल भी बाँधते हैं,

उन्हें अपना गुरु घोषित करते हैं और चाहते हैं कि वे उन्हें अपने साथ काम करने का अवसर दें। बेगम क़ादिर को रशीद भाई का फ़्लैट पसन्द आता है और वे अपनी मकान की दिक्कत का ज़िक्र करती हैं। रशीद भाई बड़ी सौजन्यता से उन्हें अपने घर पर रहने की दावत देते हैं। चलते समय बेगम क़ादिर (प्रकट ही रशीद भाई की सौजन्यता से प्रभावित होकर) अपने पति के नये सोशल फ़िल्म के सम्वाद लिखवाने का उन्हें अश्वासन देती हैं। अपनी इस सफलता पर रशीद भाई फूले नहीं समाते। 'डायरेक्टर क़ादिर अपना बंगला छोड़ यहाँ तो क्या आयेंगे', वे अपनी बीवी से कहते हैं, 'लेकिन अपना फ़्लैट पेश करके मैंने काम तो बना लिया।' और इस खुशी में वे अपने मित्र शाहबाज़ के साथ दो पैग उड़ाने चल देते हैं।

दूसरे अंक में दादर बार का दृश्य है, जिसमें फ़िल्म-क्षेत्र के विभिन्न पहलुओं और उपवस्तु के छोटे चरित्रों के द्वारा पृष्ठ-भूमि में एक वातावरण को बना कर लेखक ने आधिकारिक वस्तु को आगे बढ़ाया है। यहाँ टेबल-टॉक से नाटकीय व्यापार अग्रसर होता है। रशीद भाई शाहबाज़ को अपनी सफलता की कहानी शान से सुनाते हैं और शाहबाज़ भी सोशल-फ़िल्म में रोल पाने के लिए रशीद भाई की मस्केबाज़ी करता है। वह उन्हें मधुपान कराता है, उनसे काम पाने का आश्वासन ले लेता है और आश्वासन पाकर उन्हें पुनः सात दिन बाद उसी बार में मधुपान पर आमन्त्रित करता है।

यहाँ पर पर्दा गिर जाता है और पुनः कुछ क्षण बाद फिर उठता है और सात दिन बीत जाते हैं। *

* इन दोनों दृश्यों में स्थान की एकता है, परन्तु समय का व्यवधान है। लेकिन समय का यह व्यवधान समय के संकलन को विशेष धक्का नहीं पहुँचाता। पहले

शाहबाज़ बोतल रखे रशीद भाई की प्रतिक्षा कर रहा है। कुछ देर बाद रशीद भाई अपना उदास चेहरा लिये आते हैं और पीने से इनकार कर देते हैं। जब शाहबाज़ बार-बार रशीद भाई की उदासी का कारण पूछता है तो वे बताते हैं कि किस तरह बेगम क़ादिर और डायरेक्टर क़ादिर ने उनके फ़्लैट पर कब्जा कर लिया है और किस तरह वे अब स्वयं अपने घर में ही बेघर हो गये हैं। अब उनके पास केवल एक कमरा है, न वे हँस सकते हैं, न खाँस सकते हैं, क्योंकि डायरेक्टर क़ादिर बीमार हैं। यही नहीं, उनका स्टोररूम, बाथरूम और नौकरानी तक पर बेगम क़ादिर ने अधिकार जमा लिया है। रशीद भाई अपनी कहानी सुनाते हुए कहते हैं—'अब जब मैं अपने घर की हालत और बेगम रशीद का चेहरा देखता हूँ तो जी चाहता है कि सिर को ज़ोर से डायरेक्टर क़ादिर की मेज़ पर दे मारूँ और चिल्ला कर कहूँ कि हुज़ूर, मुझे सोशल पिक्चर नहीं चाहिए। मैं स्टंट फ़िल्मों का लेखक ही भला।' यह सुन कर शाहबाज़ उन्हें समझाता है कि वे चिन्ता न करें। उन्हें कष्ट हो तो वे मय बीवी उसके सिंगल फ़्लैट में चले आयें। उसका क्या है, वे साथ हों तो वह बाहर सीढ़ियों पर सो सकता है।

और तीसरे अंकों में भी जैसा कि मैंने कहा, पर्दा कुछ घण्टों के व्यवधान को दिखाने के लिए कुछ क्षण को गिरता है और फिर उन्हीं दृश्यों पर उठता है। पर्दा गिरने उठने के इस साधन द्वारा समय के व्यवधान को दिखाने की शैली आधुनिक स्टेज क्राफ्ट के अनुकूल ही है। लेखक का कला-चातुर्य्य इसी में है कि उसने पर्दा उठाने के पूर्व और फिर पर्दा उठाने के बाद के संकेतों द्वारा इस व्यवधान को अत्यन्त स्वाभाविक बना दिया है और इस अंक में समय के गठन को अभिनय और स्थान के गठन के साथ बनाये रखा है। पर्दा गिरने के पूर्व शाहबाज़ सात दिन बाद बार में रशीद भाई को दावत देता है और जब पर्दा दोबारा उठता है तो वह बोतल मेज़ पर रखे उनकी प्रतीक्षा करता दिखाई देता है।

तीसरा अंक शाहबाज़ के फ़्लैट का है, जहाँ पड़ोस में रहने वाले पंजाबी किरायेदारों और गुजराती सेठ के बीच किराये के ऊपर 'तू-तू मैं-मैं' दिखा कर लेखक ने मकानों की समस्या को तीव्रता प्रदान की है और उसी की पृष्ठ-भूमि में वह आधिकारिक वस्तु को चरमोत्कर्ष की ओर ले जाता है। साथ ही उस वस्तु के पात्रों के रूप भी इस दृश्य में विशेष-रूप से निखरते हैं। प्रकाश, रणजीत, हाशिम, प्राण, सतीश और रथीन्द्र के चरित्र उभर कर सामने आते हैं और अन्त में रशीद भाई अपना बोरिया-बिस्तर उठा कर अपनी बेगम के साथ शाहबाज़ के सिंगल फ़्लैट में ही आ जाते हैं। जैसे फ़िल्मी पैंतरे और मस्केबाज़ी के फेर में पड़ कर रशीद भाई ने अपना मकान गँवा दिया, उसी प्रकार शाहबाज़ ने।

मकान की इस समस्या और उसके हास्यास्पद पहलू के पर्दे में अश्क ने बड़ी कुशलता से फ़िल्मी जीवन के झूठ, खुशामद, मस्केबाज़ी, स्वार्थ और समयसाधकता की यथार्थता को दिखाया है। यह यथार्थता कितनी दारुण, कितनी भयानक है, नाटक को पढ़ने के बाद ज़रा सोचने पर, यह सुस्पष्ट हो जाता है और यही नाटककार की सफलता है।

नाटक का चरम बड़ा ही हास्य और व्यंग्य-पूर्ण है। रात के समय शाहबाज़ अपने फ़्लैट के बाहर सीढ़ियों के पास ज़मीन पर अपना बिस्तर लगाये पड़े हैं कि रशीद भाई कमरे से झाँक कर हमदर्दी दिखाते हैं और जब नौकर छोकरा शाहबाज़ को अचानक इस तरह बाहर बिस्तर लगाये देखता और कारण पूछता है तो शाहबाज़ बेपरवाही कहता है :

> "अरे भाई एक फ़िल्म में हमें नौकर का पार्ट अदा करना है। कुछ दिन तुम्हारे पास सीढ़ी पर सोकर देखें कि



ताराचन्द—विजय बोस



बृजनाथ—के-बी-लाल



संतू—ताराचन्द गौड़

बनाने में भी उनकी इसी प्रवृत्ति ने काम किया है।

'अलग-अलग रास्ते' पढ़कर इतिहास की एक पुरानी घटना याद आती है।

एक बार नेपोलियन ने मैडम कन्डोरसेट से कहा—"I do not like women to meddle with politics" (अर्थात्, मैं नहीं चाहता कि महिलाएँ राजनीति में दस्तन्दाज़ी करें।)

मैडम ने उत्तर दिया—"You are right General, but in a country where it is a custom to cut off the heads of women, it is natural that they should wish to know the reason why?" (आप ठीक कहते हैं, सेनापति, किन्तु जिस देश में स्त्रियों के सिर काटने का रिवाज हो, वहाँ यदि नारियाँ इसका कारण जानना चाहें तो स्वाभाविक है।)

वर्तमान समाज के परिवारिक जीवन में हर पुरुष, चाहे वह पति हो या पिता, स्त्री के प्रति अपने को नेपोलियन से कम नहीं समझता। जिस व्यवस्था में स्त्री सामाजिक व्यक्ति नहीं बन पाती, केवल परम्परागत पुरुष-निर्मित संस्कारों और आदर्शों के लिए, पुरुष की मात्र आदेश-पालिता ही बनी रहती है, वहाँ यदि पुरुष भी घर के मैदान में अपने को नेपोलियन समझे तो हास्यास्पद होते हुए भी आश्चर्यजनक नहीं है। किन्तु उस मैडम की तरह आज की जाग्रत नारी अपना सिर काटने वालों से केवल जवाब ही तलब नहीं करती, बल्कि सिर काटने वाली तलवार को भी तोड़ने के प्रयत्न में संघर्ष-रत है।

'अलग-अलग रास्ते' में नारी-जीवन के नव-जागरण का यथार्थ रूप और उसके पुरातन संस्कार दोनों को एक-साथ प्रस्तुत किया गया है। नारी, चाहे पत्नी हो या पुत्री, उसे अभी सामाजिक प्रतिष्ठा पुरुष

के समान नहीं मिली है और उसका आत्म-संघर्ष ही यही है कि पारिवारिकमिथ्या प्रतिष्ठा को वह सामाजिक-प्रतिष्ठा में कैसे बदले। पुराने संस्कार उसे पैर पकड़ कर पीछे घसीटते हैं और नयी सामाजिक चेतना उसे आगे बढ़ने को आकर्षित करती है। इस द्वन्द्व में आज उसका जीवन बीत रहा है। उसका यह द्वन्द्व पुरुष-सत्ता के प्रति उसके सामाजिक स्वाभिमान के संघर्ष के रूप में बदल जाता है। उसे घर के नेपोलियनों की तलवार तोड़नी पड़ेगी, यदि वह स्वाभिमानी सिर को अपने सामाजिक जीवन के धड़ पर प्रतिष्ठित रखना चाहती है। इस नाटक का मूल स्वर यही है।

पं० ताराचन्द की तीन सन्तानें हैं। राज और रानी—दो पुत्रियाँ और पूरन एक पुत्र। राज और रानी दोनों की शादी हो गई, किन्तु राज का प्रोफ़ेसर पति एक दूसरी स्त्री से प्रेम करता था, इसलिए उसने राज को छोड़ कर उससे शादी कर ली, और रानी का वकील पति ताराचन्द की कोठी और कार दहेज में चाहता था, उसके न मिलने पर उसने रानी की उपेक्षा की। फलतः दोनों ही अपने पिता के घर हैं। पूरन यथार्थवादी विचारों का जागरूक युवक है। उसका दृष्टिकोण अपने पिता से बिलकुल भिन्न है। पं० ताराचन्द पुराने संस्कारों के कट्टर हिमायती हैं। वे पक्के 'नेपोलियन' हैं। दोनों पुत्रियों की शादी वे अपनी धारणाओं के अनुसार तय कर देते हैं, किन्तु उनका जो फल निकलता है, वह उनके लिए भी एक समस्या बन जाता है। फिर भी वे 'नेपोलियन' बने रहना चाहते हैं।

त्रिलोक, पंडित उदयशंकर और पं० ताराचन्द—तीनों एक संस्कार

के प्रतीक हैं। त्रिलोक को ताराचन्द का नवीन संस्करण कहा जा सकता है। अन्तर केवल इतना है कि एक पति है तो दूसरा पिता, किन्तु दोनों ही रानी के लिए समान हैं।

राज के पति की समस्या मनोवैज्ञानिक भी है। वह राज से प्रेम नहीं कर पाता, इसके लिए वह क्या करे ? किन्तु दूसरे के प्रति प्रेम करते हुए भी राज-जैसी पुराने संस्कारों की भोली लड़की से शादी करने को तैयार हो जाना उसकी सामाजिक दायित्वहीनता का परिचायक है।

'अलग-अलग रास्ते' को स्वस्थ समस्या नाटक कह सकते हैं, जिसमें वर्तमान सामाजिक जीवन की एक जाग्रत समस्या को यथार्थवादी प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। समस्या है विवाह और प्रेम की और नारी की सामाजिक-प्रतिष्ठा के निर्माण की। पात्र संस्कारों और नयी चेतना के प्रतीक ही नहीं, बल्कि वे स्वयं में एक वर्ग हैं। जैसे ताराचन्द, त्रिलोक, उदयशंकर आदि पुराने पुरुष-संस्कारों के प्रतीक पात्र हैं, जो वर्ग समाज के एक वर्ग के अवशिष्ठ सामन्ती संस्कारों का प्रतिनिधित्व करते हैं और राज है, नारी के उन पुराने संस्कारों की प्रतीक, जो शील और मर्यादा के नाम पर, प्रेम न करने वाले पति की पूजा के लिए, सब कुछ सहते हुए भी, पतिव्रता बनी रहना चाहती है, जो बन्धनों को शृङ्गार और अत्याचारों को सहना एक साधना समझती है ! और रानी है उस नारी का प्रतीक, जो आज की बनती हुई नारी है, जो नारी जीवन की सामाजिक सम्भावना है। जो आज विद्रोह के पथ पर चलने को तैयार हो रही है। पूरन सारे पुरातन सड़े-गले समाज की विकृतियों को झकझोरने वाला क्रान्ति के नये स्वर का उद्घोषक है। जो वर्तमान जीवन के सामाजिक असन्तोष का प्रतीक है।

इस परिवार में रानी ही पूरन से सब से ज्यादा प्रभावित है और वही लालची और लोभी पति के साथ, पिता के मजबूर करने पर भी, जाने से इनकार कर देती है।

सभी के स्वर अलग हैं। सभी अपने अपने चरित्र की रेखाओं को स्पष्ट करते हुए अपना स्वाभाविक प्रतिनिधित्व करते हैं।

पं० ताराचन्द रानी से कहते हैं :—

> "तू नहीं जानती, अपने पति के विरुद्ध सपने में भी बुरी बात सोचना कितना बड़ा पाप है? तू नहीं जानती, तूने एक ब्राह्मण के घर में जन्म लिया है, तू किसी चांडाल के घर उत्पन्न नहीं हुई।"

रानी ताराचन्द को उत्तर देती है :

> "आप के धर्म की बातें मैंने बहुत सुन लीं पिता जी, आप का धर्म भी पुरुषों का धर्म है।"

और पूरन कहता है : "इन पिताओं और पतियों में कोई अन्तर नहीं!"

रानी तो स्वाभिमान और सामाजिक व्यक्तित्व पाने के लिए पति को भी छोड़ती है और पिता को भी। पति द्वारा लोभवश चापलूसी करने पर वह कहती है :

> "आप क्या मुझे मूर्ख समझते हैं? क्या आप का ख्याल है कि उस अपमान, निरादर और घोर मानसिक यन्त्रणा के बाद, जो आपने दो बरस मुझे दी, मैं इतनी भोली हूँ कि आप की इन झूठी मीठी बातों के भुलावे में आ जाऊँगी।......आप जाइए...पिता जी से मकान लीजिए, मोटर लीजिए। मुझे उस मकान मोटर की

के प्रतीक हैं। त्रिलोक को ताराचन्द का नवीन संस्करण कहा जा सकता है। अन्तर केवल इतना है कि एक पति है तो दूसरा पिता, किन्तु दोनों ही रानी के लिए समान हैं।

राज के पति की समस्या मनोवैज्ञानिक भी है। वह राज से प्रेम नहीं कर पाता, इसके लिए वह क्या करे ? किन्तु दूसरे के प्रति प्रेम करते हुए भी राज-जैसी पुराने संस्कारों की भोली लड़की से शादी करने को तैयार हो जाना उसकी सामाजिक दायित्वहीनता का परिचायक है।

'अलग-अलग रास्ते' को स्वस्थ समस्या नाटक कह सकते हैं, जिसमें वर्तमान सामाजिक जीवन की एक जाग्रत समस्या को यथार्थवादी प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। समस्या है विवाह और प्रेम की और नारी की सामाजिक-प्रतिष्ठा के निर्माण की। पात्र संस्कारों और नयी चेतना के प्रतीक ही नहीं, बल्कि वे स्वयं में एक वर्ग हैं। जैसे ताराचन्द, त्रिलोक, उदयशंकर आदि पुराने पुरुष-संस्कारों के प्रतीक पात्र हैं, जो वर्ग समाज के एक वर्ग के अवशिष्ठ सामन्ती संस्कारों का प्रतिनिधित्व करते हैं और राज है, नारी के उन पुराने संस्कारों की प्रतीक, जो शील और मर्यादा के नाम पर, प्रेम न करने वाले पति की पूजा के लिए, सब कुछ सहते हुए भी, पतिव्रता बनी रहना चाहती है, जो बन्धनों को शृङ्गार और अत्याचारों को सहना एक साधना समझती है! और रानी है उस नारी का प्रतीक, जो आज की बनती हुई नारी है, जो नारी जीवन की सामाजिक सम्भावना है। जो आज विद्रोह के पथ पर चलने को तैयार हो रही है। पूरन सारे पुरातन सड़े-गले समाज की विकृतियों को झकझोरने वाला क्रान्ति के नये स्वर का उद्घोषक है। जो वर्तमान जीवन के सामाजिक असन्तोष का प्रतीक है।

इस परिवार में रानी ही पूरन से सब से ज्यादा प्रभावित है और वही लालची और लोभी पति के साथ, पिता के मजबूर करने पर भी, जाने से इनकार कर देती है।

सभी के स्वर अलग हैं। सभी अपने अपने चरित्र की रेखाओं को स्पष्ट करते हुए अपना स्वाभाविक प्रतिनिधित्व करते हैं।

पं० ताराचन्द रानी से कहते हैं :—

> "तू नहीं जानती, अपने पति के विरुद्ध सपने में भी बुरी बात सोचना कितना बड़ा पाप है ? तू नही जानती, तूने एक ब्राह्मण के घर में जन्म लिया है, तू किसी चांडाल के घर उत्पन्न नही हुई।"

रानी ताराचन्द को उत्तर देती है :

> "आप के धर्म की बातें मैंने बहुत सुन लीं पिता जी, आप का धर्म भी पुरुषों का धर्म है।"

और पूरन कहता है : "इन पिताओं और पतियों में कोई अन्तर नहीं !"

रानी तो स्वाभिमान और सामाजिक व्यक्तित्व पाने के लिए पति को भी छोड़ती है और पिता को भी। पति द्वारा लोभवश चापलूसी करने पर वह कहती है :

> "आप क्या मुझे मूर्ख समझते हैं ? क्या आप का ख्याल है कि उस अपमान, निरादर और घोर मानसिक यन्त्रणा के बाद, जो आपने दो बरस मुझे दी, मैं इतनी भोली हूँ कि आप की इन झूठी मीठी बातों के भुलावे में आ जाऊँगी।......आप जाइए...पिता जी से मकान लीजिए, मोटर लीजिए। मुझे उस मकान मोटर की

ज़रूरत नहीं।"

इसके विपरीत राजी अपने पति मदन के दूसरी शादी कर लेने पर भी अपने 'देवता तुल्य ससुर' के यहाँ चलने को तत्पर है। वह कहती है :

"यह तो मेरी किस्मत है, भैया !"

नारी के दो रूप—एक पुराने संस्कारों का और दूसरा नयी सामाजिक चेतना का—राजी और रानी में पूरी तरह उभर उठे हैं। अन्त में जहाँ नाटक का क्लाइमेक्स है, रानी और पूरन पुरातन संस्कार के सत्ताधारी पिता के घर को छोड़ कर चल देते हैं और राजी उसे पूज्य समझ कर अपना लेती है। यहाँ पर रानी राजी से कहती है :—

"आज से हमारे रास्ते अलग होंगे, राजो ! मैं प्रार्थना करूँगी कि तुम सुखी रहो।"

पूरन कहता है :—

"स्वाभिमानियों के लिए आदिकाल से यह मार्ग खुला है, राजो।"

किन्तु राजो के पुराने संस्कार बोलते हैं :—

"मेरा मार्ग भी तो आदिम है, भैया।"

इस तरह इन प्रतीक-चरित्रों में वर्तमान सामाजिक जीवन की एक मूल और यथार्थ समस्या को बड़े कलात्मक ढंग से उद्घाटित किया गया है और साथ ही सम्भावना की ओर संकेत करता हुआ एक समाधान भी पेश किया गया है।

बाकी पात्र भी मध्यवर्गीय समाज के अन्तर्विरोध-पूर्ण-रूढ़-संस्कारों के ही प्रतीक हैं और समस्या को उजागर करने में किसी न किसी तरह अपने स्वाभाविक रूप में सहायक होते हैं। शिवराम, सरदारी

लाल, बिजली पहलवान वर्तमान समाज के सब जीवित जाग्रत अंग हैं।

कला की दृष्टि से यह नाटक अश्क के विकास का एक सीमाचिन्ह प्रस्तुत करता है। इसमें समय, स्थान और कार्य-सम्पादन की एकता का कलात्मक ढंग से निर्वाह किया गया है। सब से बड़ी बात यह है कि 'अलग-अलग रास्ते' मंच पर बिना किसी अतिरंजना के समाज का ऐसा चित्र साकार कर सकता है कि नाटक के रस का साधारणीकरण सहज ही सम्भव है। एक ही कमरे की सेटिंग में पूरा नाटक समाप्त हो जाता है। तीनो अंकों का दृश्य-स्थान एक ही है और कार्य-व्यापार ऐसे प्रवाह से आरम्भ से फलागम तक बढ़ता है कि लगता है, जितनी देर नाटक के खेलने में लगती है, उतनी ही देर की कहानी है।

दृश्य-संकेत में लेखक ने कमरे के वातावरण को प्रत्यक्ष करने का सफल प्रयत्न किया है। कमरे में अवतारों के चित्र पुराने संस्कारों के और मार्क्स और गाँधी के चित्र नयी चेतना के प्रतीक है। साथ ही ये चित्र आज के संक्रान्ति-कालीन परिवारों के विचार-वैविध्य को भी प्रकट करते हैं।

'अलग अलग रास्ते' दुखान्तकी कहा जा सकता है, किन्तु यह निराशावादी नहीं है, इसलिए पूरी तरह यह दुखान्तकी नहीं है, बल्कि कह सकते हैं कि दुखान्तकी का यह आधुनिकतम रूप है। पूरन और रानी आशावादी हैं और राजी निराशावादी, किन्तु दोनों के अन्तर्मन में एक विकल वेदना है।

इस नाटक में हास्य की उतनी तरलता नहीं है, जितनी अश्क के दूसरे नाटकों में मिलती है। इसमें कहीं-कहीं पर नाटकीय परिस्थिति

से हास्य जागता है, वह भी व्यंग्य मिश्रित या व्यंग्य के कारण। नाटक का दूसरा अंक तीखे व्यंग्य का सुन्दर नमूना है। पूरन के सम्वादों में व्यंग्य है और उस व्यंग्य में पूरे के पूरे सड़े गले समाज पर घन की सी चोट है।

लगता है कि अश्क के नाटकों की थीम ज्यादातर विवाह और प्रेम की समस्या पर आधारित है और इस नाटक में भी उसकी आवृत्ति की गई है। किन्तु ऐसे सभी नाटकों में अश्क का दृष्टिकोण विकसित होता गया है जिसका उद्देश्य एक समस्या के माध्यम से समाज के सभी अंगों पर प्रकाश डालना है। अपने इस नाटक में अश्क ने समस्या के एक निश्चित समाधान की दिशा बता कर अपने उस प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय दिया है, जो आज इतिहास का रहनुमा है।

अश्क के एकांकी

श्री गोपाल कृष्ण कौल

श्री कमलेश्वर

हिन्दी एकांकी का विकास और अश्क

हिन्दी में आधुनिक एकांकी नाटकों का प्रारम्भ बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक में हुआ। यद्यपि इस समय से पूर्व भी एकांकी से मिलते-जुलते भारतीय रूपक के उपभेद संस्कृत और हिन्दी साहित्य में सुलभ थे और ऐसा माना जाता है कि भारतेन्दु ने भी 'चन्द्रावली' और 'अंधेर नगरी' को छोड़कर बाकी सब एकांकी नाटक ही लिखे थे। फिर भी आधुनिक एकांकी के वस्तु-विन्यास और रूप-विधान की दृष्टि से वे एकांकी या रूपक के उपभेद आधुनिक एकांकी की कला के क्षेत्र में प्रतिष्ठित नहीं हो सकते।

आधुनिक एकांकी पाश्चात्य साहित्य के नवीन सम्पर्क से प्राप्त हुआ एक नवीन साहित्य-रूप है जिसका शिल्प-विधान उपन्यास कहानी और बड़े नाटकों से अलग और स्वतन्त्र है। जैनेन्द्र जी का यह कहना

ठीक ही है कि 'एकांकी पश्चिम के अनुकरण में यहाँ शुरू हुआ है।'

यद्यपि आधुनिक एकांकी के अनेक तत्वों को भारतीय व्यायोग, अंक, बीथी आदि संस्कृत उपरूपकों की परम्परा से जोड़ा जा सकता है, किन्तु इस परम्परा से जोड़ने वाली समानता की अपेक्षा दोनों का अन्तर अधिक स्पष्ट है। संस्कृत उपरूपकों में नान्दी, मंगला चरण, और स्वगत आदि का विधान है और विषय-वस्तु एवं पात्रों के चुनाव के निश्चित नियम हैं। और उनमें मनोरंजन एवं धार्मिक भावना को भी प्रधान उद्देश्य के रूप में रक्खा गया है, किन्तु आधुनिक एकांकी इन तमाम रूढ़ियों से मुक्त हैं। प्राचीन एकांकियों में न तो आधुनिक एकांकियों जैसा दृश्य-विधान है और न विषय की विविधता। आधुनिक एकांकी केवल दृश्य ही नहीं श्रव्य भी होता है। कोई भी विषय उसकी सीमा के बाहर नहीं समझा जाता। इस अन्तर से स्पष्ट है कि आधुनिक एकांकी इस युग की ही मौलिक देन हैं।

साहित्य के नये-नये रूपों का जन्म सामाजिक परिस्थितियों के गर्भ से होता है। इसीलिए साहित्य की आत्मा का रस-प्रवाह चाहे तत्व रूप से एक सा ही रहता हो, किन्तु मानव विकास के क्रम के अनुसार शिल्प और रूप-विधान के नये-नये प्रकारों में साहित्य नये-नये जन्म लेता रहता है। कविता, महाकाव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक आदि साहित्य-रूप इसी मानव-समाज के क्रमिक विकास की सहज आवश्यकता की ही देन हैं। इस दृष्टि से यदि हम देखें तो हम पायेंगे कि जब आधुनिक औद्योगिक और आर्थिक विकास के साथ जन-साधारण का जीवन अत्यन्त व्यस्त रहने लगा; जब वह बड़े-बड़े, रात-रात भर चलने वाले नाटकों को देखने का अवकाश न पा सका, तब रंगमंच को एकांकी जैसे छोटे नाटकों की आवश्यकता हुई। किन्तु एकांकी का जन्म

व्यस्त मानव जीवन की समय-संकीर्णता से ही केवल नहीं हुआ, बल्कि साहित्य ने समय-समय पर बदलने वाले अपने सामाजिक सम्बन्धों की द्वन्द्वात्मक प्रगति के साथ चलने के लिए, समाज के परिवर्तित रूप तथा समस्याओं को चित्रित करने के हेतु, भी यह नया प्रकार ग्रहण किया।

जीवन की द्वन्द्वात्मक प्रगति में अनेक मंजिलें आती हैं, अनेक संघर्ष होते हैं और अनेक नाश और निर्माण होते हैं। इन समस्त जीवन-खंडों का समन्वय पूर्ण जीवन का निर्माण करता है। इस प्रकार व्यापक दृष्टि से पृथक्-पृथक मानव-जीवन खंड-रूप है और उसका समष्टिगत रूप ही अखंड है। साहित्य में मानवीय भावों की सत्य अभिव्यक्ति के लिए विविध जीवन-खंडों का अंकन आधुनिक साहित्य-विकास का एक चरण है। साहित्य के लघु रूपों का सम्बन्ध साहित्य-विकास के इसी चरण से है, और लघु कहानी, लघु-नाटक और एकांकी आदि साहित्य-रूप इसी की देन हैं।

इस प्रकार एकांकी नाट्य-कला का जन्म और विकास निम्न विशेषताओं को लिये हुए हुआ :

(१) एकांकी रंगमंच के लिए अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हुआ, क्योंकि उसमें न तो दृश्यों की इतनी भरमार रहती है और न जटिलता ही।

(२) इसमें काल, स्थान और कार्य की एकता का अधिक सफल और स्वाभाविक निर्वाह होता है।

(३) मानव-हृदय के खंड-द्वन्द्वों और संघर्षों को कुछ समय में ही उपस्थित करने में यह समर्थ होता है।

(४) यह तेज़ी से बदलने वाले जीवन की छोटी से छोटी क्षणभंगुर और अस्थायी समस्या, घटना और मानसिक द्वन्द्व की झाँकी को

प्रस्तुत करके मनुष्य को एक विचार-संकेत देता है।

(५) एकांकी नव जागरण के लिए साहित्य और रंगमंच दोनों का अत्यन्त प्रभावशाली अंग है।

(६) आधुनिक युग के नाटक विकास में साहित्यिक और व्यावसायिक रंगमंचीय नाटकों के बीच जो खाई उत्पन्न हो गई थी उसे एकांकी ने पाट दिया।

जिस प्रकार कहानी को उपन्यास का संक्षिप्त संस्करण मानना ग़लत है उसी प्रकार एकांकियों को बड़े नाटकों का संक्षिप्त-रूप-मात्र मानना ग़लत है। एकांकियों की अपनी एक स्वतन्त्र कला है। साहित्य तथा जीवन में उनकी स्वतन्त्र उपादेयता है। और उनकी अपनी एक सीमा भी है। बड़े नाटकों और एकांकियों के कुछ तत्वों में समानता होते हुए भी एकांकियों का विकास और तन्त्र-संगठन भिन्न रूप से होता है। कुछ लेखक यह समझते हैं कि कहानी का रंगमंचीय रूप ही एकांकी है, किन्तु यह ग़लत है। यह बात दूसरी है कि किसी कहानी की कथा-वस्तु में ऐसे नाटकीय तत्व हों जो एकांकी का आधार बन जायँ। किन्तु कहानी का रूप-संगठन नितान्त भिन्न है। कहानी श्रव्य है और एकांकी मुख्य रूप से दृश्य। अश्क ने 'क्या एकांकी का साहित्य में कोई स्थान नहीं ?'* शीर्षक से कहानी और एकांकी के भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "उपन्यास और कहानी का एक बड़े नाटक या एकांकी में परिणत करना आसान नहीं। उसी प्रकार एक एकांकी को (जो खेले जाने के लिए लिखा गया है) अच्छी कहानी में परिवर्तित करना सुगम नहीं।" अश्क ने एकांकी की स्वतन्त्र कला के विकास को पहचान कर ही यह बात लिखी थी और आज हिन्दी

* देखिए संकलन

एकांकी के स्वतन्त्र विकास ने, जिसमें अश्क का भी एक महत्वपूर्ण योग है, अपनी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध कर दी है और उन लोगों को एकांकी के इस स्वतन्त्र विकास से बड़ी निराशा हुई होगी जो एकांकी को कहानी का रंगमंचीय संस्करण मात्र मानते हैं। आज हिन्दी के भूतपूर्व नाटककार (जो अब शायद नाटक लिखना छोड़ ही चुके हैं) चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की यह धारणा कि "एकांकी नाटक कहानी का रंगमंच पर खेला जाने वाला संस्करण मात्र है। एकांकी की अपनी कोई टेकनिक नहीं है। इसलिए साहित्य में उसका कोई स्थान नहीं।"* नितान्त भ्रम पूर्ण लगती है।

एकांकी कला के रूप पर ऐसे विवाद 'हंस' के एकांकी अंक से आरम्भ हुए। इसी अंक में प्रकाशचन्द गुप्त ने हिन्दी के पिछले एकांकियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया था। इससे पहले एकांकी को स्वतन्त्र कला रूप मान कर नाटककारों ने उसके प्रति सजगता नहीं दिखाई थी। जो छोटे नाटक लिखे भी जाते थे, वे एकांकी कला को लक्ष्य में रख कर नहीं लिखे जाते थे। किसी छोटी कथा के आधार पर लिखे गये छोटे नाटकों को जो इधर-उधर पत्रों में प्रकाशित हुए थे, प्रकाशचन्द गुप्त ने एकांकी की श्रेणी में रखने की खींचतान की है। लगभग सन् १६३५ से कुछ समय पहले से स्वतन्त्र रूप से हिन्दी एकांकी का विकास हुआ। कुछ बंगला नाटकों के अनुवाद और अंग्रेज़ी साहित्य के प्रभाव से हिन्दी नाटककारों ने हिन्दी के एकांकी के रूप को परिष्कृत और विकसित किया। द्वितीय महायुद्ध के समय में सोवियत रंगमंच के

* देखिए संकलन

विकास और नाटक-लेखन की कला की नवीन चेतना से भी हिन्दी की एकांकी कला प्रभावित हुई। हिन्दी एकांकी के इस विकास में दो तरह के नाटककारों का उदय हुआ। एक तो वे जो एकांकी की स्वतन्त्र कला के मर्म को बिना समझे केवल उसे भारतीय नाटक की एक शैली मानते थे और दूसरे वे जिन्होंने एकांकी की स्वतन्त्र टेकनिक को समझा था और उसके रूप को निखारा था। पहले वर्ग के नाटककारों का एकांकी के क्षेत्र में विशेष विकास नहीं हुआ और न वे अपनी प्रतिभा से एकांकी कला का रूप निखारने में विशेष योग दे सके। दूसरे वर्ग के नाटककारों ने विश्व साहित्य के सम्पर्क से एकांकी के नये-नये रूप विकास का परिचय पाकर हिन्दी एकांकी को स्वतन्त्र रूप से विकसित किया। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस वर्ग के नाटककारों ने हिन्दी एकांकी का विकास केवल पाश्चत्य एकांकी के अनुकरण से ही किया है। उन्होंने एकांकी के शिल्प को निखारने के लिए पाश्चत्य शैलियों से बहुत कुछ सीखा अवश्य है, किन्तु उनका मूल आधार अपना ही है।

इस दूसरे वर्ग में भुवनेश्वर, रामकुमार वर्मा और अश्क का विशेष स्थान है।

अश्क ने विश्व साहित्य के नाटककारों से प्रेरणा प्राप्त की है। लेकिन उनकी प्रेरणा ने नकल अथवा कथानकों, घटनाओं या विचारों की चोरी का रूप नहीं लिया। वे कई नाटककारों को बहुत पसन्द करते रहे—याने उनकी विषय-वस्तु को—पर उनके नाटकों में रस पाने के बावजूद उनसे नाटक लिखने की प्रेरणा न पा सके। इसके विपरीत कुछ नाटककारों की विषय-वस्तु को उन्होंने पसन्द नहीं किया, पर उनकी कला सृष्टि से प्रेरणा पाई।

अश्क ने हास्य और व्यंग्य प्रधान एकांकी और बड़े नाटक भी लिखे, किन्तु उन नाटकों के लिखने में इस युग के प्रसिद्ध व्यंग्य नाटककार 'शा' से कोई प्रेरणा प्राप्त नहीं की। इसके विपरीत बेल्जियम के नाटककार मॉरिस मेतरलिंक और अमरीका के प्रसिद्ध नाटककार ओ-नील के नाटकों ने उन्हें बार-बार नाटक की सृष्टि के लिए प्रेरित किया है। अश्क ने अपने ऊपर पड़े पाश्चात्य नाटकों के प्रभाव को इस तरह स्पष्ट किया है :

"पश्चिम के प्रसिद्ध नाटककारों ने मुझे इबसन, मेतरलिंक, स्ट्रिंडबर्ग, चेखव, सिमोनौव, ओ-नील, कॉफ़मैन, बेरी, प्रीस्टले ने सदा नाटक लिखने की प्रेरणा दी है। मैंने शा, गालस्वर्दी, पिरेनदेलो और दूसरे अमरीकी, जापानी और यूरोपीय नाटककारों को भी पढ़ा है। मैं उन कलाकारों की महत्ता को मानता हूँ, किन्तु इनमें से अधिकांश को पढ़कर चाहे मुझे कितना भी रस क्यों न मिला हो, न जाने क्यों, स्वयं कोई नाटक लिखने की प्रेरणा नहीं हुई। सम्भवतः इसलिए कि मेरी प्रकृति उन से भिन्न है। मेतरलिंक या ओ-नील या प्रीस्टले का नाटक मैं चाहे दूसरी या तीसरी बार ही क्यों न पढ़ूँ, सदैव मुझे नाटक लिखने के लिए प्रेरित करता रहा है। उन्हे पढ़ कर मेरे मस्तिष्क में नाटक के जो आधारभूत विचार पक रहे होते हैं, उनमें से कोई न कोई अस्पष्ट विचार सर्वथा स्पष्ट होकर नाटक का रूप धारण कर लेता रहा है।"*

*देखिए संकलन—मैं नाटक कैसे लिखता हूँ।

अश्क ने अपने शिल्प को निखारने में ही उन नाटककारों के शिल्प-सौष्ठव से प्रेरणा प्राप्त की है। उनमें से अनेक की, जिनके शिल्प-सौष्ठव से उन्हें प्रेरणा मिली है, निराशापूर्ण आदर्श-वादिता और प्रतिक्रियावादी मनोवृत्ति से वे बिलकुल भी प्रभावित नहीं हुए हैं। इसके विपरीत हिन्दी के दूसरे एकांकीकारों पर पाश्चात्य एकांकीकारों का पूरा का पूरा प्रभाव पड़ा है। उन्होंने केवल शिल्प के निखार के लिए ही पाश्चात्य एकांकीकारों से प्रेरणा नहीं ली, बल्कि विचार-वस्तु और भावधारा में भी उनसे प्रभावित हुए हैं। भुवनेश्वर हिन्दी में इस प्रकार के पहले एकांकीकार हैं जिन पर बर्नार्ड शा का पूरा-पूरा प्रभाव है। कहीं-कहीं उनके नाटकों की विषय-वस्तु भी पाश्चात्य सी प्रतीत होती है। सन् १९३५ में प्रकाशित भुवनेश्वर के एकांकी संग्रह कारवाँ के 'उपसंहार' में व्यक्त विचार 'शा' के नाटकों की अनेक भूमिकाओं की अनेक बातों से मिलते-जुलते हैं। उनके 'शैतान' नामक एकांकी पर बर्नार्ड शा के 'डेविल्स डिसाइपिल' की स्पष्ट छाया है। भुवनेश्वर के एकांकियों में असफलता की घुटन, असन्तोष, सन्देह आदि तीव्र व्यंगोक्तियों में प्रगट होते हैं। भुवनेश्वर की कला का कोई सामाजिक उद्देश्य नहीं। वे समाज की विकृतियों पर कठोर बौद्धिक प्रहार करके समाज के प्रति अपने रोमांटिक बुद्धिवादी विद्रोह का आक्रोश प्रगट करते हैं। भुवनेश्वर के चरित्रांकन पर फ़्रायड के मनोवैज्ञानिक चिन्तन का प्रभाव है। उनका 'ऊसर' नामक एकांकी इसका उदाहरण है। भुवनेश्वर ने हिन्दी एकांकी में दृश्य-विधान और रंग-संकेतों का सूक्ष्म प्रयोग किया है। उनके नाटकों की समस्या का केन्द्र अधिकतर रोटी और सेक्स है।

ऊपर हम बता आये हैं कि अश्क ने विश्व साहित्य के नाटककारों का अध्ययन किया है और उनसे प्रेरणा प्राप्त की है। किन्तु उन पर

भुवनेश्वर की तरह पश्चात्य नाट्य-साहित्य का अनुकरण मूलक प्रभाव नहीं पड़ा। उनके किसी एकांकी पर पाश्चात्य नाटककार की रचना की छाया प्रतिबिम्बित नहीं होती और न ही विचार-वस्तु और भावधारा के क्षेत्र में उन्होंने पाश्चात्य नाटककारों की बौद्धिक चमत्कार-पूर्ण उक्तियों को अपने ऊपर हावी होने दिया है। अश्क ने अनुकरण मूलक प्रभाव के विरुद्ध अपनी सजगता इस प्रकार व्यक्त की है :

> "मुझे किसी प्रसिद्ध नाटक का अनुवाद करने, उसके विचार चुराने अथवा उसकी शैली के अनुकरण की कभी इच्छा नहीं हुई। उन बड़े नाटककारों की नकल करना या उनके कोषों से विचारों के मोती चुराना मैं उनकी और अपनी प्रतिभा का अपमान समझता हूँ।"

टेकनीशियन की दृष्टि से भुवनेश्वर भी एक सफल टेकनीशियन हैं और अश्क भी, किन्तु अश्क ने अपनी टेकनिक का स्वतन्त्र विकास किया है, उसके रूप को निखारा है और उसमें अनेक प्रयोग किये हैं; जबकि भुवनेश्वर कुछ सफल एकांकियों को लिख कर ठप्प हो गये। भुवनेश्वर के शिल्प या रूपविधान में उतनी विविधता नहीं, जितनी अश्क के शिल्प या रूप-विधान में है। अश्क ने झाँकी, प्रहसन, व्यंग्य, रेडियो प्ले आदि एकांकी के विभिन्न-शिल्प-रूपों को प्रस्तुत किया है। साथ ही रंगमंच की दृष्टि से भी उन्होंने विशेष सजगता दिखाई है। उन्होंने रीडिंग क्लब के लिए, ड्राइंग रूम के लिए, ऐमेचर रंगमंच के लिए, खुली हवा के रंगमंच तथा व्यावसायिक रंगमंच के लिए भी अभिनय की दृष्टि से विभिन्न शिल्प-रूपों में नाटक प्रस्तुत किये हैं।

हिन्दी एकांकियों के निर्माताओं में डा० रामकुमार वर्मा का भी

प्रमुख स्थान है। उन्होंने कोई बड़ा नाटक नहीं लिखा है। रामकुमार वर्मा के अधिकांश एकांकी आदर्शवादी भावना और मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि पर केन्द्रित हैं। उनके नाटकों के पात्रों के चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिक रहस्य खोलने का प्रयत्न छिपा रहता है। वे अपने नाटक का आरम्भ भी एक मनोवैज्ञानिक, सामाजिक या भावात्मक रहस्य-वादी ग्रन्थि से शुरू करते हैं; और उस ग्रन्थि को खोलने के क्रम में ही उनका शिल्प चातुर्य निखरता चलता है। इसीलिए औत्सुक्य और कौतूहल का आकर्षण उनमें विशेष रूप से है। स्टेज के प्रति वे सजग रहते हैं, और उनके अधिकांश एकांकी अभिनयात्मक हैं और रंगमंच पर सफलता प्राप्त कर चुके हैं। वर्मा जी ने 'बादल की मृत्यु' जैसा सफल फेन्टेसी भी लिखा है और 'चारुमित्रा' जैसा ऐतिहासिक एकांकी भी। उन्होंने 'उत्सर्ग' और 'अन्धकार' जैसे कल्पना प्रधान एकांकी भी लिखे हैं। यद्यपि वर्मा जी पर भी पाश्चात्य एकांकी कला का प्रभाव पड़ा है, फिर भी वे अधिकतर मौलिक ही हैं। उनकी भाषा कवित्तपूर्ण है। एक रोमांटिक कवि होने के नाते रोमांटिक निराशावाद की झलक उनके नाटकों में विद्यमान है और शायद अपनी इसी मूल कवि-प्रवृत्ति के कारण। उनके नाटकों में सामाजिक-समस्याओं का यथार्थवादी उद्‌घाटन मिलना कठिन है। अपने 'रेशमी टाई' नाटक में उन्होंने अपने इस निराशावादी-रोमांटिक-प्रवृत्ति-जन्य-पूर्वाग्रह का परिचय दिया है।

रामकुमार वर्मा और अश्क दोनों ने ही पाश्चात्य नाटकों का व्यापक अध्ययन किया है और उनसे प्रभावित भी हुए हैं;, किन्तु अपनी मौलिकता को अक्षुण रखने में दोनों ही समान हैं। अश्क भी कवि हैं और डा० रामकुमार वर्मा भी, किन्तु राम कुमार वर्मा के एकांकियों पर उनकी

कवि प्रवृति की जितनी अधिक छाप है उतनी अश्क के नाटकों पर अश्क के कवि होने की नहीं है। इसे नाटककार के रूप में अश्क की सफलता ही मानना पड़ेगा। विभिन्न साहित्य रूपों में अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति अलग-अलग रूप से एक कलाकार सफलता पूर्वक कर सकता है, किन्तु जब उसके अपनाये हुए विभिन्न साहित्य-रूप एक दूसरे में प्रवेश करने लगते हैं तो उसके साहित्य-रूप में शिल्प-संकरता पैदा हो जाती है और एक की विशेषता दूसरे की विशेषता को अपने मिश्रण से क्षीण कर देती है। अश्क ने कई कवि पात्रों का यथार्थ चित्रण तो अवश्य किया है, किन्तु अपनी कवि प्रवृत्ति के रोमानी प्रभाव से अपने एकांकियों को 'अभिनयात्मक गद्य काव्य' बनने से बचाया है। डा० रामकुमार वर्मा और उपेन्द्रनाथ अश्क, इन दो हिन्दी एकांकियों के निर्माताओं में यह सबसे बड़ा अन्तर है। एक रोमांटिक निराशावादी है तो दूसरा सामाजिक यथार्थवादी।

सेठ गोविन्ददास ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर में अनेक एकांकी लिखे हैं। वे गाँधीवाद से प्रभावित सुधारवादी एवं आदर्शवादी नाटककार हैं। सत्य, अहिंसा, हिन्दू-मुसलिम समस्या, छुआछूत का विरोध आदि कांग्रेसी राजनीति के आन्दोलनात्मक विषयों पर उन्होंने अनेक एकांकियों का ढाँचा खड़ा किया है। उनके एकांकियों का शिल्प-तन्त्र सरल एवं स्पष्ट है। उनके विषयों में विविधता है और उन्होंने ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार के एकांकी लिखे हैं। सेठ जी को हिन्दी में सफल मोनो-ड्रामा लिखने का श्रेय प्राप्त है। यद्यपि उन्होंने एकांकी की टेकनिक के विकास में कोई विशेष प्रयोग नहीं किये फिर भी उन्होंने कई नाटकों में उपक्रम और उपसंहार की उद्‌भावना की है। संख्या की दृष्टि से शायद सेठ जी ने हिन्दी में सब से अधिक एकांकी नाटक लिखे हैं।

हिन्दी के विशिष्ट एकांकीकारों में उदयशंकर भट्ट का भी एक स्थान है। उनके नाटकों पर प्रसाद की शैली, भाषा और दुखवाद का काफ़ी प्रभाव है।

इसके अतिरिक्त नये और पुराने लेखकों ने भी एकांकी को विषय-वस्तु और रूपविधान दोनों ही क्षेत्रों में विकसित करने का कार्य किया है। उन विभिन्न लेखकों के सहयोग से होने वाले हिन्दी एकांकी के विकास-क्रम में एकांकी के शिल्प-विकास की दृष्टि से अश्क की शैली और उनके शैलीगत प्रयोग विशेष महत्व रखते हैं। उनके शिल्पगत प्रयोग केवल प्रयोग के लिए ही नहीं, बल्कि सामाजिक यथार्थ को प्रेषणीय बनाने के लिए किये गये हैं। उनका शिल्प या रूपविधान विषय-वस्तु में अन्तर्निहित विविध युग-सत्यों को उद्भासित करने वाला प्रभावशाली माध्यम है, लक्ष्य नहीं। सबसे बड़ी बात जो उनके एकांकियों में मिलती है, वह है उनके एकांकियों का रंगमंच के नितान्त उपयुक्त होना। आज जबकि हिन्दी का अपना कोई विकसित रंगमंच नहीं है, उस समय रंगमंच के प्रति नाटककार की सजगता की सार्थकता पर बहुतों को सन्देह हो सकता है। किन्तु नाट्य-साहित्य में नये मार्ग का निर्माण करने वालों के सामने रंगमंच सदैव एक प्रश्न वाचक चिन्ह के रूप में रहा है। उन्होंने रंगमंच की आवश्यकता महसूस करते हुए भी रंगमंच को अपने नाटकों की क्रान्तिकारी परिवर्तनशील आवश्यकता का अनुभव कराया है। इसलिए अश्क के नाटकों का महत्व केवल इसलिए ही नहीं है कि वे रंगमंच के अनुकूल हैं, बल्कि इसलिए भी है कि वे रंगमंच में नया विकास लाने के अनुकूल भी हैं।

अश्क के एकांकियों की विषय-वस्तु का सम्बन्ध सामाजिक जीवन

की यथार्थता से है। समाज की छोटी-बड़ी अनेक समस्याओं को, मध्य वर्गीय जीवन के विविध पात्रों को और नाटकीय महत्व रखने वाली घटनाओं को उनकी यथार्थवादी सूक्ष्म कला-दृष्टि इस प्रकार चुनती हैं कि उन सब का ठीक सन्तुलन एक उत्तम नाटक की सृष्टि करने में सफल हो जाता है। अपने नाटक को प्रभावशाली बनाने के लिए वे उसके शिल्प का परिमार्जन खूब करते हैं और उसे अधिक से अधिक सुगठित बनाते हैं। अश्क की सबसे बड़ी शक्ति व्यंग्य और हास्य है। और सबसे बड़ी विशेषता यह है कि हिन्दी एकांकियों में हास्य और व्यंग्य के यथार्थवादी सफल प्रयोग करने के बाद भी भुवनेश्वर की तरह उन पर इस युग के श्रेष्ठ व्यंग्यकार बर्नाड शा का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उन्होंने अपनी मौलिकता को अक्षुण्ण रखा।

देवताओं की छाया में

व्यावसायिक पारसी रंगमंच के उत्तर स्वरूप जिस अव्यावसायिक रंगमंच का उदय भारतेन्दु-काल में हुआ, उसकी आत्मा स्वदेशी ही थी, परन्तु आवरण विदेशी हो चला था। राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत और सामाजिक आदर्शवादिता को लेकर जीवन के जिस शिव रूप की कल्पना की गई, वह सन् तीस के आस-पास गति-शील होने वाली यथार्थवादी धारा के कारण बहुत कुछ बिखर गया। जन-जीवन के विभिन्न सवेदना-स्थलों की ओर नाटककारों का ध्यान आकर्षित हुआ और यथातथ्य चित्रण के साथ ही, आदर्शवादी प्रवृत्तियों की उपेक्षा करते हुए, सामाजिक समस्याओं में निहित यथार्थका उद्घाटन और व्यक्ति का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन भी प्रारम्भ हुआ। समय के अभाव और जीवन में गति तीव्रता आ जाने के कारण साहित्य

के विभिन्न रूपों का शरीर-विघटन तो प्रारम्भ हो ही चुका था—इधर नाटकों के क्षेत्र में भी पाश्चात्य प्रभाव के कारण एकांकियों का प्रणयन हुआ। एकांकियों के लेखन की पृष्ठभूमि में मूल रूप से दो प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही थीं—एक तो इस पाश्चात्य शैली (यथातथ्यवादी) का स्वदेशीकरण और दूसरे उस चले आते हुए अव्यावसायिक रंगमंच की परिवर्तित अवस्था के अनुरूप किसी साहित्यिक संस्कार-युक्त नाटक-रूप के विकास की आवश्यकता।

इन्हीं दो मूल-प्रेरणाओं ने वर्तमान हिन्दी एकांकियों के रूप और आत्मा का संगठन किया है। एकांकियों के इस संस्कार में भुवनेश्वर प्रसाद, डा० रामकुमार वर्मा, गणेश प्रसाद द्विवेदी और उपेन्द्रनाथ अश्क आदि प्रख्यात एकांकीकारों ने योग दिया। लेकिन जहाँ भुवनेश्वर सन्देहवाद के शिकार हो गये, रामकुमार वर्मा सामाजिक रोमांस के इन्द्रधनुषी रंगों से अपने एकांकियों को रंगते रहे और द्विवेदी कलापूर्ण सौन्दर्य में दार्शनिकों की तरह डूब गये—वहाँ अश्क जन-जीवन की सतत् चेतना का सम्बल लेकर गतिशील हुए। और आज यदि एक ओर डा० रामकुमार वर्मा की क़लम अतीत के भव्य चित्र आँक रही है तो दूसरी ओर अश्क वर्तमान सामाजिक जागरूकता के प्रकाश में यथार्थवादी तरीके से उन परम्परागत रूढ़ियों तथा संस्थाओं के गले हुए अंगों के उद्घाटन और उत्खनन में तल्लीन हैं और हमें हमारे वास्तविक रूप का दर्शन कराके, उसके पुनर्निर्माण के लिए प्रेरित करते हैं।

अश्क के सभी एकांकियों की आधार-भूमि समाज ही है, वह समाज जो सन् ३५ के आसपास नवीन सांस्कृतिक तथा राजनीतिक चेतना से, सामाजिक आदर्शों और मूल्यों के पुनर्निर्धारण के लिए, आकुल हो उठता है। इस उथल-पुथल में एक ओर सामाजिक

रूढ़ियाँ अपने अवशेषों को बचाने के लिए और भी उग्र हो उठती हैं, दूसरी ओर वे चतुराई से कृत्रिम चोला पहन कर भुलावा देने की कोशिश करती हैं। यहीं ईमानदार रूढ़ियाँ और आडम्बरप्रियता पनपती है। रूढ़िवादी ईमानदार इसलिए कहे जा सकते हैं कि वे अपने पुरातन संस्कारों से मुक्त न होने के कारण नयी चेतना को अंगीकार करने में समर्थ नहीं थे। पर जिन शोषक शक्तियों ने अपना चोला बदलने की कोशिश की, वे अपने स्वार्थों में लिप्त रहकर भी जन-समाज के प्रति एक कृत्रिम सहानुभूति का प्रदर्शन करने लगीं। इन दो पाटों के बीच पिसते हुए निम्न तथा मध्यवर्गीय समाज के विभिन्न दुखते हुए स्थलों ने अश्क से वाणी-रूप पाया।

'देवताओं की छाया में' संग्रह के सातों सामाजिक एकांकियों में, जिनका प्रणयन सन् सैंतीस और अड़तीस के मध्य हुआ, इसी वाणी की प्रधानता है। इस समय तक अश्क जी जीवन के संघर्षों में पूरी तरह रत हो चुके थे। इसी मानसिक द्वन्द्व के समय उन्हें वह दृष्टि प्राप्त हुई, जिसने वैयक्तिक राग-विराग, दुख-सुख से ऊपर उठकर व्यापकता प्राप्त की। अपने कष्टों ने उन्हें बहुतों के प्रति द्रवीभूत किया, निज की विवशताओं ने औरों की सीमाओं की ओर देखने को प्रेरित किया और इसीलिए उनके इन प्रारम्भिक एकांकियों में जीवन का आलोचन स्पष्ट लक्षित होता है। इस आलोचक रूप ने ही उन्हें व्यंग्य का अस्त्र प्रदान किया। प्रत्येक पग और प्रत्येक क्षण पर जिन अभावों ने उन्हें रोका, उन्होंने अश्क को, वर्तमान की तात्कालिकता (Immediate) को हृदयंगम कर, अभिव्यक्ति प्रदान करने की प्रेरणा दी।

इन उपरोक्त कारणों और परिस्थितियों ने उस रूप को प्रकाशित किया जो अश्क के सामने था और जहाँ से उनका गहरा सम्पर्क था।

यही कारण है कि इस संग्रह के सभी एकांकियों में पंजाब के मध्य वर्ग तथा निम्न वर्ग का ही चित्रण प्रधान है। 'देवताओं की छाया में' संग्रह में लेखक, शोषित मज़दूर वर्ग की विपत्तियो और सीमाओं के चित्रण द्वारा वर्तमान समाज के कलुषित वर्ग-भेद की ओर संकेत करता हुआ, उस दुखद अन्त का चित्र प्रस्तुत करता है जो, अपनी करुणा से अभिभूत कर लेता है। साथ ही निम्न वर्ग की नारी के जीवन की उस सात्विकता के भी दर्शन कराता है जो, अपनी सीमाओं में घुटने और तड़पने के बावजूद भी, पति-परायणता में अपूर्व है। परन्तु नाटक की चोट वर्ग-वैषम्य की चट्टान पर ही है, जहाँ कुछ आनों के लिए मज़दूर अपने प्राण देता है—और यह विषमता अपने रौद्ररूप में उस समय प्रगट होती है, जब सूचना मिलती है कि उस दम तोड़ते श्रमिक के लिए दूध तक नही मिल सकता, क्योंकि वह तो 'देव नगर' वासियों के लिए चला जाता है।

इस एकांकी की रंगस्थली पंजाब ही है—वहीं का वातावरण, जो एक घरेलू तरीके से प्रारम्भ होकर, निरन्तर प्रखर होता हुआ, इस दुखान्तकी की चरम-सीमा पर एक गहरे अवसाद, मलाल और चोट को लेकर समाप्त हो जाता है। इस नाटक की चोट मूलतया शोषक और शोषित दोनों की ओर है। श्रमिक के जीवन के प्रति वेदना और व्यवसायी सोसाइटी के प्रति गहरा, क्रोधमय व्यंग्य जो अपनी समस्त संवेदना और तिलमिलाहट के साथ उभरता है।

श्रमिक जीवन को लेकर अन्य कोई एकांकी इस संग्रह में नहीं है और सम्भवतः अश्क के अन्य एकांकियों में भी फिर श्रमिकों को स्थान नहीं मिला। इस दुखांत व्यंग्य के बाद अन्य छः नाटकों की वस्तु सामाजिक भूमिका पर ही निर्मित है।

नैनीताल के शरदोत्सव (१९५३) में अश्क जी के एकांकी 'जोंक' और 'लक्ष्मी का स्वागत' का अभिनय



जोंक





लक्ष्मी का स्वागत



'जोंक' एक प्रहसन है जो बिन बुलाये मेहमान की जबरदस्ती और जोंक की तरह चिपक जाने की प्रवृत्ति और उसके द्वारा उत्पन्न विभिन्न हास्यात्मक परिस्थितियों को चित्रित करता है। भोलानाथ के संकोची स्वभाव के कारण एक अतिथि, जो कि उन्हींके वतनी हैं, आकर टिक जाते हैं और फिर हटने का नाम नहीं लेते। आखिर हार कर जब भोलानाथ बाहर गुरदासपुर जाने के लिए तैयार होते हैं कि किसी तरह बनवारीलाल से पिंड छूटे तो वे महाशय वहाँ भी चलने का इरादा व्यक्त करते हैं, क्योंकि भोलानाथ के जरिए कुछ काम निकल जाने की बात उन्हें सूझ जाती है। अंत तक पहुँचते-पहुँचते भोलानाथ की हास्यास्पद स्थिति करुण हो जाती है और बनवारीलाल जोंक शीर्षक को सार्थक कर देते हैं। इस एकांकी में साधारण-सी बात को लेकर मनोरंजन का अच्छा साधन प्रस्तुत किया गया है और मुख्य पात्रों द्वारा निश्चय ही चरित्र-विशेष को उभारने की कोशिश की गई है। एक क्षण-विशेष या घटना-विशेष की बात को लेकर दो प्रकार के चरित्रों का खाका उतर आया है; परन्तु किसी मन्तव्य की पुष्टि इस एकांकी से नहीं होती। शुद्ध हास्य की दृष्टि से उत्कृष्ट होते हुए भी आनन्द का रौशनदान से निकलना और चोर समझ लिया जाना स्वीकार्य नही होता, यद्यपि प्रहसन इस सीमा तक मुक्त ही है।

रूप-योजना इसमें दृश्यों की भी है। तीन दृश्यों को दो सैटिंग्स में पूरा कर दिया गया है। इस कारण रंगमंच पर अभिनीत होने में विशेष कठिनाई भी नहीं उठती। परन्तु एक सम्पूर्ण मकान का आभास देना बहुत आवश्यक हो गया है, जिसके कारण स्थान विशेष की प्रामाणिकता संदिग्ध-सी लगने लगती है। कुछ अतिनाटकीय तत्वों के कारण स्वाभाविकता पर भी आघात पहुँचता है—क्योकि चरित्र

बहुत जीवन्त, स्वाभाविक और यथार्थ हैं. परन्तु जिन परिस्थितियों में रख कर उनका उद्‌घाटन किया गया है वे उतनी सत्य नही हैं। मनोरंजन की दृष्टि से यह एकांकी रंगमंच पर बहुत ही सफल होता आया है, वह सम्भवतः अपने उन्मुक्त और लबालब हास्य के कारण।

'जोंक' की ही परम्परा में इस संग्रह के तीन और एकांकी आ जाते हैं—'पहेली', 'अधिकार का रक्षक' और 'आपस का समझौता'। 'पहेली', एक दृश्य में समाप्त होने वाला एकांकी का झाँकी रूप है। झाँकी को एकांकी का एक स्वरूप ही माना गया है सहयोगी नहीं। वस्तुतः झाँकी अपने शुद्धतम रूप में एकांकी ही है, क्योंकि झाँकी के अन्तर्गत एक ही दृश्य का विधान है और इसलिए यह भी निश्चित हो जाता है कि स्थान और समय का संकलन जितना अनिवार्य इसमें है, उतना एकांकी में नहीं। परन्तु एकांकियों में भी संकलन-त्रय का अपना महत्व है और जिस एकांकी में इन तीनों का ऐक्य प्राप्त हो, वह कला की दृष्टि से निश्चय ही श्रेष्ठ है। इस स्थिति में झाँकी-रूप की अपनी महत्ता है।

'पहेली' को शुद्ध प्रहसन के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, यद्यपि हास्य की सृष्टि उसमें है, जिसे (True Humour वास्तविक हास्य की कोटि में रखा जा सकता है। क्योंकि इसमें उथलापन या कोई विकृति नही है, वह मात्र गुदगुदाता है। अंत तक पहुँचते-पहुँचते कुछ 'फैन्टसी' भी उभरती है, जो धीरे से छू कर अपना कार्य कर देती है। यह झाँकी बहुत कुछ उस मनोवृत्ति की सूचक है, जब विपन्न व्यक्ति अपनी स्थिति, प्रतिभा और कार्य-क्षमता से अवगत होते हुए और अपनी सीमाओं का दुखद ज्ञान रखते हुए भी एक क्षण को किसी मोहक भ्रम में फँस कर कुछ कल्पनाएँ करता है, अपनी दमित इच्छाओं

की परिणति किसी स्वप्न-लोक में देखता है। बुद्धिवादी होते हुए भी क्षण भर को भाग्यवाद पर आस्था करके अपने अभावों की पूर्ति का माध्यम खोजता है। हास्य की सृष्टि तो इस संदर्भ में हो जाती है, पर साथ ही अवसाद का हल्का कुहरा भी छा जाता है। एक साधारण मध्यवर्ग का युवक चेतन अखबारी पहेलियों में निमग्न रहता है, उसकी पत्नी अपने सीमित साधनों में त्रस्त और माँ घर के इस अज्ञान और अंधकार को दूर करने के लिए शक्ति की जोत का आह्वान करती है। आर्थिक-दुर्व्यवस्था और जीवित रहने के साधनों के अभाव में युवक चेतन किस अकर्मण्यता से घिर जाता है और उस अभाव को किन उपकरणों से ढकना चाहता है, इसका एक यथार्थ दृश्य उपस्थित कर यह झाँकी समाप्त हो जाती है। चेतन पहेलियों की व्यर्थता से स्वयं परिचित है, इसीलिए तो एक गहरी साँस खींचकर वह दीर्घ-निश्वास छोड़ता है और जैसे स्वयं को और अपनी पत्नी को बहकाता हुआ गहने और कपड़ों से लाद देने की बात कहता है। अपने कथन की निरर्थकता वह भी जानता है, परन्तु निराशा उसे जिस अज्ञानजन्य भाग्य पर पहुँचाती है उस तक वह पहुँचने की कोशिश करता है। और यहीं आज के व्यर्थ, पर महत्वाकांक्षी यौवन की विवशता पर हँसी के साथ-साथ आँसू भी छलक आते हैं। अंत में चेतन तो अखबार पढ़ता-पढ़ता दफ़्तर चला जाता है, परन्तु अपने हृदय का भारीपन वातावरण में बिखेर कर! और इस तरह हास्य की उछलती कूदती सरिता अवसाद के गहन सागर में डूब जाती है। अश्क ने संवेदना को और भी घनीभूत करने के लिए 'पहेली' के दो सम्भावित शब्दों में 'कैट' और 'कार' रक्खे हैं, जिनपर सोचते हुए चेतन की पत्नी जब कहती है कि चाहे सारे मुहल्ले में भी एक मोटर न हो, पर बिल्लियाँ तो घर घर हैं और

उसी संदर्भ में जब क्षण भर बाद चेतन पत्नी से कहता है कि इनाम में मिलेंगे, पच्चीस हज़ार रुपये, एक कार और इंगलिस्तान की सैर... इंगलिस्तान—स्वतन्त्रता, धन वैभव का देश..... तो इन सम्वादों में केवल चेतन अथवा उसकी पत्नी की इच्छा और कामनाओं का संसार ही नहीं झाँकता, वरन् समस्त वर्ग का असन्तोष और अभावग्रस्त जीवन में स्वप्न-पूर्ति का विषादमय चित्र उभरता है।

रोज़मर्रा के जीवन में सामान्यतः दिखलाई पड़ने वाले आडम्बर-पूर्ण चरित्रों की ओर अश्क की दृष्टि विशेषतया गई है। जीवन में तरह तरह के ऐसे कृत्रिम और खोखले दृश्य रोज़ सामने आते हैं और इनको जन्म देने वाले पात्र भी सामान्यतः दिखलाई पड़ते हैं। 'अधिकार का रक्षक' एकांकी में एक ऐसे पात्र को उठाकर, जिसके कहने और करने में आकाश-पाताल का अन्तर है, समाज के उस पहलू को उभारा गया है, जिसमें साधन-सम्पन्न व्यक्ति क्षुद्र और अवसरवादिता की मनोवृत्ति द्वारा अपनी व्यक्तिगत प्रशंसा और लाभ के लिए, अपना उल्लू सीधा करना चाहता है। जिसके कर्म और वचन में कोई ऐक्य नहीं। वह अपने को जनता के सभी वर्गों के अधिकारों के रक्षक के रूप में प्रदर्शित करता है। इस एकांकी में अश्क ने व्यंग्य शैली का आधार ग्रहण किया है, जो कि उचित ही था, क्योंकि खोखले और बनावटीपन को देख कर जो खीझ और असन्तोष उत्पन्न होता है, वह व्यंग्य द्वारा ही व्यक्त करना सार्थक हो सकता है। परन्तु इस एकांकी के वाक्य-गठन में उतने व्यंग्यात्मक संकेत नहीं हैं, जितने अश्क के अन्य एकांकियों में। साधारण रूप से इसमें लम्पट सेठ के चरित्र का उद्घाटन होता है, पर अंत में घटनाओं की सम्मिलित एकस्वरता और सामाजिक सत्य की भूमिका में लेखक का पूरा एकांकी एक व्यंग्यात्मक

प्रभाव छोड़ जाता है—क्योंकि सेठ सभी को एक लकड़ी से हाँकता है और घटनाओं का चयन सेठ की मनोवृत्ति के दोनों पहलुओं को एक ही जगह साकार कर देता है। जिस समय सेठ टेलीफ़ोन पर हरिजनों के पक्ष की हिमयत करने की बात कहता है, ठीक उसी के बाद भंगिन को मजूरी देने में आनाकानी करता है—व्यस्तता के कारण! घटनाओं के ऐसे मैकेनिक (Mechanic) चयन द्वारा निश्चय ही कलात्मक स्वरूप को आघात पहुँचा है। विरोधाभास उपस्थित करने वाली घटनाओं की इस क्रमिक योजना द्वारा साधारण दर्शक के प्रयोजन की सिद्धि अवश्य होती है। शायद यही कारण है कि इस यथातथ्यवादी प्रहसन ने लोकप्रियता प्राप्त की है। जिस रूप को अश्क ने उस समय देखा था वह आज भी उतना ही सही और साधारण है। परन्तु शैली-गत कमज़ोरियाँ इसमें पर्याप्त हैं। सेठ के चरित्र का कोई उतार चढ़ाव नहीं है, जो कौतूहल को बनाये रक्खे। वह एक सम-धारा है जो समतल धरती पर मन्थर-गति से प्रवाहित होती जाती है, किसी नाटकीय परिस्थिति द्वारा उसे उत्तेजित करने की कोई कोशिश नही मिलती। इसीलिए कलात्मक सौन्दर्य की श्री यहाँ कुछ क्षीण सी दिखाई देती है।

जो अभाव 'अधिकार का रक्षक' में है, उससे अन्तिम प्रहसन 'आपस का समझौता' सर्वथा मुक्त है। यह एकांकी तीन दृश्य-विधानों द्वारा अपने हास्यमय प्रभाव की पूर्ति बड़ी ही सफलता से करता है। इस पूँजीवादी व्यवस्था के दुष्परिणामो के कारण साधारण मानव की नैतिकता और सेवा की भावना का जो व्यवसायीकरण इसमें सामने आता है, वह एक ओर वर्तमान डाक्टरों की बेकारी का रूप उघारता है तो दूसरी ओर उनकी उस वृत्ति का उद्घाटन करता है, जो मात्र धन के लिए एक मनुष्य को लाभ की जगह हानि पहुँचाने में नही झिझकती।

इस अर्थ-व्यवस्था का और जघन्य तथा क्रूर रूप क्या हो सकता है ? पर ये बातें आज साधारण हैं, नैतिकता और सेवा-भावना का मूल्य पैसा बन चुका है। डा० कपूर परतूल की आँख फोड़कर भी यदि अपनी न चलने वाली डाक्टरी का पूरा लाभ उठा सकता है और रुपया प्राप्त करने के लिए इस हृदय-हीनता का परिचय दे सकता है तो यह व्यक्ति का दोष होते हुए भी समाज की ध्वस्त आर्थिक स्थिति की ही देन है। डा० वर्मा और डा० कपूर का आपसी समझौता जिस घटना का सूत्रपात्र करता है, वह स्वयं उन्हीं पर एक तीखा व्यंग्य है। साथ ही आर्थिक संतुलन की खोज में व्यस्त व्यक्तियों के मानसिक पक्ष का ह्रास, सामाजिक पतन की ओर संकेत करता हुआ विशाल प्रश्न-चिन्ह बन जाता है।

बेकार डाक्टरों की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता की चतुराई को नाटककार ने जिस खूबी से पकड़ा है, वह उनकी जागरूकता और मानव के घटते मूल्यों के सूक्ष्म अध्ययन को व्यक्त करती है।

'लक्ष्मी का स्वागत' में यही धन की भूख वर्ग की व्यापक सीमा से सिमट कर परिवार की चहारदीवारी में आ जाती है— यहाँ इसका स्वरूप विभिन्न मानसिक स्तरों को खोलता, सूक्ष्म भावनाओं को उघारता उस अवस्था का चित्र प्रस्तुत करता है, जहाँ रौशन की माँ शुष्क भावना-हीन नारी बनकर, बच्चे की मौत की छाया में, रौशन के विवाह सम्बन्ध द्वारा लक्ष्मी प्राप्त करने की पशुता में संलग्न है। रौशन जब अपने मृत पुत्र का शव लेकर दुःख की कालिमा में पागल हो, अपनी शादी तै होने की खबर सुनता है तो घृणा और क्रोध द्वारा जो शब्द उसकी ज़बान पर आते हैं, वे जैसे हृदयहीनता की चरम-पराकाष्ठा और सामाजिक अत्याचार के प्रति व्यक्ति की भावना के हनन का दारुण

दृश्य उपस्थित कर, गहन व्यथा का भार दे जाते हैं।

यहाँ नाटककार का लक्ष्य व्यक्ति और समाज है। व्यक्ति के रूप में रौशन है और समाज के रूप में रौशन की माँ और बाप तथा वे सूचनाएँ जो उसके विवाह सम्बन्ध की बात कहती हैं। संवेदना का एकत्रीकरण बच्चे की मौत द्वारा करके एक गहन प्रभाव छोड़ने की कुशल और सफल संयोजना से यह एकांकी युक्त है।

और शायद यहाँ नाटककार यही कहना चाहता है कि व्यक्ति की भावनाओं के अनादर से ऐसे दुखान्त दृश्य उपस्थित हो सकते हैं—जिसको पूर्ण करने के लिए उसने बच्चे की मृत्यु का बहुत ही मार्मिक संकेत देकर अपने वक्तव्य की रक्षा की है। रौशन के मातृ-विहीन पुत्र के इस दुखद अन्त और नाटकीय परिस्थितियों द्वारा जिस घनीभूत प्रभाव को व्यथा की भावना से पूरित किया गया है, वह अपूर्व, स्वाभाविक और करुण है।

समाज की वैवाहिक संस्था के प्रति भी अश्क ने कठोर व्यंग्य किया है, जो व्यक्ति के हास्यास्पद व्यवहारों द्वारा नाटक में रस भरता हुआ एक तीव्र व्यंग्य की दिशा में गतिमान होता जाता है और अन्त में सामाजिक परिपाटियों की व्यर्थता प्रदर्शित करता हुआ उसके भावी परिणाम का संकेत देकर, समाप्त हो जाता है। विवाह में लड़की को गुड़िया की तरह छिपाकर वर की दृष्टि से बचाना और उसके कारण उत्पन्न होने वाले संदेह का जो रूप परसराम के चरित्र में उभरा है, वह सार्वजनीन है। हिन्दू विवाह संस्था में बहू को पर्दे में भेजने और तद्जनित परिणामों पर लेखक का व्यंग्य पूरा-पूरा उतरता है।

और इस प्रकार अश्क के प्रारम्भिक एकांकियों में सामाजिक

कुरीतियों, तद्जन्य घातक परिणामों, वर्गगत विषमताओं और उनसे प्रसूत निम्न वर्ग की गिरती हुई हालत आदि का प्रशस्त चित्रण एक यथार्थवादी दृष्टिकोण से हुआ है। किसी घटना, जीवन के किसी एक क्षण, किसी एक अनुभव ने इन नाटकों को कथानक प्रदान किया है। ये कथानक समस्याओं को लेकर चलते हैं—या यह कहना अधिक उचित होगा कि वस्तु संगठन की सतर्कता और शिल्पगत चातुर्य के द्वारा समस्याओं का उद्घाटन करते चलते हैं—उनका समाधान नहीं देते। ये समस्याएँ स्वयं प्रकाशित होती आती हैं।

शैलीगत विशेषताओं की दृष्टि से इन सातों नाटकों में यथेष्ट परिपक्वता है। रूप-गठन में अश्क ने विदेशी प्रभाव अवश्य ग्रहण किया है, परन्तु अपने रंग में रंग कर—इसीलिए इन सभी एकांकियों में वस्तु-तत्व को प्रेषणीय बनाने के लिए अश्क ने बड़ी स्वाभाविकता से काम लिया है। अश्क के नाटकों की सबसे बड़ी खूबी है—उनका स्वाभाविक प्रारम्भ। कौतूहल को अनावश्यक रूप से चौंकाने का प्रयत्न इन नाटकों में नहीं अश्क चौंकाते नहीं, वरन् संशय की सृष्टि करते हैं, जो प्रश्न करता चलता है—अब क्या होगा ? अब क्या हो सकता है ? और इन प्रश्नों का उत्तर बड़ी ही सतर्कता और स्वाभाविकता से मिलता जाता है। वस्तु-निर्माण में रंगस्थल की ओर पूर्ण ध्यान देना अश्क की विशेषता है। संकलन-त्रय के आदर्श को निभाते हुए, भाव की एकता और उसके चरम-प्रभाव की सुरक्षा अश्क के यहाँ पूर्ण रूप से होती है। इसीलिए वस्तु के विविध भागों पर जिस नियंत्रण की आवश्यकता रहती है, जिस संतुलन और सामंजस्य की पूर्ति द्वारा एकांकी का विकास सफल रूप में होता है, वे गुण यहाँ विद्यमान हैं। दुखान्तकी, प्रहसन, झाँकी—सभी रूपों में कलापूर्ण

ऐक्य तथा सहज सामंजस्य है। अश्क ने जिस सामान्य जीवन से कथावस्तुओं का निर्माण किया है उसी की सहज गति के समान उनकी शैली में प्रवाह है। साथ ही प्रथम एकांकी 'देवताओं की छाया में' और 'लक्ष्मी का स्वागत' में कुछ संकेतों द्वारा भी स्थितियों का उद्घाटन हुआ है। 'लक्ष्मी का स्वागत' में प्रतीक-योजना द्वारा भाव को गहनता का दान मिला है।

यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि अश्क सम्वादों के सम्राट हैं।

इन नाटकों को पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए भी अश्क का ध्यान निरन्तर रंगमंच की ओर रहा है। पीठिका, वातावरण, प्रारम्भिक संकेत, सैटिंग्ज़ की योजना की ओर उन्होंने एक दिग्दर्शक की नज़र रखी है। यही कारण है कि जहाँ इन नाटकों में साहित्यिक संस्कारिता है, वहीं रंगमंचीय उपादेयता भी। वस्तुतः ये प्रारम्भिक एकांकी वस्तु-प्रधान हैं—वस्तु का आधार एक अनुभूति, एक घटना या एक क्षण की दुखमयी या हास्यास्पद स्थिति की तात्कालिकता ही है। परन्तु इस तात्कालिक घटना या भाव का प्रसरण व्यापक सामाजिक भूमि पर है। इसीलिए इन एकांकियों में व्यक्ति, चरित्र, घटना, स्थिति आदि के माध्यम से सर्वदा समाज का नकशा ही सामने आता है, जो इस कथन को सार्थकता प्रदान करता है कि अश्क सामाजिक यथार्थ के जागरूक द्रष्टा और आलोचक हैं।

चरवाहे

एकांकीकार अश्क के प्रतीकात्मक एकांकियों का यह संग्रह क्रम से दूसरा है। पिछले और प्रथम सग्रह 'देवताओं की छाया में' और इस 'चरवाहे' के एकांकियों में एक मौलिक भेद मिलता है। इस संग्रह के नाटक अपनी उस पिछली परम्परा से सवथा भिन्न और पृथक हैं, क्योंकि दोनों के रूपविधान और वस्तु-सत्य के उद्घाटन में एक अन्तर दिखई पड़ता है। यहाँ नाटककार की वाणी ने प्रतीक योजना द्वारा अभिव्यक्ति पाई है। प्रतीकात्मक संकेतों का प्रश्रय प्रकट और परोक्ष दोनों ही प्रकार की स्थितियों के प्रकाशन के लिए ग्रहण किया गया है।

'देवताओं की छाया में' तथा 'चरवाहे' के लेखन काल के बिच कुछ अन्य एकांकीयों का प्रणयन भी अश्क ने किया, जो 'तूफान

से पहले' में प्रकाशित हुए थे, परन्तु अब वे, 'पक्का गाना' में संगृहीत हैं, जो क्रमानुसार अश्क जी का तीसरा एकांकी संग्रह है।

'चरवाहे' के सभी एकांकियों का लेखन काल १९४१ से १९४३ के मध्य का समय है। अपनी शैलीगत विशिष्टता के कारण ये नाटक अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती नाटकों की सामान्य-धारा से पृथक पड़ते हैं। परन्तु किसी भी वस्तु के बीज नैसर्गिक रूप से पूर्ववर्ती अधिकारियों के पास रहते हैं। यद्यपि इस संग्रह के सातों एकांकी अपनी शैली में प्रतीक योजना से आवेष्ठित हैं, परन्तु बीज रूप में इसके चिह्न पिछले संग्रह के दो एकांकियों 'देवताओं की छाया में' और 'लक्ष्मी का स्वागत' में भी उपलब्ध हैं। किन्तु वहाँ प्रतीकों का प्रयोग मृत्यु आदि दुखद घटनाओं का संकेत देने के लिए हुआ है, जबकि इस संग्रह के पात्रों को ही अधिकतर प्रतीक रूप में उपस्थित किया गया है। 'लक्ष्मी का स्वागत' स्वयं एक सांकेतिक शीर्षक है—उसी प्रकार के प्रतीकात्मक नामकरण यहाँ भी हैं।

प्रतीकों का प्रयोग सूक्ष्म को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए ही होता रहा है। मानव की जय-यात्रा सदैव स्थूल से सूक्ष्म की ओर हो रही है। सूक्ष्म भावनाओं, मनःस्थितियों या नाजुक घटनाओं के प्रकाशन तथा गम्भीर विषयों की जटिलता के उद्घाटन के लिए सदैव इस रूप का आश्रय सार्थक और नुकीला सिद्ध हुआ है। भौतिक स्थूलता से हट कर जब भावात्मक [illegible] की ओर चरण बढ़े तो अनायास ही प्रतीकों का अस्तित्व उभरने लगा। इसके मूल में बौद्धिक चेतना का ही प्राधान्य है और आज का बुद्धिवाद जिस चिन्तन से आक्रान्त है, उसका वाणी रूप प्रतीकों द्वारा ही अधिक सफलता से मौलिक कोमलता को प्रगट कर सकने में समर्थ है। प्रतीकों द्वारा जिस अल्प की बहु में

सिद्धि होती है, वहीं शक्ति की बचत के साथ प्रयोजन-प्राप्ति भी हो जाती है। और इस तरह प्रतीकों का प्रयोग कला को सौन्दर्य भी प्रदान करता है। बौद्धिक चेतना की देन होने के कारण इन प्रतीकों में स्थायित्व नहीं रहता। एक प्रतीक यदि एक समय एक व्यंजना देता है तो दूसरे क्षण दूसरी। और इसीलिए यह कहा जा सकता है कि लेखक के चिन्तन की गंभीरता को प्रगट करने की समस्या जब उठती है तो बुद्धि और कल्पना के सहयोग से प्रकृति और मानव, जड़ या जंगम का एक समझौता सा कर लिया जाता है। जड़—गतिशील वस्तु या भावना का संकेत दे सकता है और जंगम—नितान्त जड़ की भावना के प्रतीक-स्वरूप भी प्रयुक्त हो सकता है। सादृश्य स्थापना के लिए प्रतीकों का प्रचलन भी है, परन्तु भावात्मक जगत की हलचल और उसके अभिव्यक्तीकरण के हेतु भावनाओं का आरोप भी इसी संकेत प्रणाली का एक विकसित रूप है।

अश्क के इन नाटकों में प्रतीकों का प्रयोग भावात्मक ग्रन्थियों के उद्घाटन के लिए ही अधिकांशतः हुआ है। संकेत और संकेतित वस्तु के आपसी स्थूल सादृश्य को न अपनाकर भावनाओं के आरोपण द्वारा सूक्ष्म मनोभावों को जड़ की सहायता या जंगम के सहयोग से उद्घाटित करके पैनापन लाने और प्रभाव को घनीभूत करने की चेष्टा इन नाटकों में है।

भाव, चरित्र, वातावरण या चिन्तन की अल्पतम, परन्तु पूर्ण अभिव्यंजना के लिए इन एकांकियों में प्रतीकात्मक शैली को अपनाया गया है। मनोभावों के साथ वातावरण की संगति, या स्वतंत्र रूप से घटना या स्थिति से उसे प्रभावित करने के लिए भी इन संकेतों का प्रयोग किया गया है।

इन नाटकों में एक नवीन प्रवृत्ति का समावेश भी है—वह है 'सेक्स' की समस्या। इसका कारण यही है कि ये एकांकी अधिकतर नारी प्रधान हैं, 'चरवाहे', 'चुम्बक', 'चिलमन', 'खिड़की' और 'सूखी डाली' आदि में केन्द्रीय चरित्र सब नारियाँ ही हैं और उनके आस-पास विभिन्न मनोवृत्तियों के घूमते हुए पुरुष। साहसी, वीर, प्रणयी कवि, स्नेह-शील पति, प्रवासी या त्यागपूर्ण प्रेमी, संकोची पति या उदार वृद्ध—ये सारे पुरुष पात्र सदैव किसी नारी के चरित्र, घटनाओं की विभीषिका, मनोवैज्ञानिक मोड़ों आदि के उद्घाटन के लिए प्रयुक्त हुए हैं। सभी एकांकियों में नारी के उन क्षणों को उपस्थिति करके कथावस्तु का निर्माण किया गया है, जब उसके चरित्र की कोई विशेषता और उससे उत्पन्न होने वाली कोई असाधारण घटना बड़े ही यथार्थ ढंग से घटित हो जाती है। नारी के मन की ग्रन्थियों, उसके भावात्मक जगत तथा चरित्र के गुणों की सूचना के लिए ही प्रतीक शैली का आश्रय लिया जाना उपादेय तथा आवश्यक था। पिछले एकांकियों की तुलना में इन एकांकियों का क्षेत्र अन्तर्मुखी है। हृदय, बुद्धि तथा मनोभावों का संघर्ष यदि एक ओर अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के विश्लेषण का परिचायक है तो दूसरी ओर उन मानसिक संघर्षों की प्रतिक्रिया ही वाह्य घटनाओं का प्रणयन करती है। जिस प्रकार वाह्य सांसारिक रंगमंच पर प्रतिक्षण घटनाओं का कथानक बनता रहता है, उसी प्रकार मानव मस्तिष्क भी एक सूक्ष्म, किन्तु प्रभावशाली रंगस्थली है, जहाँ प्रत्येक क्षण विचारों द्वारा आगामी घटनाओं का स्वरूप और मानव के चरित्र का निर्माण होता रहता है।

वाह्य स्थूल जगत की समस्याओं को गौण रखकर, मानव के भाव-जगत और मानसिक संघर्षों का ही विश्लेषण-उद्घाटन इन एकांकियों

की मूल प्रवृत्ति है। सूक्ष्म सृष्टि में जिस अन्तर्दृष्टि ने प्रवेश कर ग्रन्थियाँ खोली हैं, वह प्रतीकों के माध्यम से ही अपने अनुभवों को व्यक्त कर पाई है। विविध स्थितियों में पात्रों के मनोविश्लेषण द्वारा इस सत्य या यथार्थ तक पहुँचने की चेष्टा इन एकांकियों में है जो निरन्तर बाह्य जगत के स्वरूप पर आघात कर रहा है।

इन सातों एकांकियों में समाज की ही पृष्ठभूमि में व्यक्तियों की विविध मानसिक दशाओं और प्रवृतियों का आलोचन है। और इस प्रकार इस बार नाटककार की दृष्टि ने अपना रुख उन स्थूल भौतिक समस्याओं और उसमें पिसने वाले मानवों की ओर से हटाकर व्यक्ति के सुख-दुख, नैराश्य, आशा, प्रेम, आदि वासनाओं की ओर किया है। यह क्षेत्र सूक्ष्म है, पर साथ ही स्थूल की तरह व्यापक भी। व्यक्ति को केन्द्र बनाने के कारण कुछ चरित्रों की विशिष्टताओं की ओर चला जाना स्वाभाविक भी था—परन्तु फिर भी चरित्रों म वह असामान्यता नहीं आने पाई, जो विलक्षण और असाधारण होती है। यहाँ किसी वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व न करते हुए भी सामान्य विशेषताओं या प्रवृत्तियों के सूचक रूप में ही पात्रों का निर्माण हुआ है और मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि को खोलने की चेष्टा न होने के कारण, मनस्थितियों के प्रभावों से घटित होने वाली घटनाओं की भूमिका में साधारणतया समाज के विभिन्न पहलुओं को देखा गया है।

प्रथम नाटक 'चरवाहे' एक नारी पात्र रत्नी को केन्द्र मानकर उसके चरित्र की एक विशेष प्रवृत्ति को लेकर ही निर्मित हुआ है। इस के कथानक का मुख्य संघर्ष सजीवता और निर्जीवता का ही है। एक

ओर स्वच्छ सजीव रोमांटिक जगत का आभास है तो दूसरी ओर सामाजिक बन्धन, बद्ध और निर्जीव घिसटने वाला समाज या परिवार है। और ऐसे ही एक परिवार के मध्य रत्नी प्रताड़ना, व्यंग्य आदि सहती हुई घुटती है। उसकी स्वस्थ यौवनमयी आत्मा उस सजीवता के लिए ललकती है जो बाहर बिखरी पड़ी है, परन्तु शारीरिक रूप में वह अपने मामा के घर बद्ध है। मानसिक सजीवता के प्रति जागरूक, परन्तु शारीरिक रूप में अवरुद्ध इस रत्नी में एक विद्रोह पनपता है। क्योंकि प्रकृतया वह स्वच्छन्दमयी है। वीरता, साहस, जीवन और उसके आकर्षणों के प्रति उसके हृदय में एक साहसिक (Adventurer) का मोह है। उसके घर के दूसरी ओर स्वच्छंद चरवाहों के मस्त तराने गूंजते हैं, खुले, फैले आकाश के नीचे विस्तृत, व्यापक प्रकृत्ति की रंगस्थली पर वे विहार करते हैं और यह भावना रत्नी में अपनी परवशता और पारिवारिक निर्जीवता के प्रति घृणा उत्पन्न कर, उसकी प्रकृति की मूल वृत्तियों को उकसाती है। एक चाह उन चरवाहों का उन्मुक्त गीत सुनकर उसे उस उत्फुल्ल जीवन को अपनाने की ओर प्रेरित करती है। वह सोचती है काश वह इस 'परवशता और पराधीनता से मुक्त गाती, नाचती घूम सकती!' और यहीं उसका प्रकृत स्वभाव नया प्रकाश पाकर एक उन्मुक्त उड़ान की प्रबल आकांक्षा से भर उठता है। और जैसा कि यथार्थ जगत में होता है— वह अपनी भावनाओं का प्रतिरूप एक चरवाहे युवक गोविन्द में पाती है जो वीरता और साहस का प्रतीक है। इसी अनुभूति से मूल वासना भी जागती है जो अन्त में उस आकस्मिक घटना का आभास देती है, जिसमें रत्नी और गोविन्द भाग जाते हैं। रत्नी के मूल स्वभाव का जो संघर्ष पारिवारिक निर्जीवता और बाह्य जगत की सजीवता से होता है, उसी का एक सम्भावित प्रतिफलन

उसका भाग जाना है। परन्तु इस मानसिक उद्वेलन के पीछे 'सेक्स' की प्रबल भावना भी कार्य कर रही है। वह वासना, जो मूल-रूप से एक स्वच्छन्दताप्रिय यौवन के द्वार पर खड़ी युवती—रत्नी के मन में पनपती है, अपना निकास चाहती है। उस समय वह और भी प्रबल हो उठती है, जब वह तरुणाई ही में वृद्धत्व को प्राप्त कान्त का प्रतिरोध देखती है। कान्त अपनी समस्त निर्जीवता से रत्नी की इस वासना को गोविन्द के प्रति आकर्षण में बदल देता है। जिसका परिणाम अंत में उसके भाग जाने के रूप में प्रकट होता है।

इस प्रकार तीन प्रतीकात्मक चरित्रों द्वारा जहाँ एक घटना को प्रस्तुत किया गया है, वहीं रत्नी, कान्त और गोविन्द तीन प्रवृत्तियों के परिचायक भी हैं। रत्नी उद्दाम यौवन की प्रतीक है, जो बहुत अंशों में अंधा होता है; कान्त तरुणाई में भी बौद्धिक चिन्तन और सामाजिक भार से त्रस्त, अनुभवी वृद्धत्व का प्रतीक है और गोविन्द वीरता, साहस स्वच्छन्दता का प्रतिरूप है, जिसे रत्नी अपने यौवन की वासनात्मक और प्रकृति की एकरूपता की भावना द्वारा अपना लेती है।

'चिलमन' में भी यही मानसिक द्वन्द्व प्रधान है। किरण रीढ़ की हड्डी से बहने वाले घातक नासूर से पीड़ित एक पत्नी है, जो अपनी कष्ट-साध्य बीमारी में रस्सियों में जकड़ी, हिलने डुलने में असमर्थ, विवशता और करुणा की मूर्ति बन गई है। उस भयंकर बीमारी के मध्य वह अपना अंत देखती है। उस भयावह मृत्यु की ओर निरन्तर बढ़ते हुए वह स्वस्थ प्रकाश के लिए छटपटाती है—वह मृत्यु नहीं, जीवन चाहती है। अंधे कमरे की चहारदीवारी से मुक्त हो बाहर के प्रकाश, रंग और महक से अपने सूखे और टूटे जीवन को भर लेना चाहती है। वह जानती है कि उसका रोग भयंकर है। मृत्यु की भयावह छाया उसके

चारों ओर निरन्तर घूम रही है और उन क्षणों में जितने अपूरित अरमान, अतृप्त आकांक्षाएँ उठती हैं वे सब उसके हृदय में भीषण आन्दोलन मचाये हुए हैं। पर शारीरिक रूप से विवश उसकी चेतना स्वप्निल दृश्यों में जीवन का आभास पाने की चेष्टा करती है। जितनी करुणा किरण की दशा जाग्रत करती है और विवशता की जो दारुण अनुभूति सामाजिक पर छा जाती है, वह अद्वितीय है। किरण का पति हरि अपनी ग्रन्थियों का शिकार है। उसके व्यक्तित्व की पर्तों को जिस तरह घटनाओं और वार्त्तालापों के माध्यम से उघारा गया है, वह कलात्मक प्रतिभा का चमत्कार है। वह पत्नी की सेवा करता है, परन्तु किस प्रेरणा से? अपनी कविताओं के लिए अनुभूतियों के संग्रह की प्रेरणा से—इसीलिए वह किरण को इस विवशता में देखने के लिए तैयार है। और किरण की करुण और मार्मिक दशा से प्रेरणा लेकर वह शशि को आकर्षित करता है। एक कवि का इस प्रकार अपनी संवेदनाओं को एकत्रित करना और विवशता की प्रेरणा से दूसरे को आकर्षित करने का उपक्रम करना, कितना जघन्य और हृदय-द्रावक है? हरि की मनोवृत्ति का उद्घाटन नाटककार ने जिस कुशलता से किया है, वह उसकी सूक्ष्म-पर्यवेक्षणशक्ति का एक सशक्त उदाहरण है। मनोहर की ईर्ष्या ही उस सूक्ष्म सत्य का उद्घाटन करती है। और जब हरि की इस नीच प्रवृत्ति का कथोपकथनों में पर्दा फाश हो जाता है तो पूरी चलती हुई कथा का रुख ही बदल जाता है। और यहाँ से शशि के ऊपर ध्यान केन्द्रित हो जाता है, किरण बहुत भारीपन लेकर नीचे दब जाती है और हरि के पर्त उधड़ जाने से उसका यथार्थ-रूप उसे नीचे गिरा देता है। पर शशि चमकने लगती है। शशि जैसे चिलमन के रूप में आकर अपने अँधियाले-उजियाले से आकर्षित करने लगती

है। एक ओर वह किरण की वेदना से प्रेरणा ग्रहण करने वाले हरि के चरित्र की कालिमा में अंधकारमय हो उठती है तो दूसरी ओर अपनी बड़ी-बड़ी आँखों और ज्योतित यौवन के प्रकाश से सहानुभूति भी संग्रह करती है। और इस दुखान्तकी का अंत एक सद् की प्रतिष्ठा करके हो जाता है। हरि अपने मोह का त्याग उस समय करता है, जब किरण की आँखे निविड़ कालिमा में सदा के लिए मुँद जाती हैं। किरण की मृत्यु हरि की आँख पर पड़ी चिलमन को उतार फेंकती हैं। घटनाओं और वातावरण का प्रभाव यद्यपि इसे दुखान्तकी घोषित करता है, परन्तु सद् की प्रतिष्ठा सुखान्तकी की तरह अभिभूत कर लेती है।

'चिलमन' जिस प्रतीक रूप में यहाँ प्रयुक्त हुई है, उसका संकेत जड़ और जंगम दोनों ही ओर है। एक ओर तो भौतिक वस्तु के रूप में किरण के सामने वाली खिड़की पर पड़ी चिक है जो उसे सत्य-मय प्रकाश का दर्शन नहीं करने देती और दूसरी ओर वह शशि के रूप में--हरि के वासनात्मक आकर्षण के कारण उसकी आँख पर पड़े पर्दे की भाँति पति-पत्नी के मध्य खड़ी है। और इस तरह चिलमन उस सत् और असत् के मध्य पड़ी वह प्रतीक भावना है, जिसका आरोपण नाटककार ने चरित्रों की सूक्ष्मताओं को अंकित करने के लिए किया है।

पति-पत्नी को दूसरे दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न 'मैमूना' में है। जिसमें मैमूना ऐसी भोली-भाली निरीह बालिका के प्रति उसकी माँ का बदला हुआ व्यवहार, मातृत्व की परम्परागत महिमा के सात्विक पक्ष का एक असात्विक रूप भी प्रदर्शित करता है। आमना अपनी वासना के वशीभूत हो साजिद और अरशद दोनों के प्रति विश्वासघात करती

है—उसकी वासना आकर्षण की है, ऐन्द्रिय लिप्सा का कोई कलुषित संकेत नहीं मिलता, परन्तु आमना की नित नये पुरुष की चाह और उस चाह पर मैमूना का बलिदान, उस कुत्सित आधुनिका के नैतिक पतन की कहानी कहता चलता है। वह मैमूना में अपने प्रथम पति के गुण देखती है, इसीलिए घृणित समझ कर उसकी उपेक्षा करती है। अरशद उसका प्रेमी था जिससे वह बाद में शादी करके माजिद के कारण विश्वासघात करने लगती है। अरशद का उसके पथ को निष्कंटक छोड़ कर हट जाना और मैमूना को स्नेह प्रदान करना एक मनोवैज्ञानिक मोड़ (Turn) का दिग्दर्शन कराता है और यहीं अरशद उदार और स्नेहशील व्यक्ति के रूप में उभर कर बहुत ऊँचा उठ जाता है। वह प्रेमी था, पर जिस पीड़ा को लेकर वह आमना के पथ से हटता है, वही उसे मैमूना की ओर झुकाती है और वह मैमूना से 'अब्बी' कहलाने के लिए आतुर हो उठता है—वह असफल प्रेमी नहीं रहता वरन् पिता के उस रूप को प्राप्त कर लेता है जो कि पुरुष की आदिम इच्छा रहती चली आई है। आमना सबला है, परन्तु साथ ही पतनशील वासना की प्रतिमा! आमना अपने पतियों के चुनाव में भूल नहीं करती—पहले वह रुपए के लिए आकर्षित होकर साजिद से शादी करती है और बाद में अपनी वासना के कारण नये पुरुषों की ओर आकर्षित होती जाती है—जो स्त्री अपने मातृत्व की ओर से उदासीन रह सकती है, अपनी कोमल बच्ची की घोर उपेक्षा कर सकती है, वह किसी भूल या नादानी के कारण ऐसा नहीं करती—उसके पीछे वह उद्दाम सेक्स की अतृप्त भावना है, जो उसे भटका कर, इस दुखद एकांकी की वस्तु का निर्माण करती है। परन्तु अंत में त्याग उदारता और स्नेह पिता-पुत्री के प्रेम के रूप में उस अवसाद-पूर्ण प्रभाव को कुछ हल्का

करने की चेष्टा करता है। आमना केन्द्र बनकर अरशद और साजिद से खिलवाड़ ही करती है और अंत में माजिद को चुनती है। अपने शक्तिशाली चरित्र के बावजूद वह पतनशील है, त्याज्य है—क्योंकि उसकी शक्ति सत् या असत् के संघर्ष में नहीं है। उसकी शक्ति विश्वास घातिनी की है, वासना की है।

और इस वासनात्मक स्त्री चरित्र की अवतारणा के बाद 'चुम्बक' में भी लगभग वही समस्या उठती है। यहाँ केन्द्र है गौतम और उसके इर्द-गिर्द घूमने वाली नारियाँ हैं सरिता और गोपा। गौतम आजकल के भावुक कवियों का प्रतीक है, जो अपनी कविताओं से सरिता को मुग्ध कर 'प्रेम प्रेम के लिए' सिद्धांत पर चलता हुआ उसे चाहने लगता है। गोपा के प्रति भी वह वैसी ही भावना रखता है। सरिता एक बरसाती नदी की तरह स्वच्छन्द, उन्मुक्त और रोमाँटिक युवती है। गोपा गहन गंभीर! गौतम यद्यपि अपने नाम की ध्वनि से एक उच्च-भावना-सम्पन्न चित्र मस्तिष्क में बनाता है, परन्तु एक साथ दो युवतियों को निभाने की कोशिश में गोपा के जीवन की एक दुखद ट्रेजिडी का सूत्रधार हो जाता है। गोपा टूटने वाली युवती नहीं है, परन्तु उसके प्रति हुए अत्याचार में वह कुरूपता है, जो उसे पुरुष जाति के प्रति घृणा और उदासी की भावना से भर दे। पर उसका संयमित स्वभाव और बौद्धिक संतुलन उसकी सबसे मूल्यवान निधि है। अंत में यद्यपि सरिता बिना राज़ जाने ही अकस्मात चली जाती है, किन्तु गोपा का अवसाद इतना गहरा हो जाता है कि सरिता और गौतम के भावी सम्बन्धों के प्रति कोई रुचि नहीं रह जाती। और साथ ही उस रोमाँटिक बाला-सरिता के प्रति तरस ही आता है। सरिता अपने विशद अनुभवों के बावजूद भी बड़ी बचकानी रह जाती है। गोपा की शक्ति, संयम,

स्वाभिमान और सहनशक्ति तथा ट्रेजिडी उसे बहुत ऊँचा उठाती है। गौतम छिछला है, कवि होते हुए भी उसमें वह नैतिकता या स्वाभिमान नहीं जो अपेक्षित था। परन्तु वह चुम्बक अवश्य है। वह गोपा और सरिता दोनों को आकर्षित करता है। लेकिन लोह-चून का एक कण होते हुए भी छिटक कर अस्तित्व की रक्षा करने वाली एक गोपा ही है। उसका व्यक्तित्व सबल है। और ट्रेजडी भी उसी की सबसे गहरी है। सरिता के रोमानी प्रेम को प्रदर्शित करने की कोशिश भी की गई है, तथा उसकी निरर्थकता भी ध्वनित हो जाती है, परन्तु वह समस्या अधूरी रह जाती है, क्योंकि सरिता का स्वप्न भंग नहीं होता। उसका भंग होना ज़रूरी था, क्योंकि उस प्रेम की कोई सबल नीव नहीं। भंग वह अवश्य होगा, पर शायद लेखक ने वह सब दिखाना एकांकी की परिधि के बाहर समझा है।

और प्रेम की समस्या को ही लेकर 'खिड़की' का प्रणयन हुआ है जिसमें नयना बदनसिंह के वचन का सहारा लिये बरसों प्रतीक्षा करती है। कुन्दनसिंह कुछ सहानुभूति और कुछ प्रेम लेकर उसकी ओर झुका हुआ है। नयना की प्रतीक्षा सफल होती है, परन्तु उदार सहिष्णु और सरल कुन्दनसिंह की असफलता बनकर ! कुन्दन के चरित्र का विकास जिस तरह हुआ है वह अंत में उसी पर सारी सहानुभूति बरसा देने को बाध्य करता है। नयना कुन्दन को भाई के रूप में देखती है -- सभी चरित्र पवित्र और निष्कलंक हैं—बसन्त के संयोगमय दिन ही एक वचन देकर बदनसिंह चला गया था और बरसों उपरान्त उसी दिवस लौट कर एक काल्पनिक घटना की अवतारणा करता है। नयना की व्यथा व्यक्ति की होने के कारण बहुत व्यापक नहीं हो पाती, पर कुन्दन-सिंह का अवसादमय त्याग मन प्राण को भर देता है।

'खिड़की' का प्रतीक बहुत ही व्यंजनात्मक है जो एक ओर प्रतीक्षा का संकेत देता है तो दूसरी ओर हृदय की रिक्तता का। और इस प्रतीक में जिस भावना का आरोपण हुआ है वह प्रारम्भ से नयना के साथ चलकर अंत में कुन्दनसिंह के पक्ष में संचरण कर जाती है और इसीलिए अपनी व्यंजना का सारा दुख वह उसे ही दे डालती है। इसीलिए कुन्दनसिंह की ट्रेजिडी नयना की चिर-प्रतीक्षित-कॉमेडी से अधिक उभर आती है। सांकेतिक और प्रत्यक्ष दोनों ही प्रभावों की रोशनी में यह एकांकी दुखान्तकी ही है।

घर की सीमाओं के आस पास घूमने वाले उपरोक्त सभी एकांकियों के बहुत निकट 'सूखी डाली' भी है। उसका क्षेत्र भी घर ही है, परन्तु पारिवारिक विघटन की समस्या को लेकर यह एकांकी एक नारी बेला के उस असंतोष की कहानी कहता है, जिसमें किसी करवट सुख नहीं है। बेला नव-विवाहिता वधू है जो अपने श्वसुर की पारिवारिक एकता की नीति पर ध्यान न देकर अलग गृहस्थी बसाना चाहती है, क्योंकि घर के अन्य सदस्य उसकी रुचि के नहीं। वह अहंवादी है—परन्तु जब बेला के अहं को सन्तुष्ट कर दिया जाता है, तब भी वह उस परिवार के वटवृक्ष की एक सूखी डाली से ही अपनी तुलना करती है। वह किसी तरह सुखी नहीं है—ताड़ना, असहयोग और उपेक्षा के बीच भी वह घुटती है; सहयोग, प्यार और अपनत्व के मध्य भी सूखती है। वास्तव में यह उसका विकृत अहं ही है जो उसे सुखी नहीं होने देता। उसकी अन्तश्चेतना में वह भीषण अहं बैठा है जो उपेक्षा पाकर अपने को महत्वहीन मानने से इनकार करता है और प्यार पाकर अपने कुण्ठित व्यक्तित्व का ह्रास देखता है। बेला के जीवन की यही गाँठ उसे हरे-भरे पल्लवित वट-वृक्ष में भी एक नितान्त सूखी डाली बनाकर

छोड़ देती है। ऐसे अहंकारी व्यक्तियों की सन्तुष्टि का कोई माध्यम भी नहीं। और बेला इसी कारण त्रस्त है।

इस एकांकी ने जिस सफलता से एक अहंवादी कुण्ठित और रूढ़ि ग्रस्त कॉम्प्लैक्स (Complex) का चित्र साकार किया गया है वह अद्वितीय है। ऐसी डालियाँ सूखने के लिए ही होती हैं, उपेक्षा की खाद और स्नेह का पानी उन्हें जीवित नहीं रख सकता।

और फिर 'चमत्कार' को लिया जा सकता है जो हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई आदि पात्रों को लेकर धार्मिक अन्वेषन की हास्यपूर्ण पृष्ठभूमि में, आस्था और विश्वास की महत्ता को स्थापित करता हुआ—एक चलते फिरते चालबाज़ पटरी के हकीम के माध्यम से व्यंग्य करता हुआ—समाप्त हो जाता है। धार्मिक रूढ़ि ग्रस्तता, छिछले ज्ञान और धर्मान्धता से वशीभूत अधकचरे धर्म के हिमायती प्रतिनिधियों का व्यर्थ का झगड़ा—और उससे अपना उल्लू सीधा करने वाला तथा टिकियाँ बाँटने की व्यावसायिक चतुराई का प्रदर्शन सब अपनी-अपनी जगह स्वाभाविकता से पूरित हैं। 'चमत्कार' की व्यंजना—दुधारी है—एक ओर वह सामान्य लोगों की अज्ञानपूरित छिछली धार्मिकता पर तीखा व्यंग्य है तो दूसरी ओर गढ़वाली दवाइयाँ बेचने वाले की धूर्तता का मोहक चमत्कार। यह प्रहसन ही है, परन्तु इतना स्वाभाविक, यथार्थ और सत्य कि कहीं भी वह वास्तविकता से दूर नहीं जाता। अश्क के प्रहसनों में 'चमत्कार' वास्तव में एक चमत्कार ही है।

इन संकेतात्मक—प्रतीकात्मक एकांकियों में पिछले एकांकियों

से बहुत भिन्नता है। इनमें मानव पात्रों का मानसिक संघर्ष, द्वन्द्व और मनोविज्ञान चित्रित है। कुछ क्षणों की उद्वेलित भावनाओं को लेकर इनकी कथा-वस्तु ने रूप ग्रहण किया है। मानव मस्तिष्क के रंगमंच पर होने वाले विचारों के नाटकीय प्रदर्शन को अश्क ने स्थूल रंगमंच पर लाकर साकार कर दिया है। इनके पात्र वर्ग के प्रतिनिधि न होकर 'टाइप' (Types) के आधीन हैं, परिणामों का उद्घाटन–मन की गुहाओं में छिपे आकारहीन सूदन का संघर्षपूर्ण आलोचन ही इन एकांकियों में प्रमुख है। सेक्स के जिस स्तर तक पात्र उठते हैं, वह कलुषित नहीं वरन् सहज आकर्षणमय है। जिन मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों को खोला गया है, वे गहन पर्यवेक्षण और आलोचन का परिणाम हैं। समस्याएँ इन नाटकों में भी , परन्तु गौण!

रंगमंचीय कला (Stage Craft) की दृष्टि से इन एकांकियों में समस्त संकेत हैं। और यह कहा जा सकता है कि कलात्मक विकास के दृष्टिकोण से ये अपने पूर्ववर्ती नाटकों से अधिक सशक्त और सफल हैं। 'चिलमन' में किरण का चरित्र कुछ ऐसा है जो रोगग्रस्त होने के कारण और बराबर लेट कर भूमिका करने के कारण शायद सामाजिकों के लिए सार्थक न बन पाये। उसकी चारपाई के निकट माइक क छिपा रहना जरूरी है। अभिनेय तो सभी हैं, साथ ही श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत भी सफलता का श्रेय इन्हें देना ही पड़ता है, क्योंकि बुद्धि-ग्राह्य रोचकता इनमें भरी है।

इन एकांकियों में सबसे बड़ी विशेषता है इनके अप्रस्तुत चरित्र! जो कभी मंच पर नहीं आते, परन्तु अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व की छाया का आभास देकर साकार हो उठते हैं। गोविन्द, शशि, साजिद, मदनसिंह आदि ऐसे कुछ मुख्य पात्र हैं जो अन्य पात्रों के कथोपकथनों

द्वारा रूप पाते जाते हैं—केवल रूप ही नहीं पाते, वरन् मुख्य पात्रों की तरह घटनाओं का सृजन करते हैं—स्वयं मुख्य स्वर बन जाते हैं। अप्रस्तुत पात्रों का यह विधान अश्क की कलात्मकता का बहुत ही उत्कृष्ट उदाहरण है।

ये एकांकी अपेक्षाकृत गम्भीर हैं—सूक्ष्मताओं का उद्‌घाटन करने के कारण दर्शकों की एकान्त स्थिरता के मातहत हैं। अपनी बुनावट और कथोपकथनों की स्वाभाविकता में अत्यन्त सफल होते हुए भी नाटकीय गति (Dramatic Speed) में अंशतः शिथिल हैं, क्योंकि इनका क्षेत्र मानस और मस्तिष्क है और उसके प्रकाशन का माध्यम है प्रतीक शैली।

पक्का गाना

अश्क के एकांकी नाटकों के विकास-क्रम के अनुसार 'पक्का गाना' के नाटक तीसरी सीढ़ी पर हैं और ज्यों-ज्यों इस विकास क्रम में उनकी कला प्रौढ़ होती गई है, त्यों-त्यों उसकी व्यापकता और व्यंजना भी बढ़ती गई है। इन एकांकियों में एक तीसरा ही मोड़ मिलता है, जो उनके पूर्ववर्ती दोनों संग्रहों के स्वर से इस स्वर की नवीनता और पृथकत्व को ध्वनित करता है। चिन्तन, विश्लेषण और अनुभव की परिपुष्टता से इन एकांकियों में जहाँ उपयोगिता वृद्धि हुई है, वहीं कलात्मक रूप ने भी अपना नवीन श्रृङ्गार पाया है।

'देवताओं की छाया में' के नाटकों में जो घटना बाहुल्य और कथात्मकता है, तथा 'चरवाहे' में जिस चिन्तन और आलोचन का संकेत है— उनका सम्मिलित, समन्वित रूप इन सातों एकांकियों में

उभर आया है। चिन्तन ने जो निष्कर्ष दिये हैं, वे भी घटनाओं की परिणति के रूप में बड़ी ही कलात्मक सुरुचि और सतर्कता से इनमें पिरोये मिलते हैं। यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि अश्क का चिन्तन, मनन और उसके द्वारा प्राप्त सत्य की अभिव्यक्ति इस संग्रह के नाटकों में है। प्राचीन और नवीन के संतुलित संस्कार द्वारा इन एकांकियों में जो उपादेयता आ गई है, वह गुदगुदाती भी है, रुलाती भी है और कुछ देती भी है। क्योंकि नवीनता का आवेश, आधुनिक के प्रति लगाव और प्राचीनता का संदेश जिस संतुलित रूप में व्यंजित हुआ है, वह आज की समस्याओं की पर्तों को उधेड़ता, व्यर्थ की बातों से कतराता सीधा मर्म तक पहुँचता है। इनमें विद्रोह की जगह सामंजस्य और संतुलन का स्वर मुखर है। युग की यथार्थता को लेते हुए, उसकी समस्याओं को पूरी गहराई से पकड़ते हुए निर्माण के अंश इनमें उभरने लगते हैं, ध्वंस का बहिष्कार होता दिखाई देता है। अपनी आत्मा से इस संग्रह का स्वर अहिंसात्मक है—दुर्बलता या कमज़ोरी का सूचक नहीं, वरन् शक्ति, तेज और सत्य का वाहक है! सत्य और सौन्दर्य की उस किरण को दबी-घुटी भ्रमित वृत्तियों के अन्धकार में से खोज लाना एक बड़ा और महत्वपूर्ण कार्य है। और जहाँ सत्य और सौन्दर्य हैं वहाँ बिखराव और विध्वंस अपने आप संतुलित हो जाते हैं। अश्क ने केवल कुरूपता का उद्घाटन नहीं किया, वरन् यथार्थ द्वारा उसके रूप को सजाया भी है। वैसे तो यथार्थ भयानक भी होता है, परन्तु सत्य की सत्ता सभी जगह है – वह भी उसी अखण्ड सत्य का एक पक्ष ही है जिसे देख कर ग्लानि, कुरुचि और वितृष्णा होती है। परन्तु वह उसका अस्थाई रूप मात्र है। उस अस्थायित्व को मथ कर और भेद कर यथार्थ के सुन्दर रूप का उद्घाटन और पोषण इन एकांकियों में है। जीवन

को जिस तरह लेखक ने देखा है, उससे रूप स्थिर कर चिन्तन द्वारा जो सत्य उसके हाथ लगा है, वह इनमें अनायास ही व्यंजित हो उठा है।

यथार्थ में एक अन्तर्विरोध सदैव रहता है। वह विरोधाभास प्रत्येक कण में है। यहाँ तक कि बुद्धि और विचार में भी है—बुद्धि (भेजा) शरीर का एक अंश है जो जड़ है, परन्तु उसके द्वारा प्रसूत विचार या चिन्तना चिरन्तन, गतिशील और जीवन्त है। यही अन्तर्विरोध वस्तु-जगत या भाव-जगत, सभी जगह में है। सुख के साथ दुख का, भय के साथ वीरता का और इसी तरह प्रत्येक जगह यह वर्तमान है। इन्हीं अन्तर्विरोधी धाराओं से जीवन की सम्पूर्णता है—यही सम्पूर्णता इन नाटकों के चरित्रों में भी है और घटनाओं की वास्तविकता में भी। सत् और असत् के इसी संघर्ष ने वाणी पाकर इन एकांकियों की रचना की है।

और इस प्रकार प्रथम एकांकियों की तुलना में ये नाटक अधिक सम्पूर्ण, परिपक्व और कला के गुणों से सम्पन्न हैं। यथातथ्यवादी और प्रतीकवादी शैली से हट कर ये यथार्थवादी भूमि पर हैं, जिनमें नवीनता के प्रति आशा और उचित प्राचीनता के प्रति आदर की भावना है। आधुनिकता के मोह में जो कुसंस्कार हो रहा है, ग़लत क़दम उठाया जा रहा है, उसकी ओर संकेत करते हुए; प्राचीन में जो उपादेय है, उसे अपनाते हुए; एक स्वस्थ और पूर्ण भविष्य को गढ़ने की कामना इनमें निहित है। यथार्थ की भी अपनी आदर्श कल्पना होती है—उसका भी आदर्श तो है ही, इसीलिए 'आदर्श' शब्द का बहुत सतर्क और रूढ़ि-मुक्त अर्थ में प्रयोग करते हुए, यह संकेत कर देना आवश्यक है कि इन एकांकियों में यथार्थ के उस आदर्श की प्रतिष्ठापना है, जो यथातथ्यवाद

के अन्तर्गत उपलब्ध नहीं होती। और इसीलिए इन छोटे-छोटे भाव-दृश्यों का मूल्य बढ़ जाता है।

क्रम में सब से प्रथम 'तूफ़ान से पहले' आता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से कुछ पहले देश में जो साम्प्रदायिक आग भड़क रही थी, पशुता जो रूप दिखा रही थी, घृणा और क्रोध की जिस ज़हरीली फ़िज़ा में भारत का स्वतन्त्रता-संग्राम चल रहा था—उसी की भूमिका में हिंसा और अहिंसा, पशुता और मानवता, क्रूरता और दया, लोलुपता और त्याग का दुधर्ष संघर्ष भी चल रहा था। उसी का यथार्थ चित्रण इस एकांकी में है। साथ ही उस आदर्श का संकेत भी, जिसकी ओर आज की मानवता अग्रसर हो रही है। घीसू उन सद् प्रवृत्तियों का प्रतीक है जो अपना बलिदान करके शत-शत-मुखी होकर उभरती हैं। वह दया, त्याग अहिंसा, साम्प्रदायिक एकता और सहिष्णुता का प्रतीक है। हिन्दू मुसलमानों के भड़कते हुए जोश के परिणामस्वरूप एक ग़लत खबर के कारण जिस भयंकर रक्तपात का आयोजन घीसू के मुहल्ले में होता है, उसके प्रति वह छोटा कामकाजी आदमी कोई लगाव नहीं रखता। तिरंगा झण्डा अपनी दुकान पर न फ़हरा कर वह हिन्दुओं की कुदृष्टि का शिकार होता है, क्योंकि वह जानता है कि झण्डा फहराने से मुसलमान काले झण्डे फहरायेंगे और झगड़ा होगा। उस रक्तपात का जो वातावरण उपस्थित किया गया है, वह अपनी समस्त भयावहता के साथ सब जगह छा जाता है, परन्तु उस भय और हिंसा के मध्य घीसू अविचलित, अपराजेय, धीर की तरह अपने मत पर स्थिर रहता है। धार्मिक अन्धेपन में उसकी आँखें नहीं झपतीं, क्योंकि उसके सामने उस समाज का खाका है, जिसमें यह पशुता

नहीं रहेगी। अन्त में वह घीसू, जो अपनी टूटी मशीन से रोज़ी कमाता था, एक महामानव की भाँति न्याज़मियाँ को बचाने के लिए, स्वयं गिरधारी दादा के छुरे से घायल होकर गिर पड़ता है और अपने उस फ़र्ज़ को अदा करता है, जो न्याज़मियाँ बहुत पहले उसकी जान बचाकर, उसे पाल पोस कर, अदा कर चुके थे। न्याज़मियाँ भी मारे जाते हैं, परन्तु घीसू की बच्ची पारो न्याज़मियाँ के बच्चे बख्शू को बालकपन के प्रकृत-प्रेम के कारण छिपा कर बचा लेती है और घीसू अपनी पत्नी से उन बच्चों के पालने का वचन लेकर मरता है। घीसू उस तूफ़ान की आवाज़ भी अपने उन अंतिम क्षणों में सुनता है, जो आने वाला है और जिसके पहले अवसरवादी, वर्गस्वार्थों में लिप्त पूँजीपति, गुण्डे, इत्यादि समाज विरोधी धर्मभीरु गरीबों को लड़ा कर अपनी स्वार्थ-सिद्धि में लगे हुए हैं। वह उस वर्गहीन समाज का स्वप्न देखता हुआ समाप्त होता है, जिसमें पशुता पर मानवता की विजय होगी और जिसके प्रतीक पारो और बख्शू के रूप में वह अपने पीछे छोड़ जाता है।

घीसू कर्त्तव्यनिष्ठ, त्यागी देवता है, आदर्शप्रिय कर्मयोगी है। परन्तु वह जानता है कि उसका स्वर क्षीण है—अपने-अपने स्वार्थों में लिप्त प्राणियों की वहशी आवाज़ में उसका स्वर मुखर नहीं हो पाता, परन्तु वह आशावादी है, अपराजेय है। उसकी जीत पारो और बख्शू हैं—उसका विजित दुर्ग भविष्य है। वह मर कर भविष्य को जीत लेता है, क्योंकि समतल कर देने वाला जो तूफ़ान आ रहा है वह मात्र कल्पना नहीं, कार्य-कारण-परम्परा का वैज्ञानिक परिणाम है। और इस तरह घीसू के सांसारिक जीवन की ट्रेजिडी में भविष्य की आशामय कॉमेडी का भव्य संकेत है—झिलमिलाहट है। सामाजिक चेतना के इस भव्य दृश्य और सामाजिक अन्वेषण की इस तन्द्रा का चित्रण करते हुए, घीसू

ऐसे चरित्र का निर्माण भविष्य के प्रति वर्तमान में संतुलन का संकेत देता है।

'बहिनें' आधुनिकाओं की ट्रेजिडी का एक करुण दृश्य है। पति के चुनाव सम्बन्धी नारी की धारणाओं और आकर्षणों का विशद खाका खींचता हुआ यह एकांकी अंत में उनके अति आधुनिकपन पर एक तीखा नश्तर लगाकर समाप्त हो जाता है। सुहास, रमा, निशा और कान्ति उन चार प्रवृत्तियों की द्योतक हैं, जो आज के नारी जीवन में पनप रही हैं। उनमें निशा और रमा ही वे नारियाँ हैं जो अपने ढूँढ़े हुए पतियों को खोकर एक गहरा धक्का खाती हैं—आधुनिक फैशन-परस्ती के वशीभूत हो जिन पाश्चात्य वैवाहिक विधानों को आज की आधुनिकाओं ने महान् समझ लिया है, उसके खोखलेपन और उनकी नींव के पोलेपन पर आघात करते हुए नाटककार ने वह अंत प्रस्तुत किया है जो बहुत यथार्थ होते हुए भी आकस्मिक और अति नाटकीय (melodramatic) है।

इसी परम्परा में— यानी वैवाहिक जीवन के दूसरे पहलू को लेकर 'पापी' का निर्माण हुआ है, जो कलात्मक अंतर्दृष्टि और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक संघर्षों का बहुत ही सफल रूप उपस्थित करता है। शान्तिलाल अपनी यक्ष्मा-ग्रसित पत्नी के अंतिम दिनों में उसकी बहिन रेखा के प्रति गहन आकर्षण में गिरफ्तार हो जाता है। छाया अपनी रुग्णावस्था में जिस भीषण मानसिक संघर्ष और उथल-पुथल में फँसी है, वह करुणा की सीमा पर है। शान्तिलाल रेखा के प्रति बुरी तरह आकर्षित होकर वासना का क्रीतदास बन जाता है—वह मरती पत्नी छाया के पास उसकी सान्त्वना के लिए जाता तक नहीं, और छाया अपनी छाती पर होते हुए इस विलासमय दृश्य की कठोरता से कराह

उठती है। शान्तिलाल अंत में दोनों को खो बैठता है—छाया मर जाती है, रेखा ठुकरा कर चली जाती है। क्योंकि बहुत बड़ा तर्क रेखा के पास है। वह जान लेती है कि जो पुरुष छाया के इस भीषण काष्ट भी उसकी बहिन से प्रेम-निवेदन कर सकता है, छाया को धोखदेमें सकता है, वह उसे भी समय पड़ने पर छल सकता है।

इस एकांकी में ही नहीं, वरन् अश्क के समस्त एकांकियों में छाया और नही मिल सकती। अपने हृदय के अन्तर्विरोधों के बावजूद वह एकात्न भाव से क्षमाशील है; पतिपरायणता की प्रतिमा है; यक्ष्मा में घुलती हुई देवी है; जो सब कुछ जानते हुए, पति के जघन्य विश्वासघात का ज्ञान रखते हुए, उसकी उपेक्षा का ज़हर पीते हुए और शारिरिक रूप से अशक्त होते हुए भी करुणा और दया की मूर्ति है; जो शान्तिलाल के दोषों को भी गुण स्वीकार करते हुए, अपने को दोषी ठहराते हुए, क्षमा की याचना करती है; रेखा और शान्तिलाल के सम्बन्धों को अपना सन्देह कहकर अगले जन्मों में उसीकी दासी बनने की वह करुण-कामना करती है। प्राचीनता की भावनाओं से युक्त होते हुए भी जिस समर्पण, क्षमा और त्याग को वह प्रतिमूर्ति है, वह पूज्यनीय है। शान्तिलाल की वासना और सेक्स (Sex) आकर्षण की भावना से उद्भूत मानसिक मोड़ों का दिग्दर्शन अद्वितीय है। छाया एक गहन वेदनामय छाया की भाँति छाई रहती है। शान्तिलाल इस पाप के शाप में डूब जाता है।

'नया पुराना' में सत्य और असत्य का संघर्ष है। देवचन्द धर्मभीरु, प्रतिष्ठा प्रेमी एक आदर्शवादी पुरुष है, जो लिली की माँ का ६०,००० का गहना रखकर उसे अमानत समझता है। रविदत्त लम्पट, धूर्त और असत्य का पक्षपाती है, जो देवचन्द को वह सब ज़ेवर उड़ा जाने

की सलाह देता है। मूल समस्या ईमानदारी और बेईमानी की है। जिसमें देवचन्द का देवत्व विजयी होता है। इस एकांकी का देवचन्द—एक यथार्थ नायक का प्रतिरूप है। सद् का पक्षपाती होते हुए भी एक मनुष्य की कमज़ोरियाँ उसमें हैं—वह देवत्व के भावों से मण्डित है, परन्तु देवता न होकर मानव ही है। क्योंकि रविदत्त की धूर्त्तता का विरोध करते हुए भी जब वह अपने विश्वास को डगमगाते देखता है, उसके मन का चोर सर उठाने लगता है, तो वह गहने वापस कर देता है। क्योंकि मन पर से उसका भरोसा उठ जाता है। और इस तरह इस आदर्शवादी कहानी का अंत हो जाता है।

टेकनिक (Technique) की जिस नवीनता को इसमें अपनाया गया है, वह बहुत ही सफल और सार्थक है। एक पुरुष गजेन्द्र इस नाटक का लेखक है। यह नाटक चलता जाता है; इसे एक व्यक्ति, जो क्लब का भाग्य विधाता है, चुप चाप देखता जाता है और अंत में इसके आदर्शवादी होने का फ़तवा और गजेन्द्र को यथार्थवादी नाटक लिखने का परामर्श देकर वह चल देता है। टेकनिक के इस रूप को अपनाने का कारण यही है कि आज आदर्शवाद के प्रति जो तिरस्कार की भावना है, तथा जिस यथातथ्यवाद को यथार्थ का नाम दिया जा रहा है, वह एक भ्रममूलक धारणा है। साठ हज़ार का जेवर लौटा देने वाले सद्-पुरुष अभी हैं, परन्तु उस उच्च मानवीयता को इस भ्रममूलक यथार्थवाद की झोंक में तिरस्कृत किया जा रहा है। इसीलिए स्वयं यह नाटक लिखकर उस मानवीयता को प्रतिष्ठित करने और फैले भ्रम को मिटाने के हेतु, टेकनिक की इस रूप-योजना को अपना कर, लेखक ने बात भी कहली, व्यंग्य भी कर लिया और अपने मत का स्पष्टीकरण भी प्रस्तुत कर दिया।

वेश्या भी प्यार की भूखी होती है और इस प्यार को पाने केलिए वह क्या-क्या कर सकती है, इसका द्वन्द्वात्मक उद्‌घाटन 'वेश्या' में हुआ है। निरंजन एक आदर्शवादी प्रेमी की भाँति, अपनी प्रेमिका वेश्या मोती की माँ जवाहर की धन-तृष्णा को बुझाने के लिए सारी जायदाद लिखकर मोती को प्राप्त करता है। परन्तु जवाहर धन की भूखी नहीं, वह प्यार चाहती है— अपनी लड़की के प्रेमी निरंजन का प्रेम चाहती है, वह उसे ठुकरा देता है तो क्रुद्ध होकर उसे दीन-हीन, पर-कटा बना देना चाहती है। निरंजन, जवाहर और मोती में यदि सबसे यथार्थ रूप में किसी को पकड़ा गया है तो वह जवाहर है। मोती और निरंजन कोरे आदर्शवाद से पीड़ित हैं। निरंजन एक युवक है, वह पहले मोती की माँ जवाहर का प्रेम ठुकरा चुका है। यह वय के दृष्टि-कोण से बहुत वास्तविक नहीं और इसी पर पूरे एकांकी का संघर्ष आधारित है। केवल रूप और सौन्दर्य के अपमान से उद्वेलित जवाहर की भावनाएँ और उनका घटित रूप कुछ उचित है—यदि मोती को समर्पण और निरंजन को प्रेम का प्रतीक माना जाय और जवाहर को ईर्ष्या का तो कुछ सत्य का आभास मिल सकता है।

'कामदा' में भी एक भ्रम का निवारण है। इसमें दो कथाएँ साथ-साथ चलती हैं। एक परोक्ष में चलने वाली, मुकुन्द की और दूसरी प्रत्यक्ष मंच पर घटित होने वाली कामदा और कांत की। इस एकांकी का भी संकेत आधुनिकाओं की वैवाहिक समस्या की ओर है। कामदा त्याग, प्रेम आदि को उपयोगिता, सुख ऐश्वर्य के तराजू पर तौलती है। यही कारण है कि वह एक लम्पट कवि कांत के पाश में फँसने को तत्पर हो जाती है। परन्तु अंत में कांत की तीसरी पत्नी आ जाती है और उसका सारा चरित्र खुल जाता है तथा कामदा अपने देवता प्रेमी

मुकुन्द के साथ अनिच्छापूर्वक विवाह कर लेती है। आधुनिक सभ्यता की ऊपरी चकाचौंध से उसकी आँखें मुँदी हैं, परन्तु समय की माँग और कुछ-कुछ स्नेह तथा परिवार की प्रतिष्ठा आदि के कारण वह विवाह स्वीकार कर लेती है। मनुष्य के प्रकृत सद्‌गुणों और मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हुए एक बड़ा संकेत देकर यह एकांकी एक सुखान्तकी में बदल जाता है। वह संकेत या स्थापना है कि मानव-मूल्यों के समक्ष धन हेय है और सहचर्य किसी भी खाई को पाट सकने में समर्थ है।

इन छः सामाजिक एकांकियों के बाद संग्रह का ही नहीं, वरन् अश्क के एकांकियों में श्रेष्ठतम प्रहसन 'पक्का गाना' हास्य का परिष्कृत और उत्कृष्टतम रूप लेकर बम्बई की महानगरी में साहित्य, संगीत, अभिनय तथा अन्य कलाओं के प्रति होने वाले दुराचार का दृश्य प्रस्तुत करता है। इन कलाओं के साथ सिने क्षेत्र, रेडियो आदि में होने वाले अत्याचार को उद्‌घाटित करता हुआ यह एक तीखा व्यंग्य भी करता है। गीतों में भाषा के साथ बलात्कार; संगीत निर्देशन में संगीत की आत्मा का हनन करते हुए धुनों का बनाना; अनर्गल, ओछे निकृष्ट गीत लिखाना; सेक्स-अपील पर ध्यान केन्द्रित करते हुए फिल्मों का बनाना और शास्त्रीय संगीत की छीछालेदर इत्यादि विविध दिशाओं की ओर इस एकांकी में व्यंग्य के तीर छोड़े गये हैं। सिने जगत के खोखलेपन, सस्तेपन और दूषित प्रणाली पर नज़र डालते हुए नाटककार उसकी तह में भी जाता है—वहाँ उसी व्यवस्था का हाथ है जो आज की विषमताओं के लिए उत्तरदायी है। नैतिक पतन, सांस्कृतिक और उत्तरदायित्व की भावना के लोप आदि के जो क्षणिक संकेत नाटक में मिलते चलते हैं, वे हँसाने के साथ उद्‌बुद्ध करने के लिए भी पर्याप्त हैं। वास्तव में इस एकांकी में उन अधकचरे संगीतज्ञों,

कलाकारों और साहित्यिकों के उन क्षणों की पकड़ है, जब वे अपने को कला का उत्तराधिकारी सर्जक और नियामक भी मान लेते हैं। परन्तु उनके अधूरे और असांस्कृतिक ज्ञान से जो अनर्थ होता है तथा कला का स्तर जिस तरह नीचे गिरता जाता है, उसका रूप भी नाटककार व्यंजना द्वारा इसमें प्रस्तुत कर देता है। शुद्ध हास्यात्मक होते हुए भी इसमें एक चोट है— नीचे-नीचे चलने वाला व्यंग्य है !

इस प्रकार पूरे संग्रह से जो स्वर निकलता है, उससे यही ध्वनित होता है कि समाज के विविध अंगों पर दृष्टि डालकर वहाँ होने वाले मानसिक और बौद्धिक संघर्षों के बीच सत् और असत् को नाटककार ने मुखरित किया है। जिसमें नवीनता और प्राचीनता का समावेश कर कुछ समाधान भी प्रस्तुत किये हैं। ये समाधान क्रियात्मक हैं तथा स्वयं नाटकीय परिस्थितियों से विकसित, इसीलिए बहुत स्वाभाविक, ग्राह्य और सहज हैं। उन्हें प्रस्तुत करने के लिए कहीं भी नाटककार को उपदेशक का रूप नहीं लेना पड़ा।

परन्तु आदर्शवादी प्रवृत्ति इन नाटकों में प्रथम बार दृष्टिगोचर होती है। इसलिए सम्भव है इन एकांकियों में से अधिकांश को निष्कर्षवादी मान लिया जाय। गहन समस्याओं का विश्लेषण, अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियों के संघर्ष का अंकन, मनोवैज्ञानिक मोड़ों (Turns) की पकड़ आदि कुछ बातों ने उस आदर्श को कुछ इतना ग्राह्य बना दिया गया है कि पाठक या सामाजिक उन पर विचार करने के लिए मजबूर हो जाता है— क्योंकि प्रत्येक समस्या के समाधान के साथ ही अश्क ने एक छोटी सी शंका भी छोड़ी है। विषय-वस्तु के चयन में समाज के विभिन्न व्यापारों

की ओर भी अश्क की नज़र गई है।

शैली की दृष्टि से और आदर्शवादिता के बोझ से 'वेश्या' में सम्पूर्णता नही है। जिन गीतों का विधान किया भी गया है, वे प्रभाव को तीक्ष्ण बनाने में कोई विशेष सहायता नहीं दे पाते। यह शायद इसीलिए है कि यह अश्क का प्रथम एकांकी है। परन्तु जिन कथानकों को लेकर वस्तु विन्यास किया गया है, तथा जिन परिस्थितियों में उनका उद्घाटन एवं आलोचन है, वे स्वयं निःसृत, स्वछन्द और संतुलित हैं। तराश की खूबी के कारण संतुलन (Balance) स्थापित रहता है। परन्तु 'बहनें' और 'वेश्या' का पूर्वार्ध बहुत कुछ शुद्ध सम्वाद की कोटि में आ जाता है. क्योंकि उसमें ऐक्शन की कमी है। पर ऐसे चिन्तनात्मक, विवेचनात्मक स्थलों को लेने के कारण ही इस सम्वाद-रूप को लेना सम्भवतः आवश्यक हो! इस प्रकार इन एकांकियों में पुरातन वर्तमान और भविष्य—तीनों ओर दृष्टि प्रसार है। पुरातन तो इतिहास है, वर्तमान यथार्थ और भविष्य ही आदर्श है। इसीलिए अनुभव, यथार्थ और आदर्श का यह समन्वय यहाँ सम्पूर्णता लेकर प्रकट हुआ है।

पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ

'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' सात प्रहसनों से युक्त हास्य-व्यंग्य की निधि है। इनमें हास्य का जो शुद्ध रूप और सहजता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दी में प्रहसनों का अकाल है। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रहसन सामाजिक चेतना पर जीते हैं। समाज के विभिन्न वर्ग, व्यक्ति, घटना, खोखलापन और आडम्बर आदि ही प्रहसन की स्वस्थ भूमिका के रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं, क्योंकि प्रहसन यदि एक ओर हास्य मनोरंजन का साधन है तो दूसरी ओर सामाजिक उत्तरदायित्व से अपने को पृथक भी नहीं कर सकता। वास्तविकता यह है कि सभ्यता और संस्कृति की प्रगति के बावजूद भी व्यक्ति पूर्ण नहीं हो पाया है और न हो पायेगा—इस दौड़ में संस्कार भी होता है और विकार भी यह विकार ही प्रहसन का स्वाभाविक क्षेत्र है। सामाजिक और

ह्रास के काल में यह विकार अधिक पनपता है और साथ ही निर्माण की नयी योजनाओं के साथ भी कुछ संस्कार ऐसे जुड़ जाते हैं जो व्यर्थ और हास्यापद होते हुए भी छोड़े नहीं जाते। जब समाज में नये आदर्शों की बाढ़ आती है और मान-दण्ड परिवर्तित होने लगते हैं तो कुछ आवरण अपना सौन्दर्य खोकर हास्य का कारण बन जाते हैं। वे आवरण छोड़ सकना कुछ सरल नहीं होता और अनायास ही वे परिहास के कारण बन जाते हैं। सामाजिक संक्रान्ति के समय में पुरानी परम्पराएँ, मान्यताएँ अपनी सुन्दरता खो बैठती हैं—और इसीलिए व्यक्ति के माध्यम से उन पर हँस कर, उन्हें त्यागने का संकेत मिलता है। केवल एक व्यक्ति की दुर्बलताओं, कमज़ोरियों के स्थलों को लेकर स्वस्थ प्रहसनों की रचना सम्भव नहीं होती, क्योंकि उसमें व्यापकता, सर्वग्राह्यता और सार्वजनीनता नहीं आ पाती। अस्तु यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति के माध्यम से समाज का चित्रण हो। प्रहसन का पात्र व्यक्ति-विशिष्ट न होकर सामान्य हो; जिस पर समाज के संस्कार और विकार दोनों की स्पष्ट छाया हो। अतः यह निर्विवाद है कि सामाजिक जागरूकता, चेतना, सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा स्थलों, घटनाओं और क्षणों की पकड़ के अभाव में उस महत्वपूर्ण दायित्व की रक्षा सम्भव नहीं, जो एक प्रहसनकार वहन करता है। प्रहसन केवल हास्य नहीं—उसमें गहन अर्थ-व्यंजना भी अपेक्षित है।

संस्कृत प्रहसनों का प्रयोग और उनके स्वर और आत्मा का रूप इधर आकर बिल्कुल बदल गया है। अब वह विदूषकों का क्षेत्र नहीं रहा। क्योंकि सामाजिक कलाकार कभी भी असामान्य की गुत्थियों में नहीं उलझता। इसीलिए मानवी भावों का आरोपण करके जिस शुद्ध हास्य और व्यंग्य की अवतारणा अश्क ने की है, वह स्तुत्य

है। भारतेन्दुकाल में जिन प्रहसनों का ज़ोर था, उनमें सभी क्षेत्रों के 'नीम हकीमों' को पकड़ा गया था। परन्तु सुधारवादी स्वर ने उस काल के हास्य की उत्फुल्लता को कुछ भारी बना दिया था। अश्क के प्रहसनों पर फ्रान्सीसी और अंग्रेज़ी प्रभाव स्पष्ट है। क्योंकि उनके प्रहसनों के अन्तर्गत हास्य प्रदर्शन के अतिरिक्त चरित्र-चित्रण, मनोविश्लेषण और मनोवैज्ञानिक-विवेचन तथा मानवीय भावनाओं—अहं, गर्व, लोभ आदि जिन अन्य तथ्यों का उद्घाटन है, वह स्पष्ट ही पाश्चात्य प्रभाव के कारण है।

परिस्थिति, चरित्र या कथोपकथन आदि किसी भी उपकरण से उस क्षण, व्यक्ति या बात को उठाया जा सकता है जो हास्य-सृष्टि में नींव का काम देती है—अश्क ने तीनों को ही समन्वित रूप में कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। उन्होंने ने परिस्थितियों की असंगति का यदि चित्रण किया है तो बहुत ही व्यापक रूप में। वे परिस्थितियाँ समाज की हैं, उसके विभिन्न क्षेत्रों की हैं—किसी व्यक्ति की नहीं! चरित्र भी जब अपनी मानवीय सीमा का उल्लंघन करते हैं, तभी हास्यापद हो जाते हैं—सीमाओं का यह उल्लंघन कोई भी व्यक्ति ख़ास मनःस्थिति में क्षण भर के लिए करता है। अश्क ने उन क्षणों को बहुत ही सतर्कता और उनकी पूर्ण सजीवता से पकड़ा है। कथोपकथन द्वारा हास्य की सृष्टि और उसके कहने के लहजे इत्यादि की ओर नाटककार की गहरी दृष्टि है।

ये प्रहसन दिमाग़ी खोखलेपन और व्यर्थ हास्य के वाहक नहीं, वरन् इनमें सामाजिक सत्य द्वारा प्राप्त वह कसक है जो धीरे-धीरे असर करती है। परिहास के क्षणों को पा सकना और उनका रसास्वादन कर सकना आज के समय में दुर्लभ है। परन्तु अश्क ने सम्भवतः अपने

संघर्ष के गम्भीरतम क्षणों में, उन सूत्रों को पकड़ा है, जिनमें वस्तु-सत्य को उद्घाटित करती हुई हास्य की सरिता, सारे कूड़े करकट को अपनी छाती पर लिये, नीचे निर्मल, स्वच्छ जल लेकर बहती है ।

अश्क के हास्य में निर्मलता है - हास्य की सरिता के ऊपर तैरने वाले असंगति के कूड़े के साथ ही उसकी निचली तह में पावनता है। वह पानी गँदला नहीं, स्वच्छ है, क्योंकि अश्क के हास्य में घृणा, द्वेष या क्रोध का प्रवेश नहीं होता । उसमें विकृति या विद्रूप भी नहीं, कलुष या जुगुप्सा भी नहीं, वरन् उत्फुल्लता और आशा है। यह पावनता किसी कलाकार से तभी प्राप्त हो सकती है, जब जीवन की सारी विषमताओं को पीकर वह अपनी हास्य वृत्ति को जीवित रख सके और स्वयं पर हँस सकने की शक्ति रक्खे । अश्क जी के विविध अनुभव, विभिन्न क्षेत्रों की अनुभूतियाँ और विषमताओं ने उन्हें यह शक्ति प्रदान की है, जिसके उदाहरण उनकी कृतियों में प्रायः हैं—जिन्हें देखने की आवश्यकता है। वस्तु-सत्य की गहरी पकड़ ने ही उनके [illegible] को अतिरंजित होने से बचाया है । सम्भवतः यही कारण है कि उनके पात्रों, घटनाओं या परिस्थितियों में अस्वाभाविकता नहीं आने पाती—वे सारे व्यापार, समस्त चरित्र सामान्य की भूमि से अपना प्रगाढ़ गठ-बन्धन किये रहते हैं। यह गुम्फन ही उन्हें निर्जीव होने से बचाता है । इसका एक बहुत बड़ा कारण यथार्थ को देख सकने की योग्यता भी है, क्योंकि जागरूकता का आलम्बन वही है। अश्क एक यथार्थवादी लेखक हैं—इसीलिए अनुभवगत और दृष्टिगत जीवन की असंगति ने उन्हें हँसाया भी है। उसी वैयक्तिक अनुभूति को, वस्तु-विशेष को उन्होंने अपनी निजी मौलिकता द्वारा उदार और संस्कृत रूप में प्रस्तुत कर दिया है। इन प्रहसनों की परिहासमयता और उनके नीचे-नीचे चलने वाला व्यंग्य-

सूत्र—दोनों ही अपना कार्य-सम्पादन कर अपनी लक्ष्य-प्राप्ति में सफल होते हैं।

'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' में परिस्थित-जन्य हास्य का उत्कृष्ट चित्रण है। नाटकों के रंगमंचीय सृजन के समय जो मनोवैज्ञानिक विकार और असंयम विभिन्न पात्रों में आ जाता है, तथा उसके जो परिणाम हो सकते हैं, उसका विशद अनुभव लेखक को है। जिन्हें उसने बड़ी सच्चाई और सजीवता से व्यक्त कर दिया है। जिस सम्पूर्णता से उसने व्यक्तित्वों के विविध हास्यात्मक सूत्रों को पकड़ा है, उतनी ही माँसलता से उन्हें अभिव्यक्ति भी दी है। अधकचरे अभिनेताओं, प्रदर्शकों, निर्देशकों को उसने जिस खूबी के साथ चित्रित कर, उनके मनोवैज्ञानिक असंतुलन का अंकन किया है, वह अपने में बहुत ही यथार्थ और परिहास-जनक है। पहले तो नाटक को प्रदर्शित करने से पूर्व की गड़बड़ी, पात्रों का बीमार आदि पड़ जाना, उन एमेचर क्लबों की वास्तविक कठिनाई को प्रस्तुत करता है, फिर इधर-उधर व्यंग्य के संकेत भी हैं। जैसे उपयुक्त या अनुपयुक्त सभी व्यक्तियों का नायक बनने की अभिलाषा प्रगट करना; फिर पास इत्यादि प्राप्त करने के छोटे झगड़े; नाटक के प्रदर्शन में देरी होने के कारण पीड़ित जी वाला प्रसंग आदि सब अद्वितीय हैं, अपनी सजीवता और यथार्थता में बेजोड़! चुन्नीलाल का भीम बनना, प्राम्पटर का सो जाना, फिर हड़बड़ा कर पन्ने उलटना और ग़लत प्राम्पट कर जाना इत्यादि वास्तविकताओं से यह एकांकी भरपूर है। किशुन का स्टेज पर जाते वक्त मानसिंह को देखकर अकड़ कर प्रवेश करना और अपने स्वभाव के वशीभूत हो, अपने अभिनेता-रूप को भूल जाना बहुत ही स्वाभाविक, मनोविज्ञान-सम्मत और यथार्थ है। उसके बाद लगातार घबराहट में सम्वाद भूलते जाना उसी क्रम का

निश्चित परिणाम है। दयाराम, भगवन्त की परेशानियों की भी झलक दिखा देना उस सम्पूर्ण वातावरण को खोलकर रख देता है। अंत में पर्दा गिराते समय 'प्रयाग कलाकार समिति' के अक्षरों पर फ़ोकस डालकर बड़े पर्दे का निपात निहित व्यंग्य को पूर्णतः प्रकाशित कर जाता है।

'कइसा साब, कइसी आया'? एक मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि को खोलता है, जिसे बम्बइया भाषा के साधिकार प्रयोग द्वारा मनोरंजकता प्रदान की गई है। आया के चरित्र की एक दुर्बलता को बड़े ही सांकेतिक रूप से खोल कर रख दिया गया है। उससे भी अधिक साहब की वासनात्मक-दृष्टि का उद्घाटन हो जाता है, जो कुछ नहीं बोलता। आया अपने जीवन के क़िस्से सुनाती जाती है, अपनी वासनात्मक वृत्ति का पर्दा उठाती जाती है और साहब केवल दृष्टि डालकर अपनी भावनाओं को प्रदर्शित करते जाते हैं। साहब जिस द्विविधा, असमंजस, हीनता और उच्चता की भाव-लहरियों पर तिरता एक अनिर्णयात्मक अवस्था में है, उसका पूरा आभास कुछ संकेतों से मिल जाता है। कुछ गिने-चुने शब्द उसकी मानसिक तृष्णा को व्यक्त कर देते हैं। और अंत में जो व्यर्थता आया के चले जाने से आ जाती है, उसका संकेत देकर साहब के मनोभावों का पूर्ण स्पष्टीकरण हो जाता है। वह गिलास हाथ में लेकर शून्य बारजे की ओर तकता रह जाता है—क्योंकि वहीं आया को वह छोड़ कर गया था। इस चरित्र-प्रधान मनोवैज्ञानिक प्रहसन में आया और साहब के दुर्बल क्षणों का चित्रण है। परन्तु उस क्षण में जो असंगति है...वह अनायास ही छू जाती है और आया की भाषा और लहजा अपने पूरे वेग से गुदगुदाता चलता है।

चरित्र की ऐसी ही उलझन का दूसरा रूप 'बतसिया' में है। यहाँ वासना या ग्रन्थि नहीं, वरन् बतसिया के स्वाभिमानी, सत्यपरक, निश्छल

और स्पष्ट-वादी स्वभाव का चित्रण है। बतसिया जिस ईसाई समाज में पलती है उसका पूरा चित्रण, सम्पूर्ण वातावरण को लेकर प्रस्फुटित हुआ है। बतसिया एक निर्मल पात्र है जो स्वाभिमान से पूरित है। परिहास का जन्म परिस्थितियों के कारण होता है--एडविन को मूर्ख बनाना और चालबाज़ी से उस पर मुकद्दमा चलाना आदि जिस तरह से बुने गये हैं वे कल्पना और वास्तविकता के संतुलित दृश्य की पीठिका तैयार करते हैं। अन्त में जब सारा मामला ही उलट जाता है--जान और ल्यूक्स की सारी साज़िश का भंडाफोड़ हँसी में डूबो देता है तो बतसिया का भोलापन अभिभूत कर लेता है। एक चरित्र और परिस्थिति की इतनी सार्थक समाप्ति उच्च कलात्मक सूझबूझ की परिचायक है। जान, ल्यूक्स और कोनी की कथा तथा बतसिया का चरित्र—दोनों ही सम्पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं। नाटकीयता की रक्षा करते हुए, चरित्र विकास की स्वाभाविकता को अक्षुण्ण रखते हुए, जिस यथार्थता से अंतिम दृश्य का विधान हुआ है, वह बेजोड़ है। साथ ही ईसाई मध्य-वर्गीय समाज की आर्थिक, सामाजिक स्थिति का चित्रण करते हुए नाटककार अपने व्यंग्य का प्रयोग भी करता चलता है। और इस प्रकार तीन दृश्यों का सरलतम विधान उपस्थित करके तथा बतसिया ऐसा पात्र तथा हास्य से भरपूर कथात्मक शैली में विकसित स्वाभाविक अंत प्रस्तुत कर, अश्क ने हास्य रस का एक महान् एकांकी दिया है।

विवयन, कोनी, जान, ल्यूक्स, एडविन, डेविड और सब से ऊपर बतसिया—सभी तो जीवन्त पात्र हैं—उनकी चेष्टाएँ स्वार्थ मनोविकार, द्वेष जैसे सभी गहरी नींव पर आधारित हैं। मनोभावों में संस्कार बोलते हैं, चेष्टाओं में वर्तमान समाज की सहज देन का आभास है, स्वार्थ

वैयक्तिक विशेषता है। एक एकांकी में मात्र सम्वादों और घटनाओं के चयन द्वारा इतना व्यापक जीवन भर देना कलात्मकता की सीमा है—इतने व्यापक और विविध क्षेत्रों को छूते हुए भी नाटक की गति और प्रभाव में शिथिलता नहीं आती। मुख्य कथा और चरित्र तीव्र प्रवाह की भाँति बहते जाते हैं, छोटी-छोटी धारायें आकर मिलती जाती हैं। यहाँ तक कि व्यर्थ वकीलों की दशा की ओर भी लेखक व्यंग्य कर ही देता है—कथा से ही सूत्र निकाल कर! हिन्दी एकांकियों में अश्क का 'बतसिया' उच्चतम स्थान का स्वाभाविक अधिकारी है।

'सयाना मालिक' मालिक और नौकर की समस्या पर इधर-उधर छींटे फेंकता हुआ, व्यंग्य बन जाता है। बड़े ही घरेलू तरीके से पड़ोसियों की आपसी गपशप के बीच, हल्के फुल्के ढंग से मालिकों की परेशानी और नौकरों की नैतिकता पर रोशनी डालता हुआ यह एकांकी वर्तमान पर व्यंग्य करता है। नौकरी दिलाने वाली संस्था 'एम्प्लायमेंट ऐक्सचैंज' की काय-क्षमता और सजगता पर फबती कसता हुआ कथानक एक चोरी की घटना को लेकर, उसकी पुनरावृत्ति द्वारा, अपने मंतव्य की पूर्ति करता है। परन्तु कथानक में और वस्तु-विन्यास में उचित आनुपातिक समन्वय न होने के कारण यह एकांकी अपने प्रभाव में क्षीण हो गया है। फिर भी नौकर मालिक की समस्या और पड़ोसियों के आपसी सम्बन्धों की झाँकी तो प्रस्तुत कर ही देता है। घटना की आकस्मिकता द्वारा जिस हास्य की सृष्टि की कोशिश की गई है, वह चमत्कृत नहीं करती, पूरे वेग से नहीं गुदगुदाती।

'तौलिये' में सांस्कारिक प्रभाव से उत्पन्न एक विशेष मनोवृत्ति का उद्घाटन है। मधु के संस्कार उसे स्वच्छता, सफ़ाई के आदर्श की सीमा तक पहुँचा देते हैं। वसन्त अपने संस्कारों से वशीभूत उस आदर्श को

नहीं निभा पाता। वह लापरवाह है। अपने संस्कारों से युक्त मधु की सनक के साथ वह संतुलन नहीं स्थापित कर पाता। मधु के मनोविज्ञान, उसकी स्वच्छता के प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति और तद्जनित परिणामों में जितनी यथार्थता है, वह सूक्ष्म पर्यवेक्षण और गहन सम्पर्क से निःसृत है। वसन्त के चले जाने पर मधु में जो परिवर्तन आता है, वह आत्मालोचन का परिणाम है। जिसमें मधु अपनी सनक की अतिरंजना को देखती है, जिसके कारण वसन्त हीन-भावना से ग्रसित हो कुढ़ता है। और अन्त में वसन्त के आ जाने के बाद मधु की वही सनक, वे ही अभिजात-वर्गीय संस्कार फिर उठ खड़े होते हैं। शिकार को देखकर शिकारी की बाँह फड़कना आवश्यक ही है, चाहे वह शिकार करना छोड़ ही चुका हो। मनोवैज्ञानिक सत्य के इस पहलू को पकड़ कर सामान्य पति-पत्नी के जीवन का दृश्य यदि एक ओर हास्य की सृष्टि करता है तो दूसरी ओर मानव मस्तिष्क के सूक्ष्म असंतुलन का प्रकाशन!

और इसके बाद 'कस्बे की क्रिकेट क्लब का उद्घाटन' में भाषण के माध्यम से बहुत ही तीखा व्यंग्य चलती हवा से प्रभावित समाज में उगने वाली खोखली औपचारिकता पर है। वह औपचारिकता स्वार्थ पर खड़ी है। उद्घाटन करने की जो परम्परा इधर चल पड़ी है उस पर गहरा नश्तर रखते हुए नाटककार ने उन निरर्थक व्याख्यानों का नमूना भी पेश किया है जो मात्र लफ़्फ़ाज़ी हैं—यदि उनमें कुछ है भी तो स्वार्थ की बू। और इस प्रकार ख्याति लोलुप और चन्दा प्राप्त करने के लिए मूर्खों को फाँसने वाले—दोनों पर ही यह एकांकी चोट करता है।

'मस्केबाज़ों का स्वर्ग' बहुत कुछ पिछले संग्रह के एकांकी 'पक्का गाना' की वस्तु लिये है, परन्तु बुनावट में यह एकांकी बहुत ही कसा हुआ

और चुस्त है। सिने-क्षेत्र के विभिन्न पात्रों को उपस्थित कर, वहाँ के पोलेपन, जोड़-तोड़ और पैतरे बाज़ी के वातावरण का सहज और स्वाभाविक उद्घाटन इसमें है। इसकी कला कुछ उस कोटि की है जिसमें एक चित्र की विभिन्न तिरछी रेखाओं के मध्य तरह-तरह के हल्के रंग भर कर एक इम्प्रेशन (Impression) का आविर्भाव किया जाता है। अश्क ने भी वैसा ही प्रभाव डालने की कोशिश की है। सापले, पितलकर, परवाना, हरीश, जावेद कमला आदि को लेकर उस जीवन का एक सम्पूर्ण चित्र बना कर इस हास्यमय प्रभाववादी एकांकी का सृजन किया गया है। वहाँ की ज़िन्दगी में फैली हुई बेकारी, बेरोजगारी को अनायास ही वाणी मिल जाती है। चपरासी से लेकर डायरेक्टर तक चलने वाले व्यापारों—अभिनय के लिए प्रस्तुत एक्टर और एक्स्ट्रा, साहित्यिक और गीतकार, निर्देशन के लिए जोड़-तोड़ बैठाने वाले फिल्मकार, सैटिंग्ज़ का ख़ाका बनाने वाले ड्राफ़्टसमैन और सभी अपने अपने व्यक्तित्व और तरीके लेकर सामने आते हैं। बड़ी ही खूबी से अश्क ने अपने इस एकांकी में उस खोखली चमक-दमक को उघार कर सामने रख दिया है।

अश्क की कलागत खूबियाँ इस संग्रह में पूरे निखार पर हैं। भाषा और सम्वाद-संगठन पर तो उनका एकाधिकार है। किशुन, रामगुलाम, आया, बतसिया, लाला भानामल, पितलकर, सापले, जावेद, परवाना और सभी पात्र अपनी सजीवता से पूरित हैं। अश्क के हर पात्र का एक स्पष्ट रूप है—छोटे से छोटा पात्र भी उभर कर चमक जाता है—इसका सबसे मुख्य कारण यही है कि इन सबका अपना

लहजा है, टोन (tone) है, भाषागत विशेषताएँ हैं। एक ही प्रदेश के दो व्यक्तियों की भाषा में भी जो सूक्ष्म अन्तर होता है, उनके बोलने में जो सूक्ष्म अन्तर आ जाता है—उसे भी अश्क ने सम्पूर्ण सतर्कता से पकड़ा है। इसके मूल में सत्य यही है कि जन-जीवन से अश्क का गहरा सम्पर्क रहा और है।

कुछ अपवादों सहित इन नाटकों के संदर्भ में अश्क को महान् शैलीकार स्वीकार करना पड़ता है। 'सयाना मालिक' की कला उनके कुछ प्रथम एकांकियों से आगे नहीं बढ़ पाई है। परन्तु शैली और शिल्प का उत्कृष्टतम् उदाहरण 'बतसिया' और काफ़ी सघन 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' तथा 'तौलिये' हैं।

ये सारे ही एकांकी सोद्देश्य हैं। क्योंकि इनके पात्र व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ ही वर्गों का प्रतिनिधित्व भी करते हैं। लेखक की चोट व्यक्ति पर नहीं, समाज पर है। इतनी व्यापकता और व्यंजना के कारण ही यह कहा जा सकता है कि इन प्रहसनों में समाज स्वयं समाज पर हँसता है। और जो स्वयं पर हँस सकता है वही अपना निर्माण भी कर सकता है।

संकलन

[रंगमंच तथा नाटक सम्बन्धी अश्क जी के लेख]

मैं नाटक कैसे लिखता हूँ ?

इस 'कैसे' का उत्तर देने के लिए जब मैं पिछले कुछ वर्षों पर दृष्टि डालता हूँ तो पाता हूँ कि नाटक लिखने के लिए मैंने कोई खास कलाबाज़ी नहीं लगाई। जिस तरह मेज़ कुर्सी पर बैठ कर, कलम-दवात या फाऊण्टेनपेन की मदद से, मैंने कहानी या उपन्यास लिखे हैं, उसी तरह नाटक ! कविताओं का उल्लेख मैंने इसलिए नहीं किया कि कविताएँ मैंने कभी बैठ कर नहीं लिखीं। कमरे में टहलते, ट्राम, बस या गाड़ी में यात्रा करते, प्रातः-सायं घूमते अथवा सोने की कोशिश में बिस्तर पर करवटें बदलते मैंने अपनी अधिकांश कविताएँ लिखी हैं। अपनी एक प्रसिद्ध लम्बी कविता मैंने अटारी से प्रीत नगर तक—दस मील का लम्बा मार्ग, एक पुराने से इक्के पर तय करते हुए लिखी, किन्तु कहानी और इसी प्रकार नाटक मैंने प्रायः कमरे में मेज़-कुर्सी पर

बैठ कर लिखे हैं।

सुना है, स्व० प्रेमचन्द बिस्तर या फ़र्श पर पेट के बल लेट कर, तकिये के सहारे, लिखा करते थे। और जब कभी लिखने में तल्लीन हो जाते थे तो घुटनों के बल पाँव ऊपर उठा लेते थे और (निमग्नता की न्यूनता अथवा आधिक्य के अनुसार) टाँगें हिलाते रहते थे। मैं कभी फ़र्श पर बैठ कर या लेट कर कोई चीज़ नहीं लिख पाया। मेज़ (चाहे फिर वह सेकेंड हैंड छोड़ थर्ड-हैंड ही क्यों न हो) और कुर्सी (चाहे वह गद्दों के बदले लकड़ी की कठोर, खुरी सीट वाली ही क्यों न हो) मेरे लिए सदा क़लम-दवात की तरह लिखने की आवश्यक सामग्री में से रही है।

निम्न-मध्य-वर्ग में जन्म लेकर, यथेष्ट अभाव में दिन गुज़ारने पर भी, यह साहबी आदत मुझे कैसे पड़ गई, जब मैं इसका कारण खोजने के लिए अपने बचपन पर दृष्टि डालता हूँ तो अपनी सारी दिलचस्पी के साथ एक घटना मेरे मस्तिष्क में विद्युत सी कौंध जाती है।

मैं पाँचवीं या छठी में पढ़ता था, जब हमारा पुराना खण्डहर सा मकान बनना आरम्भ हुआ। यद्यपि प्रारम्भिक योजना केवल इतनी थी कि एक चौबारा और रसोई-घर गिरा कर नया बनवा लिया जाय, किन्तु हमारे पिता जी हर बात कुछ बड़े पैमाने पर करने में विश्वास रखते थे। उन्होंने सारे का सारा पुराना मकान गिरवा डाला और उसे फिर नये सिरे से दो मंज़िला बनवाने का निश्चय कर लिया और जहाँ माता जी ने हज़ार पाँच सौ का अनुमान लगाया था, वहाँ नौ हज़ार रुपया खर्च कर डाला और बाद में वर्षों पड़े ऋण उतारते रहे।

उन्हीं दिनों जब मकान बन रहा था, पिता जी एक साँझ माता जी

से पचास रुपये लेकर सीमेंट लेने बाज़ार गये। जब लौटे तो हमने देखा कि सीमेंट के बोरों के बदले उनके पीछे पीछे कुली दो मेज़ें चार कुर्सियाँ और एक बेंच उठाये हुए चले आ रहे हैं। मेज़ें सुन्दर थीं, किन्तु उनका गहरा हरा, मूँग के रंग का कपड़ा बिल्कुल उड़ गया था और वे उसके बिना सूनी-बुच्ची लगती थीं। कुर्सियों में से एक बेंत-विहीन थी और दूसरी का बेंत इतना नीचा था कि सीट में गढ़ा बन गया था। रहा बेंच, सो वह भी जीर्णोद्धार की अपेक्षा रखता था। पूछने पर पता चला कि मार्ग में एक स्थान पर नीलामी हो रही थी, वे सीमेंट के बोरों के बदले वह सब कचरा खरीद लाये थे।

मैंने देखा, समान बाहर रखवा कर वे बड़े गर्व-स्फीत स्वर में अपनी इस कार्य-पटुता की प्रशंसा चाह रहे थे। मरम्मत और पालिश के बाद वह सब सामान बैठक और आँगन में किस ढंग से सजाया जायगा, इसका सविस्तार व्योरा दे रहे थे और भीतर आधे बने आँगन में माँ बैठी सोच रही थीं कि पचास रुपये तो ये कबाड़खाने में ख़र्च कर आये, अब सीमेंट के लिए रुपया कहाँ से आयगा ?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि उस सामान की मरम्मत हो जाती तो वह बुरा न लगता, किन्तु जब मकान ने एक कमरे और रसोई-घर से बढ़ कर आठ दस कमरों का रूप धर लिया और घर घर का ऋण सिर पर चढ़ गया तो उन मेज़ों पर कपड़ा लगवाना तो दूर रहा, उन पर पालिश का एक हाथ तक न फिर सका। उन्ही दो मेज़ों में से एक मेरे और मेरे छोटे भाई के अधिकार में आई और एक दो वर्षों को छोड़ कर (जब छोटे भाई के नित नये झगड़ों से ऊब कर मैंने एक चौकी ही से मेज़ का काम लेना शुरू कर दिया) वह मेज़ सदा मेरे अधिकार में रही और मैं मेज़-कुर्सी पर बैठ कर काम करने

का कुछ ऐसा अभ्यस्त हो गया कि जब बी० ए० पास करने पर लाहौर गया और चालीस रुपया मासिक पर 'वन्दे मातरम्' के सम्पादन-विभाग का सदस्य कहलाने का गौरव प्राप्त करने लगा, चंगड़ मुहल्ले में दो अँधेरी सीलभरी कोठरियाँ भी मुझे किराये पर मिल गईं और अवकाश के समय कुछ लिखने की समस्या सामने आई तो उस मेज़ का वियोग बड़ा अखरने लगा। कोठरी के फ़र्श की दशा इस योग्य न थी कि उस पर बैठ कर या लेट कर कुछ लिखा जाय, इसलिए तुरन्त मेज़ लाने का निश्चय किया।

चालीस रुपया मासिक में से, घर का ख़र्च निकाल कर, इतने पैसे तो क्या बचते कि मैं नयी मेज़ खरीद सकता, किन्तु पहला वेतन मिलते ही जो पहला काम मैंने किया, वह यह था कि पिता जी के पद-चिन्हों पर चलते हुए, अनारकली के एक सेकेण्ड-हैंड डीलर से आबनूस की सेकेण्ड-हैंड मेज़-कुर्सी ख़रीद लाया। वह मेज़-कुर्सी इतनी सुन्दर थी कि उस सीलभरी अँधेरी कोठरी में विलासिता (लक्ज़री) से कम न लगती थी। उसी मेज़ पर मैं आठ वर्ष तक काम करता रहा और उसी पर बैठ कर मैंने अपने पहले नाटक लिखे।

ये पंक्तियाँ लिखते समय वह मेज़ फिर पाकिस्तान के किसी कबाड़खाने में चली गई और पुनः नयी चमक-दमक के साथ मेरे जैसे किसी विपन्न महत्वाकांक्षी लेखक की बाट देख रही है अथवा किसी गृहस्थ के चूल्हे का इंधन बन चुकी है, कौन जाने? मेरे बड़े भाई अनारकली छोड़ते समय अपने और मेरे सब फ़र्नीचर को वहीं छोड़ आये थे। मुझे दूसरे फ़र्नीचर की कभी याद नहीं आई, पर उस मेज़ की स्मृति बराबर हो आती है।

किन्तु मेज़-कुर्सी अपनी सारी सुख-सुविधा के बावजूद मुझे कभी

डेढ़ दो घंटे से अधिक बाँध कर नहीं बैठा रकीं। जब मैं यह सुनता हूँ कि अमुक लेखक ने एक ही बैठक में पूरी की पूरी कहानी या अमुक ने पूरा नाटक समाप्त कर डाला तो मुझे उनसे ईर्षा भी होती है और उनकी इस प्रतिभा पर विस्मय भी—सोचता हूँ, या तो वे अपनी योग्यता दिखाने के लिए गप हाँक देते हैं या फिर प्रेस के तगादों के कारण जैसा-तैसा बन पडता है, मन को जकड़ कर, लिख फेंकते हैं, अथवा वे सचमुच अभूतपूर्व प्रतिभा के स्वामी हैं। एक ही बैठक में, दो-चार बार तो अच्छी चीज़ लिखी जा सकती है, किन्तु सदैव कोई (अख़बारी नही, साहित्यिक) उत्तम रचना सृज देना मुझे असम्भव सा लगता है। स्वयं तो मैं दो चार अवसरों को छोड़ कर, एक ही बैठक में दस-वीस पंक्तियों या दो-एक पृष्ठों से अधिक कभी नहीं लिख पाया। यह बात नहीं कि प्लाट मेरे दिमाग़ में नहीं होता, या अस्पष्ट होता है, या विचारों का क्रम टूट जाता है, या कोई उपमा नहीं सूझती, बल्कि जब विचार प्रबल वेग से बह रहे होते हैं, उस समय भी कुछ ऐसी घबराहट होने लगती है कि मैं सहसा क़लम छोड़ कर कमरे में टहलने लगता हूँ या बातें करने लगता हूँ। कई बार ऐसा भी हुआ कि नाटक लिखते-लिखते मैं किसी दूसरे की कृति पढ़ने लगा और उसमें ऐसा तल्लीन हुआ कि मेरा नाटक अधूरा ही रह गया।

लेकिन अजीब बात यह है कि इस तरह बहते विचारों का क्रम तोड़ने पर भी कभी ऐसा नहीं हुआ कि मेरे विचार तितर-बितर हो गये हों और जब फिर मैंने क़लम उठाया हो तो उस क्रम को पकड़ न पाया होऊँ। सदा ऐसा होता है कि जहाँ से मैं लिखना छोड़ता हूँ, फिर आकर जब बैठता हूँ तो वहीं से प्रारम्भ कर देता हूँ। कई बार मैं वाक्य तक अधूरा छोड़ कर उठ जाता हूँ और जब दोबारा बैठता

हूँ तब वाक्य समाप्त करता हूँ। यही नहीं, कई बार जब वास्तव में विचारों का क्रम रुक जाने, कोई उपमा न सूझने या किसी अस्पष्ट विचार के स्पष्ट न होने अथवा कोई सम्वाद न सूझ पाने के कारण मैं लिखना छोड़कर उठता हूँ तो (मैंने प्रायः देखा है) जब फिर बैठता हूँ तो वह विचार, उपमा या सम्वाद स्पष्ट होकर काग़ज़ पर आ जाता है। लगता है जैसे प्रकट दूसरी बातों में लगे रहने पर भी मन निरन्तर उसी के सम्बन्ध में सोचता रहता है।

किन्तु इस प्रकार धीरे-धीरे लिखने पर भी कभी यह नहीं हुआ कि नाटक की जो पांडु-लिपि मैंने तैयार की, वही अन्तिम हो। मेरा स्वभाव है कि पहली बार नाटक का धुँधला सा रेखा-चित्र तैयार कर लेता हूँ। वास्तव में वह सब विकलता और घबराहट इसी पांडुलिपि की तैयारी में होती है। इसके पश्चात् मैं उसे निरन्तर उसे सँवारता-सुधारता रहता हूँ। इस काम में मेरा मन खूब लगता है। मैं निरन्तर काट-छाँट करता रहता हूँ और जब तक चीज़ प्रेस में नहीं चली जाती, मेरी संलग्नता में कमी नहीं आती। इस प्रकार कई नाटक मुझे दूसरी तीसरी से लेकर पाँचवी छठी बार तक भी लिखने पड़े हैं। पहला या दूसरा मसौदा तैयार करने पर मैं मित्रों को (यदि अवसर मिले तो) सुनाता भी हूँ और उनका परामर्श भी लेता हूँ, किन्तु प्रायः ऐसा भी हुआ है कि मित्रों की तुष्टि हो जाने पर भी मैं सन्तुष्ट नहीं हुआ और नाटक में संशोधन-परिवर्द्धन करता रहा। ऐसे नाटकों की कमी नहीं, जो रेडियो पर बड़ी सफलता से ब्राडकास्ट हुए, किन्तु जब मैंने पुस्तक के लिए उनकी अन्तिम पांडु-लिपि तैयार की तो उन्हें बिल्कुल बदल दिया।

परन्तु मैं नाटक कैसे लिखता हूँ ? इसके उत्तर में सम्भवतः इतना

कह देना ही पर्याप्त नहीं कि मैं मेज़-कुर्सी पर बैठ कर, काग़ज़-क़लमा दवात लेकर, दो या दस बैठकों में, दो या दस बार लिखता हूँ। यह शब्द 'कैसे' कदाचित् मुझसे नाटक के कलापक्ष के सम्बन्ध में भी कुछ न कुछ कहने का अनुरोध करता है।

मैं सर्व-प्रथम नाटक की थीम अर्थात् आधारभूत विचार खोजता हूँ अथवा यों कहिए कि नाटक का आधारभूत विचार पहले मेरे दिमाग़ में आता है। किन्तु कई वार ऐसा भी होता है कि इस आधारभूत विचार से पहले किसी मनोरंजक पात्र अथवा दृश्य को देख कर मेरे मन में उसे नाटक का अंग बनाने की इच्छा उत्पन्न होती है और यही इच्छा नाटक लिखने को प्रेरित करती है।

"म्हारा जंगल का सब साज सदा रहती है दूब हरी"

चरवाहों के इस सरस, स्वतन्त्र गीत ने मुझे 'चरवाहे' लिखने पर विवश किया। मैं रेडियो स्टेशन दिल्लो के देहाती विभाग में बैठा हुआ था, जब पंडित हृदयराम ने मुझे यह गीत अपने विशेष 'हरयाने' के स्वर में गाकर सुनाया। मुझ पर ऐसा प्रभाव हुआ कि इसी गीत को पृष्ठभूमि में रखकर मैंने 'चरवाहे' का सृजन किया।

वर्षा-ऋतु की एक भीगी-भीगी सुबह में ज़रा तड़के सब्जी मंडी दिल्ली के समीप रिज्ज पर सैर करने गया। बादल अभी-अभी छटे थे, पर बड़ी नन्हीं नन्ही फुहार पड़ रही थी। उस ठंडे, भीगे, प्रकाश-धुले धुँधलके में मैं 'पीर ग़ायब' के मज़ार पर चढा। नीचे बन के पेड़ जैसे अन्तर के उल्लास से झूम रहे थे और पहाड़ी पर ऊपर से नीचे को जाती हुई भीगी-भीगी सड़कें प्रातः के उजियाले में चाँदी की नन्हीं नन्हीं नदियाँ सी लग रही थीं। तभी सहसा मेरे मन में

विचार उठा कि ऐसा भी व्यक्ति हो सकता है जो इतने सौन्दर्य के निकट होते हुए भी उसका दर्शन न कर पाये और विद्युत की सी गति से मेरे एक मित्र की लड़की का मुख मेरी आँखों में कौंध गया, जो छः वर्ष रीढ़ की हड्डी के नासूर से बिस्तर पर बँधी पड़ी रही थी। वही लड़की 'चिलमन' की किरण बनी और उस सौन्दर्य को एक नज़र देखने के लिए छटपटाती रही।

फिर एक बार नाटक का विचार मेरे मन में 'ग़ालिब' के प्रसिद्ध शैर--कैद-हयात-ो-बन्दे-ग़म.....को पढ़ कर उत्पन्न हुआ। मैं जब भी 'ग़ालिब' का दीवान लेकर बैठता, प्रायः इस गज़ल को पढ़ता। बार-बार पढ़ने से यह शेर मेरे मन-मस्तक पर अंकित हो गया और फिर इसी ने जीवन की एक पूरी ट्रेजिडी का रूप धारण कर लिया।

शेरों, गीतों और सुन्दर दृश्यों के अतिरिक्त कई बार मनोरंजक पात्र भी मुझे नाटक लिखने की प्रेरणा देते हैं। 'अंजो दीदी' आज भी मेरे सम्मुख है। 'छठा बेटा' सौ पृष्ठ का यह नाटक मैंने एक पात्र ही को देख कर लिखा। इसी प्रकार 'भँवर' और 'चुम्बक' विभिन्न पात्रों के किसी न किसी नाटकीय पक्ष ही का चित्रांकन करते हैं।

विभिन्न वातावरण भी नाटक लिखने की प्रेरणा दे सकते हैं और मेरा विचार कुछ ऐसे नाटक लिखने का भी है जो किसी पात्र के बदले पूरे के पूरे वातावरण का चित्र उपस्थित करें।

उस स्थित में जब आधारभूत विचार बना बनाया मन में नहीं आता और प्रेरणा किसी अन्य वस्तु से होती है, मैं सदैव मूल-भूत विचार सोच निकालता हूँ। अब इस पर मैं नाटक की इमारत कैसे खड़ी करता

हूँ, इस विषय में कोई घड़ी-घड़ाई विधि मैं प्रस्तुत नहीं कर सकता। बचपन से मेरी प्रवृति नाटकों की ओर रही है, बचपन ही से मैंने द्विजेन्द्रलाल राय, आग़ा हश्र, बेताब, राधेश्याम, रहमत आदि के नाटक पढ़े हैं, कालेज और कालेज के पश्चात् अनेक नाटकों में अभिनय किया है और बाद में, जब मैं पुस्तकें ख़रीद सका, मैंने लगभग सभी प्रसिद्ध पश्चिमीय और पूर्वीय नाटककारों की रचनाएँ पढ़ी हैं, नाटक के आवश्यक उपादनों का परिचय पाया है, पुरातन और आधुनिक ढंग के नाटकों का अन्तर जाना है और अभ्यास से नाटक-कला पर अधिकार प्राप्त कर लिया है।

जब मैंने एफ़० ए० में एक बार एकांकी लिखने का प्रयास किया तो उस समय भारतवर्ष में एकांकी लगभग अप्राप्त था। कवि टैगोर के एक दो नाटक मेरे सम्मुख थे और पंडित सुदर्शन की एक कामेडी— आनरेरी मैजिस्ट्रेट। किन्तु उस समय मुझे नाटक के, विशेषकर आधुनिक नाटक के, आवश्यक अवयवों का ज्ञान न था, इसलिए बहुत कोशिश करने पर भी मैं सफल नाटक न लिख पाया। कुछ हास्यास्पद नामों के साथ एक हास्यास्पद सी वस्तु पर मैंने एक प्रहसन लिखा, किन्तु उस समय भी मुझे सन्तोष न हुआ और बाद में कई बार लिखे जाने पर भी वह इस योग्य न बन सका कि किसी संग्रह का अंग बने।

१६३६ में मेरी पहली पत्नी का देहान्त हो गया और इस अवसर पर कुछ कुप्रथाओं का मेरे मन पर इतना प्रभाव हुआ कि एक दिन जब मैंने समय काटने के लिए, अपने छोटे भाई के कोर्स का एकांकी-नाटक-संग्रह उठाया तो पहला नाटक पढ़ते ही एक घटना एकांकी का रूप धर कर मेरे सामने आ गई और मैंने दो दिन में 'लक्ष्मी का स्वागत' लिख डाला। कला की दृष्टि से यह आज भी मेरे श्रेष्ठ एकांकी नाटकों

में से है। उन्हीं दिनों मैंने पुराने ढंग का एक लम्बा ऐतिहासिक नाटक 'जय पराजय' लिखा जो बाद में कई विश्व-विद्यालयों के पाठ्य-क्रम में सम्मिलित हुआ। इसके बाद ज्यों-ज्यों मैं आधुनिक नाटक पढ़ता गया, मेरे मन में आधुनिक ढंग के अपेक्षाकृत छोटे नाटक लिखने की इच्छा प्रबलतर होती गई। कुछ इसलिए भी कि आजकल जन-साधारण के पास बड़े-बड़े नाटक देखने या पढ़ने का समय नहीं और कुछ इसलिए कि ये छोटे नाटक अधिक स्वाभाविक लगते हैं और वास्तविकता का भ्रम (Illusion of Reality) उत्पन्न कर देते हैं। यह भी ख्याल था कि व्यावसायिक रंगमंच के अभाव में, ये एमेचर रंगमंच पर आसानी से खेले जा सकेंगे। फिर कहानीकार होने के कारण भी मुझे छोटे नाटक पसन्द थे। एक कारण यह भी था कि मैं स्वयं उन दिनों कहीं नौकर न था और स्वतन्त्र रूप से काम करता था, मेरा सारा दिन मेरा अपना था और दिन भर केवल कहानियाँ सोचना और लिखना मेरे लिए असम्भव था। मन चाहता था कि जब कहानी लिखने की रुचि न हो तो कोई और चीज़ लिखी जाय। मेरे मस्तिष्क में कुछ ऐसी घटनाएँ सुरक्षित थीं जो कहानी के बदले नाटक के रूप में अपेक्षाकृत अच्छे ढंग पर उपस्थित की जा सकती थीं, ऐसे अवसरों पर मैं नाटक लिखने का प्रयास करता रहा।

उस समय से लेकर अब तक मैंने—सामाजिक, राजनीतिक, सांकेतिक, मनोवैज्ञानिक—सभी प्रकार के नाटक लिखे और पढ़े हैं। पश्चिम के प्रसिद्ध नाटककारों में मुझे इबसन, मैतरलिंक, स्ट्रिंडबर्ग, चेखव, सिमोनोव, ओ-नील, कॉफ़मैन, बेरी, प्रीस्टेल ने सदा नाटक लिखने की प्रेरणा दी है। मैंने शा, गाल्ज़वर्दी, पिरेन्देलो और दूसरे अमरीकी, जापानी और यूरूपीय नाटककारों को भी पढ़ा है। मैं उन

कलाकारों की महानता का कायल हूँ, किन्तु उनमें से अधिकांश को पढ़ कर आनन्द चाहे मुझे कितना भी क्यों न मिला हो, न जाने क्यों, स्वयं कोई नाटक लिखने की प्रेरणा नहीं हुई। सम्भवतः इसलिए कि शायद मेरी प्रकृति उनसे भिन्न है। चेख़व, मैतरलिंक या ओ-नील का नाटक मैं चाहे दूसरी या तीसरी बार ही क्यों न पढ़ूँ, सदा मुझे नाटक लिखने के लिए प्रेरित करता है और उसे पढ़ कर मेरे मन में नाटक के जो आधारभूत-विचार पक रहे होते हैं, उनमें से कोई न कोई अस्पष्ट विचार सर्वथा स्पष्ट हो कर नाटक का रूप धर लेता है। यहाँ प्रगतिशीलता अथवा प्रतिक्रियात्मकता का ज़िक्र नहीं, मैं केवल कला-पक्ष की बात कर रहा हूँ। नाटककार अथवा नाटक चाहे अगतिमूलक हो, पर कई बार उसकी कला का सौष्ठव मुझे मोह लेता है और स्वयं लिखने की प्रेरणा देता है।

मैंने जीवन की विभिन्नता का आभास पाया है और थोड़ा-बहुत अनुभव भी प्राप्त किया है। समाचार-पत्र के एक साधारण रिपोर्टर के रूप में जीवन-संघर्ष आरम्भ करके मैंने अध्यापक, अनुवादक, सम्पादक, वक्ता, विज्ञापन-विशेषज्ञ, वकील, रेडियो-आर्टिस्ट, अभिनेता और सिनारिस्ट की हैसियत से तरह-तरह के अनुभव प्राप्त किये हैं, तरह-तरह के लोगों से मिला हूँ और असंख्य दुखद अथवा सुखद घटनाएँ मेरे मस्तिष्क में सुरक्षित पड़ी हैं। जब भी अपने प्रिय नाटककारों को पढ़ते-पढ़ते (कई बार नये पास न होने के कारण पुराने ही पढ़ता हूँ) मुझे नाटक लिखने की प्रेरणा होती है तो उनमें से कई घटनाएँ, कई पात्र और कई दृश्य आप से आप मेरे आधारभूत विचारों में से किसी एक में फ़िट हो जाते हैं और नाटक तैयार हो जाता है। कोई भी पात्र, चाहे वह कितना भी मनोरंजक क्यों न हो, शायद ही कभी अपने

यथार्थ-रूप में नाटक का अंग बनता है। आधारभूत विचार की आवश्यकता के अनुसार उस पर रंग चढ़ जाता है।

कई बार वास्तव जीवन के कई पात्र मिल कर नाटक के एक पात्र में समा जाते हैं और यह सम्मिलन एक नये पात्र का सृजन कर देता है। भिन्न रसायनक द्रव्यों के समावेश से जो नया द्रव्य बनता है, जिस प्रकार उसमें उन सब के गुण-दोषों के साथ-साथ अपने स्वतन्त्र गुण-दोष भी होते हैं, उसी प्रकार यह नया पात्र भी उन पात्रों के चरित्रों का सार तो अपने में रखता ही है, परन्तु इसका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी होता है। 'भँवर' की प्रतिभा इस समावेश का प्रमाण है।

जब मैं दिल्ली में था तो मैंने तीन लड़कियों को देखा। उनमें दो हिन्दू थी और एक मुसलमान, परन्तु उनके जीवन की उलझन और व्यग्रता मुझे बड़ी हद तक एक सी लगी। कई बातें उनमें समान-रूप से विद्यमान थीं। उदाहरणतः

१. तीनों अभिजात वर्ग से सम्बन्ध रखती थीं।

२. तीनों बड़ी पढ़ी-लिखी थीं—एक इंग्लिस्तान हो आई थी, दूसरी एम० ए० में फ़र्स्ट रही थी, तीसरी उस समय एम० ए० में पढ़ रही थी। तीनों अपने को प्रबल बुद्धिवादी (Intellectual) मानती थीं।

३. तीनों ने अपने यौवनारम्भ में किसी ऐसे व्यक्ति से प्यार किया था जिसे वे भिन्न कारणों से अपना जीवन-साथी न बना पाई थीं।

४. उस पहले प्यार के पश्चात् जब तीनों ने विवाह किया तो अपने वैवाहिक जीवन को सफल न बना सकीं। वे अपने पतियों को छोड़ बैठी थीं अथवा वे उनसे अलग हो गये थे।

५. तीनों को उनकी इस वैवाहिक असफलता ने एक विचित्र

आकर्षण प्रदान कर दिया था। भव के विशाल वक्ष पर वे मुक्त लहरियों सी बह रही थीं। नयी लहरियों से मिलती थीं, कुछ पल साथ-साथ चलती थीं, फिर असन्तुष्ट होकर अलग हो जाती थीं— 'ग़ालिब' के उस पथिक की भाँति जिसके मुँह से कवि ने कहलाया है—

चलता हूँ थोड़ी दूर हर इक राहरौ के साथ
पहचानता नहीं हूँ अभी राहबर को मैं।

६. यद्यपि उनके इस विचित्र आकर्षण की आभा में कई शलभ अपने प्राण गँवा रहे थे, पर वे स्वयं भी अपने ही आप जलने वाली दीपशिखा की भाँति निरन्तर सुलग रही थीं।

इन तीनों पात्रों के समावेश ने 'भँवर' की 'प्रतिभा' का रूप धर लिया। प्रतिभा में उनके चरित्रों के सार-स्वरूप ये बातें तो आप पायेंगे ही, लेकिन इसके साथ ही उसका अपना अलग व्यक्तित्व भी, जो भँवर के चक्कर में घूमने वाली एक ऊर्म्मि का-सा है, विज्ञ पाठकों को अवश्य मिलेगा।

कई बार आधारभूत विचार कहीं से मिलता है और पात्र कहीं से और दोनों एक दूसरे मेंस मा जाते है।

सात-आठ वर्ष की बात है। एक दिन प्रातः मैं प्रीत नगर से लाहौर जा रहा था। 'प्रीत नगर' से 'अटारी' के अड्डे तक दस मील का मार्ग इक्के पर तै करना पड़ता है। 'लोपोके' से इक्के की पिछली सीट पर दो वृद्ध मुसलमान स्त्रियाँ आ सवार हुईं। एक बुढ़िया अपने बड़े लड़के के यहाँ किसी उत्सव पर लोपोके आई थी और उस समय वापस अपने छोटे लड़के के पास जा रही थी, जहाँ कि उन

दिनों वह रहती थी । अपनी बड़ी बहू के दुर्व्यवहार से तंग आकर, उत्सव को बीच ही में छोड़, लड़-लड़ा कर चली आई थी। दस मील की यात्रा का एक तिहाई भाग उसने अपने बड़े लड़के और बहू को गालियाँ देने में गुज़ारा—सास होने के नाते अपने बेटे और बहू से उसकी वही शिकायतें थीं, जो पुरातन काल से कर्कशा और ईर्षालु सासों को होती आई हैं—फिर जब उसके मन का उबाल कुछ शान्त हुआ तो उसने अपने दुख की कहानी आरम्भ की—किस प्रकार पति के मर जाने पर उसने स्वयं मेहनत-मजूरी करके अपने तीनों बच्चों को पाला......किस प्रकार बड़ा बेटा उस 'कमीनी' बड़ी बहू के आते ही अलग हो गया......किस प्रकार उसने अपनी आशाएँ मँझले पर केन्द्रित की, लेकिन उस बड़े को देख कर वह भी शादी के बाद अलग हो गया......और बुढ़िया कई मील तक मँझले लड़के और बहू को गालियाँ देती रही......अन्त में उसने अपने छोटे लड़के का ज़िक्र आरम्भ किया कि वह कितना सुशील, समझदार और आज्ञाकारी है। खुदा के बाद यदि वह किसी पर यकीन रखता है तो वह उसकी यही बुढ़िया माँ है। अपने छोटे लड़के के गुणों का बखान करते करते वृद्धा की वाणी की कर्कशता कुछ अजीब सी आर्द्र-तरल-स्निग्धता से बदल गई। अपनी मैली ओढ़नी से अपनी नाक साफ़ करते हुए अन्त में उसने सजल वाणी में कहा कि बस वह तो खुदा से दिन-रात यही दुआ करती है कि उसके बच्चे का घर बस जाय तो उसके मन को भी सुख-शान्ति मिले।

उसकी इस आकांक्षा को सुन कर मन-ही-मन मैं हँस दिया। सुख-शान्ति की वह उसकी हसरत ऐसी थी जिसका पूरा होना उस परिस्थिति में असम्भव सा था। 'निश्चय ही वह तीसरे बेटे का विवाह

करेगी', मैंने सोचा, 'उसी अरमान और चाव से, जिसके साथ उसने पहले दो पुत्रों का विवाह रचाया था, पर वह तीसरा पुत्र अपने भाइयों के पद्-चिन्हों पर न चलेगा, इसकी कोई सम्भावना न थी, क्योंकि उस बुढ़िया के रहते किसी बहू का उस घर में रहना उतना ही असम्भव था जितना किसी बहू के रहते उसका रहना। उसकी वह आकांक्षा मुझे मानव की उस छली आकांक्षा का प्रतीक लगी जो कभी पूरी नहीं होती।

उस यात्रा के बाद, इक्के का वह सफ़र, वह बुढ़िया, उसकी बातें, उसकी वह कभी न पूरी होने वाली आकांक्षा मेरे मन-मस्तिष्क में घूमती रही। मेरा विचार उस पर कहानी लिखने का था, परन्तु फिर अपने ही आस-पास मुझे कुछ ऐसे पात्र मिल गये, जिनकी आकांक्षा भी उस वृद्धा की भाँति कभी पूरी न होने वाली थी, तब मैंने उस मूलभूत विचार में ये नये पात्र फिट कर दिये और 'छठा बेटा' तैयार हो गया। पंडित बसन्तलाल और उस कर्कशा वृद्धा में, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो बहुत अन्तर न दिखाई देगा !

छठा बेटा माँ-बाप की (पंडित बसन्तलाल या उस कर्कशा वृद्धा की) उस आकांक्षा ही का प्रतीक है जो कभी पूरी नहीं होती।

पात्रों और आधारभूत विचार के अतिरिक्त कई बार भिन्न-भिन्न स्थानों पर देखे हुए दृश्यों अथवा घटनाओं का भी समावेश एक ही नाटक में हो जाता है। वास्तव में नाटक की क्रिया भिन्न रसायनक द्रव्यों के समावेश से नया द्रव्य तैयार करने ऐसी ही है। कहाँ-कहाँ से क्या-क्या मिलाकर एक नयी कृति तैयार हो जाती है, इसका ब्योरा

ठीक से देना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। कई बार किसी पात्र के कृत्य का कारण ढूँढने और पाने के प्रयास में उसका प्रकट रूप ही बदल जाता है और वह अपने आन्तरिक रूप में अथवा उस रूप में कि जिसमें मैं उसे देखता हूँ, नाटक का पात्र बन जाता है।

मुझे कभी किसी प्रसिद्ध नाटक का अनुवाद करने, विचार चुराने अथवा उसकी शैली का अनुकरण करने की इच्छा नहीं हुई। उन बड़े नाटककारों की नकल करना या उनके कोषों से विचारों के मोती चुराना मैं उनकी और अपनी प्रतिभा का अपमान समझता हूँ और जैसा कि स्ट्रिंडबर्ग ने एक स्थल पर लिखा है:—

Pushed ahead by the impression made on me by Materlink and borrowing his divining rod, I turned to my own sources.

[मैतरलिंक ने मुझ पर जो प्रभाव डाला उससे प्रेरणा प्राप्त कर और उस महान कलाकार से दृष्टि की गहराई उधार लेकर मैं अपनी ही अनुभूतियों की ओर झुका।]

मैं भी उन महान नाटककारों से प्रभावित होकर, अपनी ही अनुभूतियों से नाटक की सामग्री प्राप्त करता हूँ और 'आप-बीती' अथवा 'जग-बीती' को नाटकों का रूप देता रहता हूँ।

नौटंकी से पृथ्वी थीएटर्ज तक

रंगमंच सम्बन्धी मेरे अनुभव गत तीस-पैंतीस वर्षों के घेरे में फैले हैं और चाहे उतने विशाल और विभिन्न नहीं तो भी खासे मनोरंजक हैं। जब मैं सोचने-समझने लायक हुआ तो देश का व्यावसायिक रंगमंच अन्तिम साँसें ले रहा था। 'मदन थीएटर्ज़' 'मदन फिल्म कम्पनी' में परिवर्तित हो गया था और एलफ्रेड और विक्टोरिया कम्पनियाँ, क्षण-क्षण बढ़ती और चढ़ती बढ़िया को देख आतंकित और आशंकित तट के दीपों सी, अपना आलोक बखेर रही थीं। सिनेमा का तूफान प्रबल वेग से बढ़ा आ रहा था। रंगमंच के उन टिमटिमाते दीपों को कब वह अपने साथ बहा ले जाय, इसका कोई ठिकाना न था। हाँ, एमेचर रंगमंच मेरी युवावस्था तक बना हुआ था और मेरी स्मृतियाँ अधिकतर इसी से वाबस्ता हैं।

......चौरस्ती अटारी जालंधर की धर्मशाला में एक अँधेरी रात, जिसे एक गैस का प्रकाश आलोकित किये हुए था। उस आलोक में धर्मशाला के आंगन में बिछा एक तख्त और उस पर बहुमूल्य चमचमाते वस्त्रों में आवृत्त अभिनेताओं की मूर्तियाँ...जाने कोई नौटंकी थी अथवा रासलीला, कुछ भी याद नहीं। मैं तब बहुत छोटा था। केवल वह गैस का हंडा, वह तख्त, वे रंगीन वस्त्रों में वेष्टित अभिनेता और तख्त के इर्द-गिर्द बैठी भीड़ और पार्श्व-भूमि में चारपाइयों पर बैठे मेरे पिता और उनके मित्रों की धुंधली सी आकृतियाँ ही मुझे याद हैं। घर हमारा धर्मशाला के निकट ही था। मुझे न जाने किस काम से माँ ने पिता जी को बुलाने भेजा था। मैं बड़ी देर अपने आने का उद्देश्य भूले, वहीं खड़ा उन अभिनेताओं को देखता रहा था। वे क्या कह रहे थे, क्या गा रहे थे, मुझे कुछ स्मरण नहीं। इतना याद है कि अपना पार्ट समाप्त होने पर वे तख्त से उतर कर बायीं ओर धर्मशाला की एक कोठरी में चले जाते और वहाँ से नये कपड़े बदल आते थे......।

रंगमंच सम्बन्धी, यही पहला चित्र मेरी याद के पर्दे पर बना है। फिर बचपन ही के दिनों का एक और चित्र उभरता है।

'मुहल्ला मेहद्रुन्आं' के चौक की एक रात—कोई नौटंकी होने जारही थी। मैं कदाचित् चौथी-पाँचवीं में पढ़ता था, रात का खाना खाने के बाद, अपने बड़े भाई के साथ चौक पहुँचा था। हम ठीक स्थान पाने के लिए, समय से बहुत पहले, चौक के बीच में बिछे तख्त के निकट जा बैठे थे। पर कदाचित हम अपने शौक में घण्टों पहले जा पहुँचे थे। हम बैठे-बैठे थक गये थे, पर नौटंकी आरम्भ न हुई थी। इस बीच में कई बार दर्शकों में (जिनमें अधिकांश नगर के बेकार बेफ़िक्रे

और गुण्डे थे) जगह के लिए लड़ाई हुई और जब साढ़े दस-ग्यारह बजे जाकर अभिनेता रंगमंच पर आये और पहले बोल फ़िज़ा में गूंजे :

सुनो दोस्तो आज इक कहता हूँ मजमून
पहले पहल जब हिन्द में फैली थी ताऊन

और नगाड़ा किड़-तिर-किट कर बड़े विचित्र स्वर में बजा, तो हमने अपने आपको भीड़ में सबसे पीछे खड़े पाया।

हमारी विवशता, निराशा और खीझ की कल्पना की जा सकती है। न हमें अभिनेताओं की शक्लें ठीक से दिखाई दे रही थीं, न बोल सुनाई दे रहे थे (लाउड स्पीकर नाम की चीज़ को जालंधर तक पहुँचने के लिए अभी एक युग दरकार था) आँखें नींद से बोझल थीं, कनपटियाँ दुख रही थीं, और दादा की मारपीट का डर मन-मस्तिष्क को घेरे था। एक दो बोल सुनने के बाद हम चले आये।

चले तो आये, पर एक बोल के समाप्त होने पर जो नगाड़ा बजता था वह मुझे इतना अच्छा लगता था कि जी होता—केवल उसे सुनने के लिए रुके रहें। पर हम बहुत पीछे खड़े थे और नगाड़े के अतिरिक्त हमें कुछ भी दिखाई अथवा सुनाई न देता था और भाई साहब को नगाड़े में कोई दिलचस्पी न थी।

उस नगाड़े को निकट से बजते देखने और सुनने की साध शैशव से निरन्तर मेरे मन में बनी रही। हमारे बाज़ार में एक बढ़ई था—जमनाराम। वह जालन्धर में नौटंकी का बादशाह था। 'पूरन भगत' 'रूप बसन्त', 'श्रीमती मंजरी' और दूसरी कई नौटंकियों में भाग लिया करता था। कभी जब मौज में होता तो दो बोल भी सुनाता। आज मैं सोचता हूँ कि रंगमंच सम्बन्धी मेरे औत्सुक्य को बढ़ाने में

जमना का बड़ा हाथ है। इसमें सन्देह नहीं कि पूरी नौटंकी मैं कभी न देख सका। उसका बहुत रात को आरम्भ होना ही मेरे रास्ते की बड़ी बाधा रहा, पर मैंने जमना से उसके बोल सुनकर और एक-आध बार आध-एक घंटा नौटंकी देख कर ही उसे जान लिया। मैंने कभी नौटंकी नहीं लिखी, किन्तु जन-नाटक का जो भी रूप होगा, वह नौटंकी के अधिक निकट होगा, इसका मुझे पूरा विश्वास है, फिर चाहे वह इपटा (IPTA) के बैले* का रूप धरे अथवा कोई नया आकार अपनाये।

उन्हीं दिनों मैंने रासलीला भी देखी। जालन्धर में जन्माष्टमी के अवसर पर वृन्दावन की रासमंडलियाँ आती थीं और एक दो मन्दिरों में रासलीलाएँ होती थीं। हमारे दादा नौटंकी-नाटक आदि देखने के बड़े विरोधी थे, पर उनकी धर्म परायणता ने हमें रासलीला देखने की आज्ञा दे दी, इस शर्त पर कि हम घर जल्दी आ जायँ। एक रास की स्मृति मेरे मन में आज भी बनी है जिसमें एक तीखे नक्श वाला लड़का मालिन का बहुरूप भरता था और गाता था—

मालिन आयी बीकानेर से अजमेर से
तरकारी ले लो
सुआ बेचूं पालक बेचूं औ' बेचूं चौलाई
बीच बाज़ार के डंडी मारूँ तो मालिन की जाई
रे तरकारी ले लो

'डंडी मारूँ' गाते हुए वह कुछ इस तरह आँख मारता था कि दिल को कुछ होने सा लगता। रसिक लोग 'आय हाय' कर उठते और बार

*Ballet रहस

बार यह गाना सुनने का अनुरोध करते। मैं कई दिन तक घर आकर उसकी नकल करता रहा और उठते बैठते मालिन का पार्ट घर वालों को सुनाता रहा।

उसी मंडली में एक कमसिन लड़का जो कृष्ण का पार्ट करता था और बड़ा ही सुन्दर लगता था—तीखे नक्शा, साँवला सलोना मुख और मनमोहक स्वर--गाते-गाते वह अपनी जगह से उठता और दो एक तिरछे पग लेकर आधा दायरा बनाता हुआ नाच उठता। मुझे उसका वह नृत्य बड़ा अच्छा लगता था। मुझे अच्छी तरह याद है, उसके बाद मैं महीनों घर में उसी तरह नाचता रहा। आज भी वह नृत्य का टुकड़ा (इस बात के बावजूद कि मुझे नाच की ज़रा भी समझ नहीं) मुझे उसी तरह याद है।

रासलीला और नौटंकी वास्तव में खुले रंगमंच (Open Air Theatre) ही का रूप है। बीच मैदान में तख्त रख दिया जाता है और बड़े मजे से नौटंकी चलती है। नगाड़े वाला तख्त के नीचे या ऊपर बैठ जाता है और पात्र अपने बोल बोल कर चले जाते हैं। प्रकृत-दृश्य प्रस्तुत करने की वहाँ आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि दर्शकों की सूझ बड़ी सुगमता से महलों से लेकर रण-क्षेत्र तक की कल्पना कर लेती है और उस खुर्रे तख्त पर नहीं, बल्कि उनके ठीक सेटिंग में उनको रख कर उनके बोल सुनती है। प्रकृत-सेटिंग्ज़ (Natural Settings) नागरिक रंगमंचों के लिए है। गाँव के रंगमंच पर उनकी कोई आवश्यकता नही। दर्शक उनकी कल्पना कर सकते हैं। हाँ नौटंकी की भाँति खेले जाने वाले नाटकों का काव्य अथवा संगीत-मय होना नितान्त आवश्यक

है क्योंकि लम्बे लम्बे वाद-विवाद अथवा भाषण देहातियों को ऊबा दे सकते हैं। और नगाड़ा, वह तो नौटंकी की जान है। जैसा कि मैंने कहा, शैशव में मुझे नौटंकी के बोलों के बदले उस नगाड़े की आवाज़ ही अच्छी लगती थी। उससे पहले जब नगाड़े की कल्पना मैं करता तो मेरे कानों में इमाम नासुरुद्दीन की बड़ी मस्जिद के भीमकाय नगाड़ों की धमाधम का वह स्वर गूँज जाता था जो रमज़ान के महीने में, सूरज डूबते ही, रोज़ा खोलने के समय की सूचना देता हुआ, दशों दिशाओं को गुंजा दिया करता। एक ही तरह की धमाधम का ऊबा देने वाला कर्णकटु स्वर! पर नौटंकी का नगाड़ा, उसकी अजीब सी किड़-तिर-किट और धमाधम तो अनायास हृदय के तारों को झंकृत कर देती और मन उस समय की प्रतीक्षा करता जब बोल समाप्त हों और नगाड़ा बज उठे।

जहाँ तक नागरिक (ऐमेचर) रंगमंच का सम्बन्ध है, पहले-पहल मुझे उसका अनुभव १९२४ में हुआ। मैं उस समय आठवीं कक्षा में पढ़ता था। कई महीने से बीमार था, डाक्टरों ने जलवायु बदलने का परामर्श दिया था। पढ़ना-लिखना छुड़ाकर मेरे पिता मुझे पंजाब के एक गुमनाम से कस्बे 'दसुआ' में ले गये थे, जहाँ वे स्टेशन मास्टर थे। पिता जी रंगीले आदमी थे, स्वर भी उन्होंने बड़ा अच्छा पाया था। यद्यपि दूरस्थ स्टेशनों पर रहने के कारण वे कभी कला सम्बन्धी आयोजनों में किसी प्रकार का योग न दे सकते थे, पर यदि कहीं उन्हीं के स्टेशन के निकट कस्बे अथवा गाँव में कोई ऐसा आयोजन होता तो उसमें वे अवश्य योग देते। उनकी मैत्री वहाँ एक कलाल परिवार से थी, जिसमें दो एक बिगड़े अभिनेता भी थे। पिता जी के प्रोत्साहन और

आर्थिक सहायता से उन्होंने होली अथवा बसन्त के दिन (ठीक ठीक मुझे याद नहीं) 'बिल्व मंगल उर्फ़ सूरदास' खेलने का आयोजन किया। कला में मेरी रुचि से पिता जी भिज्ञ थे (मैं उन दिनों पंजाबी में कविता भी करता था) इसलिए उन्होंने मुझे साथ चलने का आदेश दिया।

मेरी प्रसन्नता का वार-पार न रहा। तबीयत मेरी कुछ वैसी ठीक न थी। सिर में हल्का सा दर्द भी था। पर नाटक देखने के चाव में मैंने उसका ज़िक्र तक न किया और पिता जी के साथ दो मील पैदल चल कर स्टेशन से कस्बे जा पहुँचा। नाटक उसी कलाल परिवार की बड़ी हवेली के अन्दर हो रहा था। बड़े खुले आंगन में दरी बिछी थी, जिसके पीछे प्रतिष्ठित लोगों के लिए कुर्सियाँ लगी थी। (थीएटर हालों में प्रतिष्ठित लोग आगे बैठते हैं। पर वहाँ यदि वे आगे बैठते तो दरी वाले कैसे देख पाते?) सामने एक बड़े चौड़े बरामदे में पर्दे लगा कर स्टेज बनाया गया था। पर्दे साधारण थे, पर उस समय मुझे वे बड़े ही सुन्दर लगे। उसके बाद एलफ्रेड और विक्टोरिया कम्पनियों के शानदार पर्दे भी देखे और पृथ्वीथीएटर्ज़ की भव्य सैटिंग्ज़ भी, पर जो पुलक उस पहले नाटक के कदाचित माँगे-ताँगे के पुराने-धुराने पर्दों को देखकर दुसूआ की उस शाम हुआ, वह कभी नहीं हुआ।

हम लोग काफ़ी पीछे बैठे थे। गैस की रोशनी से आँख पर ज़ोर पड़ता था अथवा यों ही मेरी तबीयत खराब थी, इतना याद है कि जब खेल आरम्भ हुआ तो मेरी बायीं कनपटी के ऊपर पीड़ा का भार कुछ अधिक बढ़ गया। और ज्यों-ज्यों खेल बढ़ता गया, पीड़ा भी तीव्रतर होती गई। पर इस डर से कि मेरे सिर-दर्द की बात सुनकर पिता जी पानी अथवा काँटे वाले के साथ मुझे घर न भेज दें, मैं अन्त तक दाँत पीसे, दम साधे, कनपटी दबाये बैठा नाटक देखता रहा।

साढ़े नौ बजे के लगभग खेल आरम्भ हुआ और दो-अढ़ाई बजे तक होता रहा। मुझे उसके दृश्य आज भी ऐसे याद हैं, जैसे मैंने उसे कल देखा हो, नाटक के कॉमिक (Comic) में निर्लोभ राम का पार्ट तो मुझे अत्यधिक रुचा। उसका पहले 'राम राम' कहते घूमना और फिर 'माया' नामवाली रूपवती नारी को देख कर उसी का नाम रटना और अन्त में निराश होने पर कहना—

दुबिधा में दोनों गये माया मिली न राम।
ठन ठन गोपाल रह गये बचा निर्लोभ राम॥

मेरे मानसपट पर ऐसा अंकित हुआ कि जब जालन्धर में सेवा समिति की ओर से 'बिल्व-मंगल' खेला गया तो गौरिक वस्त्र धारण किये, सिर पर गेरुआ कनटोप लगाये, मैं ही निर्लोभ राम बना। मेरा बहुरूप और अभिनय इतना सफल रहा कि नाटक के अन्त पर पिता जी ने, जो सौभाग्य से वहीं थे और नाटक देखने चले आये थे, मुझसे पूछा कि मैं कौन सा पार्ट कर रहा था? और जब मैंने कहा कि निर्लोभ राम का! तो उन्हें विश्वास न आया कि उनका यह चुप्पू बेटा जिसके मुँह में उनके सामने ताला लग जाता था और जो उनके सामने बात करना तो दूर, आँख भी न उठाता था, लोगों को इतना हँसाता रहा है।

जालन्धर में उस समय सेवा समिति और महावीर दल में बड़ी स्पर्धा थी। न केवल यह कि यदि एक संस्था कोई नाटक करती तो दूसरी भी अवश्य करती, बल्कि दोनों इस बात की भी चेष्टा करतीं कि जैसे भी सम्भव हो, दूसरी का नाटक असफल कर दिया जाय।

सेवा समिति के 'बिल्व मंगल' में भी महावीर दल ने गड़बड़ डालने का प्रयास किया था, पर समिति के प्रधान तब जालन्धर के एक प्रसिद्ध डाक्टर थे । दाखिला पासों से हुआ था, इसलिए नाटक निर्विघ्न समाप्त हो गया। पर समिति के कुछ सदस्यों के हृदय में दल की उस कुचेष्टा की कसक अवश्य बनी रही और जब कुछ महीनों बाद महावीर दल ने सनातन-धर्म-सभा में अपना नाटक 'अभिमन्यु वध' किया तो उन्होंने नाटक-स्थल के पड़ोस में रहने वाले कपूरथला के टिक्का साहब को भड़का दिया, और उन्होंने डिप्टी कमिश्नर से मिलकर 'निषेध-पत्र' ले लिया कि वहाँ नाटक होने से आधी रात तक शोर होता है और उनकी नींद खराब होती है।

यदि टिक्का साहब की नींद में खलल न आता तो नाटक तीन दिन अवश्य होता पर तब वह केवल एक ही दिन हुआ। मैं तब महावीर दल का स्वयं-सेवक बन गया था। (वास्तव में अवसर के अनुसार मैं कभी महावीर दल और कभी सेवा-समिति का सदस्य बन जाता था।) उस नाटक का और तो कुछ मुझे अब स्मरण नहीं रहा, पर अभिमन्यु और उत्तरा के अभिनय की स्मृति आज तक बनी हुई है। पहला अभिनय जितना प्रभाव शाली हुआ, दूसरा उतना ही हास्यास्पद । अभिमन्यु की भूमिका में लाल बाज़ार का एक युवक वस्त्र-विक्रेता 'निक्का' काम करता था। नौटंकी का नगाड़ा बजाने में वह दूर निकट अपना सानी न रखता था, बांसुरी ऐसी बजाता कि मन अनायास खिंचा चला जाता । उसने अभिमन्यु का अभिनय इतना सुन्दर किया कि आज तक मुझे याद है । समिति वाले भी शोर मचाना भूल गये। रही उत्तरा, तो उसकी भूमिका में जो लड़का काम करने जा रहा था, वह ऐन मौके पर लापता हो गया। या तो वह

किसी बात से रूठ गया (लड़कियों का पार्ट करने वाले लड़कों की अदाओं का क्या कहना !) या बीमार हो गया। ठीक बात मुझे याद नहीं, इतना स्मरण है कि नाटक आरम्भ होने के कुछ ही क्षण पहले इलावलपुर का एक अभिनेता आगे लाया गया, जिसके सम्बन्ध में पता चला कि इलावलपुर नाटक समिति का बड़ा प्रतिष्ठित सदस्य है और तीन-चार बार उत्तरा की भूमिका में उतर चुका है। वह इलावलपुर में न जाने धोबी था या दर्ज़ी, साइकिल पर ही वह ग्यारह मील तय कर नाटक देखने आया था। दाढ़ी उसकी कुछ बढ़ी हुई थी, पर हजामत बनाने का समय न था। उसने विश्वास भी दिलाया कि ऐसा मेकअप करेगा कि दाढ़ी का पता तक न चलेगा। किन्तु पहली बार ही जब वह स्टेज पर आया तो दर्शकों ने (जिनमें सेवा-समिति के सदस्य टिकेट लेकर आये हुए थे) गगन-भेदी ठहाके से उसका स्वागत किया। अचकचा कर उसने झट घूँघट बढ़ा लिया, जिस पर फिर एक ठहाका पड़ा। उस 'कुशल' अभिनेता की यह अदा भुलाये नहीं भूलती। फिर अभिमन्यु-वध की सूचना जब रणिवास में पहुँची और सुभद्रा विलाप करने लगी तो उत्तरा भी घूँघट काढ़े स्टेज पर आ खड़ी हुई। बड़ी देर तक वह मौन, सिर झुकाये, घूँघट काढ़े खड़ी रही ! फिर उसे विचार आया कि उसे भी कुछ-न-कुछ शोक-प्रदर्शन करना चाहिए। तब उसने बड़े ही भद्दे ढंग से झुके-झुके मुड़कर सिर को घूँघट समेत एक ओर झटक दिया और कई क्षण उसी मुद्रा में खड़ी रही। फिर भद्दे ढंग से दूसरी ओर झटक दिया और दृश्यान्त तक उसी मुद्रा में खड़ी रही। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इलावलपुर के उस महान अभिनेता के इस अद्वितीय अभिनय की दाद दर्शकों ने, उस शोक के क्षण में भी, दो बार हँस कर दी।

एक तो उत्तरा की भूमिका में काम करने वाले अपने अभिनेता के न आने का ग़म, दूसरे इलावलपुर के उस महान अभिनेता की लम्पटता का क्षोभ (जिसने मेकअप करने से पहले पारिश्रमिक के रूप में पाँच रुपये हथिया लिये थे।) तीसरे सेवा समिति के सदस्यों द्वारा नाटक को बन्द करा देने का क्रोध—महावीर दल एक वर्ष तक इस कसक को पालता रहा। अन्त को जब सेवा समिति ने बड़ी तैयारी के बाद रेलवे के प्रसिद्ध मंडुवे में 'कृष्ण जन्म' नाटक खेला तो महावीर दल ने अपना बदला चुकाया।

मुझे 'कृष्ण जन्म' की असफलता का बड़ा दुख हुआ। जाने कौन-सी व्यावसायिक कम्पनी टूटी थी कि उसका एक कुशल अभिनेता जालन्धर आया। सेवा समिति ने उसे अपने अभिनेताओं को ट्रेन करने के लिए रख लिया। उसके आगमन की चर्चा सुनकर मैं फिर सेवा समिति का सदस्य बन गया। कदाचित परीक्षाओं के दिन थे, प्रतिदिन रिहर्सलों में जाना और खेल में भाग लेना तो कठिन था, पर मैंने यह सोच लिया कि कोई छोटी-मोटी सेवा अपने ऊपर लेकर नाटक अवश्य देखूँगा। सेवा समिति के (महावीर दल के भी) अधिकांश सदस्य दूकानदार थे। अपनी दुकानें बढ़ाकर और खाना आदि खाकर वे रिहर्सलों में आते और बारह बजे रात तक रिहर्सलें चलतीं। मैंने दो एक रिहर्सलें देखी थीं और वह नया अभिनेता जिस प्रकार नाटक का निर्देशन कर रहा था, उसे देखकर नाटक को देखने की उत्सुकता और भी प्रबल हो गई थी।

किसी बात से रूठ गया (लड़कियों का पार्ट करने वाले लड़कों की अदाओं का क्या कहना !) या बीमार हो गया। ठीक बात मुझे याद नहीं, इतना स्मरण है कि नाटक आरम्भ होने के कुछ ही क्षण पहले इलावलपुर का एक अभिनेता आगे लाया गया, जिसके सम्बन्ध में पता चला कि इलावलपुर नाटक समिति का बड़ा प्रतिष्ठित सदस्य है और तीन-चार बार उत्तरा की भूमिका में उतर चुका है। वह इलावलपुर में न जाने धोबी था या दर्ज़ी, साइकिल पर ही वह ग्यारह मील तय कर नाटक देखने आया था। दाढ़ी उसकी कुछ बढ़ी हुई थी, पर हजामत बनाने का समय न था। उसने विश्वास भी दिलाया कि ऐसा मेकअप करेगा कि दाढ़ी का पता तक न चलेगा। किन्तु पहली बार ही जब वह स्टेज पर आया तो दर्शकों ने (जिनमें सेवा-समिति के सदस्य टिकेट लेकर आये हुए थे) गगन-भेदी ठहाके से उसका स्वागत किया। अचकचा कर उसने झट घूँघट बढ़ा लिया, जिस पर फिर एक ठहाका पड़ा। उस 'कुशल' अभिनेता की यह अदा भुलाये नहीं भूलती। फिर अभिमन्यु-वध की सूचना जब रणिवास में पहुँची और सुभद्रा विलाप करने लगी तो उत्तरा भी घूँघट काढ़े स्टेज पर आ खड़ी हुई। बड़ी देर तक वह मौन, सिर झुकाये, घूँघट काढ़े खड़ी रही ! फिर उसे विचार आया कि उसे भी कुछ-न-कुछ शोक-प्रदर्शन करना चाहिए। तब उसने बड़े ही भद्दे ढंग से झुके-झुके मुड़कर सिर को घूँघट समेत एक ओर झटक दिया और कई क्षण उसी मुद्रा में खड़ी रही। फिर भद्दे ढंग से दूसरी ओर झटक दिया और दृश्यान्त तक उसी मुद्रा में खड़ी रही। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इलावलपुर के उस महान अभिनेता के इस अद्वितीय अभिनय की दाद दर्शकों ने, उस शोक के क्षण में भी, दो बार हँस कर दी।

एक तो उत्तरा की भूमिका में काम करने वाले अपने अभिनेता के न आने का ग़म, दूसरे इलावलपुर के उस महान अभिनेता की लम्पटता का क्षोभ (जिसने मेकअप करने से पहले पारिश्रमिक के रूप में पाँच रुपये हथिया लिये थे।) तीसरे सेवा समिति के सदस्यों द्वारा नाटक को बन्द करा देने का क्रोध—महावीर दल एक वर्ष तक इस कसक को पालता रहा। अन्त को जब सेवा समिति ने बड़ी तैयारी के बाद रेलवे के प्रसिद्ध मंडुवे में 'कृष्ण जन्म' नाटक खेला तो महावीर दल ने अपना बदला चुकाया।

मुझे 'कृष्ण जन्म' की असफलता का बड़ा दुख हुआ। जाने कौन-सी व्यावसायिक कम्पनी टूटी थी कि उसका एक कुशल अभिनेता जालन्धर आया। सेवा समिति ने उसे अपने अभिनेताओं को ट्रेन करने के लिए रख लिया। उसके आगमन की चर्चा सुनकर मैं फिर सेवा समिति का सदस्य बन गया। कदाचित परीक्षाओं के दिन थे, प्रतिदिन रिहर्सलों में जाना और खेल में भाग लेना तो कठिन था, पर मैंने यह सोच लिया कि कोई छोटी-मोटी सेवा अपने ऊपर लेकर नाटक अवश्य देखूँगा। सेवा समिति के (महावीर दल के भी) अधिकांश सदस्य दूकानदार थे। अपनी दुकानें बढ़ाकर और खाना आदि खाकर वे रिहर्सलों में आते और बारह बजे रात तक रिहर्सलें चलतीं। मैंने दो एक रिहर्सलें देखी थीं और वह नया अभिनेता जिस प्रकार नाटक का निर्देशन कर रहा था, उसे देखकर नाटक को देखने की उत्सुकता और भी प्रबल हो गई थी।

मैंने उस नाटक में अपने जिम्मे क्या सेवा ली, यह तो मुझे याद

नहीं, किन्तु जब नाटक आरम्भ हुआ तो मैं हाल के अन्दर था, इतना मुझे याद है। उस नाटक का इतना प्रचार हुआ था और उस मंडुवे में किसी अच्छे नाटक को हुए इतने दिन हो गये थे कि उस दिन मंडुवा दर्शकों से खचाखच भर गया। मैंने उसी मंडुवे में न्यु एलफ्रेड अथवा विक्टोरिया, किसी व्यावसायिक कम्पनी का खेल भी देखा था और मुझे याद है कि 'कृष्ण जन्म' के दिन उससे कहीं अधिक भीड़ थी।

समिति के पास पर्दे काफ़ी थे, किन्तु उस नाटक के लिए कुछेक नये भी बनवाये गये थे। नियत समय से थोड़ी ही देर बाद नाटक आरम्भ हो गया और बड़ी अच्छी गति से बढ़ने लगा। पात्रों का अभिनय, निर्देशन, साज-सामान सब बहुत अच्छा था। पहले दृश्य पर जब पर्दा गिरा तो मै मन्त्र-मुग्ध रह गया। उस दृश्य की छोटी से छोटी डिटेल (Detail) आज भी मुझे याद है—जब कंस को पता चला कि उसकी बहन के यहाँ आठवें बच्चे ने जन्म लिया है तो हिंसा और क्रोध से भरा वह जेलखाने आया और उसने देवकी के साथ चिमटी लड़की को उठा लिया और जब उसे पता चला कि आठवाँ बच्चा लड़का नहीं, लड़की है तो एक वीभत्स ठहाका मारते हुए उसने उस बच्ची को पत्थर पर दे पटका। तभी स्टेज पर गहरा मटियाला सा लाल अँधेरा छा गया, जिसमें कंस की सूरत और भी डरावनी हो गयी, पर ज्यों ही कंस ने लड़की को पत्थर पर पटका कि वह ग़ायब हो गई और एक विद्युत-शिखा सी जैसे रंगमंच के सीने को चीरती हुई ऊपर को विलीन हो गयी। और आकाश वाणी हुई .....लेकिन क्या आकाश वाणी हुई, यह किसी ने नहीं सुना। हाल में एकदम भारी कोलाहल उठ खड़ा हुआ और मारपीट होने लगी... मंच पर देवकी सर झुकाये बैठी थी। वसुदेव चकित खड़े थे। कंस बड़ी भयावनी मुद्रा

में पीछे को दोनों हाथ उठाये टेढ़ा मुड़ा उस विद्युत-शिखा को जाते देख रहा था—निर्देशक ने, जो स्वयं कंस की भूमिका में काम कर रहा था. बड़ी ही कुशलता से मंच पर यह दृश्य सेट किया था—एकदम प्रभाव-शाली और चमत्कार-पूर्ण.....किन्तु आकाशवाणी क्या हुई ? यह किसी ने नहीं सुना। पर्दा एक बार गिरा, फिर उठा और क्षण भर के लिए उसी दृश्य को दर्शकों के सामने प्रस्तुत कर फिर गिर गया।

किन्तु इस बीच में मारपीट अगली कुर्सियों तक आ गई। हाल में सब के सब खड़े हो गये। यह कोलाहल और मारपीट घण्टों चलती रही। दूसरे अंक का पर्दा उठा। किन्तु अभिनेता ने क्या कहा किसी ने नही सुना। पर्दा फिर गिर गया और फिर जो गिरा तो फिर नहीं उठा। दूसरे दिन पता चला कि महावीर दल को अपने उस पुण्य कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई थी और उस पुण्य के फलस्वरूप दोनों ओर से दो एक सदस्यों के सिर फट गये थे और आठ-दस दर्शक अस्पताल जा पहुँचे थे।

इसके बाद मैंने स्वयं भी दो तीन नाटकों में पार्ट किया। एमेचर रंगमंच पर लड़कियों की भूमिका में लड़कों के उतरने से कैसी मनोरंजक और हास्यपद घटनाएँ हो जाती थीं और पंजाब में पहले-पहल कब मिश्रित कास्ट (Mixed Cast) आरम्भ हुई और लड़कियों का पार्ट सचमुच लड़कियों ने ही किया, इस सिलसिले में भी मुझे बड़े दिलचस्प अनुभव प्राप्त हुए। कुछ का उल्लेख मैंने अपने उपन्यास 'गिरती दीवारें' में किया भी है*। उन्हें यहाँ न दोहरा कर एक मनोरंजक घटना या दुर्घटना का यहाँ उल्लेख करता हूँ।

गिरती दीवारें—६६ वें से ७१ वें परिच्छेद तक !

मैं आठवीं या नवीं में पढ़ता था और भाई साहब कालेज जाने लगे थे, जब उन्होंने बताया कि कालेज के वार्षिकोत्सव पर 'महाभारत' नाटक होगा। कालेज हमारे घर से बड़ी दूर, नगर के बाहर, लगभग तीन साढ़े-तीन मील था और साइकिल घर में थी नहीं। हमारे दादा उतनी दूर जाने की आज्ञा न देते थे। मुझे नाटक का इतना शौक था कि मैंने झूठ बोल कर उनसे आज्ञा ले ली। नाटक के एक दिन पहले मैंने उनसे कहा कि नाटक देखने के लिए जाना आवश्यक है; कालेज का वार्षिकोत्सव है, हमारा स्कूल भी क्योंकि उसी संस्था के अधीन है, यदि हम न जायेंगे तो जुर्माना हो जायगा।

दादा गर्जे, "कैसे जुर्माना हो जायगा, करें जुर्माना। मैं जाकर उनसे पूछूँगा कि छोटे-छोटे बच्चे कैसे इतनी रात में इतनी दूर जा सकते हैं।"

हम घबराये कि कहीं सचमुच ही दादा जी स्कूल न चले जायँ, पैंतरा बदल कर मैंने कहा, आपके डर से जुर्माना न करेंगे तो मन में खार खाये बैठे रहेंगे और परीक्षा में फेल कर देंगे, यों मास्टर ने साइकिल वाले लड़कों की ड्यूटी लगा दी है कि जिनके पास साइकिल नहीं उन्हें अपनी साइकियों पर लायें। मैं भाई साहब के एक मित्र के साथ चला जाऊँगा। वही मुझे छोड़ भी जायेंगे।

दादा ने भाई साहब से पूछा। मेरी और भाई साहब की मिली-भगत थी। उन्होंने मेरी बात का समर्थन किया और दादा ने अनिच्छा-पूर्वक आज्ञा दे दी।

गये हम पैदल ही। पर भाई साहब ने कहा था कि आते समय बहुत से लड़के साइकिलों पर आते हैं, किसी न किसी की साइकिल पर शहर तक आ जायेंगे। साढ़े-आठ नौ बजे नाटक आरम्भ हुआ। कालेज के बाहर तख्त जमाकर और भंगियों के एक क्लब से पर्दे उधार

मैं आठवीं या नवीं में पढ़ता था और भाई साहब कालेज जाने लगे थे, जब उन्होंने बताया कि कालेज के वार्षिकोत्सव पर 'महाभारत' नाटक होगा। कालेज हमारे घर से बड़ी दूर, नगर के बाहर, लगभग तीन साढ़े-तीन मील था और साइकिल घर में थी नहीं। हमारे दादा उतनी दूर जाने की आज्ञा न देते थे। मुझे नाटक का इतना शौक था कि मैंने झूठ बोल कर उनसे आज्ञा ले ली। नाटक के एक दिन पहले मैंने उनसे कहा कि नाटक देखने के लिए जाना आवश्यक है; कालेज का वार्षिकोत्सव है, हमारा स्कूल भी क्योंकि उसी संस्था के अधीन है, यदि हम न जायेंगे तो जुर्माना हो जायगा।

दादा गर्जे, "कैसे जुर्माना हो जायगा, करें जुर्माना। मैं जाकर उनसे पूछूँगा कि छोटे-छोटे बच्चे कैसे इतनी रात में इतनी दूर जा सकते हैं।"

हम घबराये कि कहीं सचमुच ही दादा जी स्कूल न चले जायँ, पैंतरा बदल कर मैंने कहा, आपके डर से जुर्माना न करेंगे तो मन में खार खाये बैठे रहेगे और परीक्षा में फेल कर देंगे, यों मास्टर ने साइकिल वाले लड़को की ड्यूटी लगा दी है कि जिनके पास साइकिल नही उन्हें अपनी साइकियों पर लायें। मैं भाई साहब के एक मित्र के साथ चला जाऊँगा। वही मुझे छोड़ भी जायेंगे।

दादा ने भाई साहब से पूछा। मेरी और भाई साहब की मिली-भगत थी। उन्होने मेरी बात का समर्थन किया और दादा ने अनिच्छा-पूर्वक आज्ञा दे दी।

गये हम पैदल ही। पर भाई साहब ने कहा था कि आते समय बहुत से लड़के साइकिलों पर आते हैं, किसी न किसी की साइकिल पर शहर तक आ जायेंगे। साढ़े-आठ नौ बजे नाटक आरम्भ हुआ। कालेज के बाहर तख्त जमाकर और भंगियों के एक क्लब से पर्दे उधार

लेकर मंच तैयार किया गया था, लड़के बाहर खुरी धरती पर बैठे थे, पीछे कुछ बेंचें और कुर्सियाँ लगा दी गयी थीं। मैं और भाई साहब काफ़ी आगे बैठे थे। नाटक का कॉमिक भाग बहुत अच्छा था। एक नकल मुझे अभी तक याद है—

[कक्षा लगी है। लड़के शोर मचा रहे हैं कि अध्यापक आ जाता है। लड़कों को शोर मचाते देख कर तिलमिलाता है और कुर्सी पर बैठते ही उन्हें डाँटता है कि वे कुछ पढ़ते नहीं और उन्हें कुछ नहीं आता कि वह अभी उनकी परीक्षा लेगा और पूछता है :]

अध्यापक : बताओ ! जी. आई. आर. एल गिरल (Girl) गिरल के माने ?

[सभी लड़के हाथ उठाते हैं। कुछ दोनों हाथ उठाते हैं। टीचर जल्दी में, जिसका हाथ सब से बढ़ा है, उससे पूछता है।]

अध्यापक : तुम बताओ !

लड़का : जी, जी, गिरल...गिरल माने लिरकी !

रहा मुख्य नाटक तो वह भी एक तरह से कॉमिक ही हो गया। पार्ट सब अभिनेताओं ने याद कर रखे थे। और बड़ा अच्छा हो भी रहा था कि 'द्रौपदी चीर हरण' का दृश्य आया। निर्देशक ने उसकी भव्यता को प्रकट करने का बड़ा अच्छा प्रबन्ध किया था। रंगमंच क्योंकि एक क्लास रूम की दीवार के साथ बना था, इसलिए निर्देशक ने पिछली दीवार की दोनों खिड़कियों और बीच के दरवाज़े का प्रयोग सफलता से उस दृश्य में किया था। आठ-दस साड़ियाँ मिला कर पिछली दीवार की दोनों खिड़कियों से उनको दायरे में चलाया जा रहा था,

द्रौपदी बीच में थी। सामने दरवाज़े के अन्दर कृष्ण जी खड़े अनवरत साड़ी बढ़ाते दिखाई देते थे और खिड़कियों से आते हुए साड़ी उनके पास होकर गुज़रती थी, लगता था कि लगातार साड़ी भेजे चले जा रहे हैं।

निर्देश यह था कि द्रौपदी उस खिड़की से आने वाली साड़ी के साथ लगी घूमती जाय और दुःशासन उसी को खींचता जाय। पर इसे दुर्भाग्य कहिए या कुछ और कि द्रौपदी ने अपनी साड़ी कुछ ऐसे बेढंगेपन से पहन रखी थी कि उसका पल्ला उस चक्कर खाती साड़ी में उलझ गया और दुःशासन के हाथ में पड़ गया और अनजाने में खिंचता गया। द्रौपदी अपने ध्यान में घूमती गई कि एकदम सब खिलखिला कर हँस पड़े। द्रौपदी की भूमिका में काम करने वाला लड़का सहसा रुक गया। सबने देखा कि द्रौपदी ने साड़ी के नीचे हाफ़ पैंट पहन रखी है--खाकी ज़ीन की हाफ़ पैंट—और द्रौपदी की टाँगें हैं, जिन पर रीछ से घने बाल हैं। लड़के हँसी से दोहरे हुए जा रहे थे। तभी सहसा निर्देशक ने, जो अर्जुन का पार्ट भी कर रहा था, उठ कर पर्दा गिरा दिया।

रेडियो की नौकरी के दिनों में मैंने अच्छे-अच्छे नेताओं और अफ़सरों को माइक-कान्शस (Mike Conscious)*होते देखा। किसीको अनायास प्यास लग उठती, किसी को ऐन वक्त पर लघुशंका हो आती। खाँसी तो सभी को बार-बार आती। मैं स्वयं आरम्भ में माइक-कान्शस रहा हूँ और कुछ मित्रों की माइक कान्शसनेस के इतने किस्से मुझे याद

*माइक के सामने जिसे घबराहट हो।

कि स्मृति मात्र से हँसी आती है। फ़िल्म की नौकरी और फ़िल्म के अभिनय में मैंने कैमरा कान्शसनेस को भी देखा। एक-आध लाइन बोलनी होती, रिहर्सल में अभिनेता बिल्कुल ठीक पार्ट कर लेता, पर ज्योंही डाइरेक्टर कहता—टेक ! (Take) कि कोई न कोई ग़लती हो जाती। स्टेज कान्शसनेस इन दोनों से बढ़कर है। कारण यह कि रेडियो के श्रोता और फ़िल्म के दर्शक सामने नही होते और रंगमंच के दर्शक ज़रा सी ग़लती पर ठहाका लगाने को सामने उपस्थित होते हैं। अपने नाटक 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' में मैंने रिहर्सलों में बड़ी डींग मारने वाले अभिनेताओं को रंगमंच पर आते ही बेतरह घबराते और कुछ का कुछ बोल कर नाटक का बंटाढार करते दिखाया है और वह नाटक सच्ची घटना पर अवलम्बित है। वैसे ही एक और घटना मुझे याद है। एक बार जब निर्देशक रिहर्सल करा रहे थे तो एक अभिनेता साधारण ढंग से अपना सम्वाद बोला--'एक नदी पार की, दूसरी नदी पार की, आकाश देखा मेघाच्छन्न' !

निर्देशक बिगड़े। मुँह बिचका कर उस अभिनेता की नकल लगाते हुए उन्होंने कहा--एक नदी पार की, दूसरी नदी पार की, आकाश देखा मेघाच्छन्न--यह क्या है ? मियाँ एक्ट कर रहे हो या घास छील रहे हो ? दायें हाथ से नीचे हवा को चीरते हुए और एक पग बढ़ाते हुए कहो 'एक नदी पार की' बायें हाथ से नीचे हवा को चीरते हुए और दूसरा पग बढ़ाते हुए कहो—'दूसरी नदी पार की।' और दोनों हाथ उठा कर आकाश की ओर देखते हुए कहो—'आकाश देखा, मेघाच्छन्न !'

और उन्होंने उसी तरह बड़ी सुन्दरता से यह वाक्य अभिनय के साथ बोल कर सुनाया। अभिनेता ने उसी प्रकार अभिनय करके दिखा

दिया। किन्तु रंगमंच पर उतरते ही वह कुछ ऐसा बौखलाया कि निर्देश बिल्कुल भूल गया। नीचे धरती की ओर देखने के बदले ऊपर की ओर मुँह करके हाथ से हवा को चीरते और एक पग बढ़ाते हुए उसने कहा—एक नदी पार की, दूसरा पग बढ़ाते और दूसरे हाथ से चीरते हुए कहा—दूसरी नदी पार की। और फिर धरती में आँखें गाड़, दोनों हाथ फैलाकर बोला—आकाश देखा, मेघाच्छन्न !

किसी ने कहा है Posterity is very selfish and cruel अर्थात् संतति (आने वाले पाठक) बड़े स्वार्थी और निर्मम होते हैं। पर रंगमंच के दर्शकों का स्वार्थ और निर्ममता उनसे कम नहीं। ज़रा सी भूल-चूक भी वे क्षमा नहीं करते। बम्बई में 'इपटा' के एक नाटक की घटना भुलाये नहीं भूलती। 'इपटा' 'काश्मीर-डे' के सम्बन्ध में एक शो दे रहा था। 'सुन्दरबाई हाल' में नाटक का आयोजन था। बलराज साहनी निर्देशन कर रहे थे। नाटक भी उन्हीं का लिखा था। कला की दृष्टि से नाटक वैसा सफल न था, पर बलराज के अभिनय और निर्देशन ने उसमें जान डाल दी थी। नाटक दर्शकों को देश काल की सुध-बुध भुलाये अपने साथ बहाये लिये जा रहा था। बलराज एक बुड्ढे मल्लाह का बड़ा ही सफल अभिनय कर रहे थे और कवि महजूर की भूमिका में एक और युवक था। उसकी ओज भरी वाणी नाविकों को कर्म के लिए प्रेरित कर रही थी। उस समय जब नाटक क्लाइमेक्स को पहुँच रहा था और महजूर (महजूर की भूमिका में काम करने वाले अभिनेता) को कहना था—'आज की यह सुलगती सी चिनगारी कल शोला बनेगी। और वह शोला एक धधकती हुई आग बनकर सारे के

सारे काश्मीर पर छा जायगा, और शेरे काश्मीर की क़यादत में दसियों नहीं बीसियों, बीसियों नहीं हज़ारों, हज़ारों नहीं लाखों, लाखों नहीं करोड़ों काश्मीरी अपनी आज़ादी के लिए सीना ताने बढ़ेंगे.. ...कि वह बड़े जोश से बोलता हुआ, ज़बान चूक जाने से कह गया—दसियों नहीं बीसियों, बीसियों नहीं हजारों, हजारों नहीं करोड़ों, करोड़ नहीं लाखों ..कि हाल का मौन एक छत-फाड़ ठहाके से भङ्ग हो गया। और फिर बलराज का एक्टिंग भी उसे न सम्हाल सका। महजूर की भूमिका में काम करने वाला युवक ऐसा शरमिंदा हुआ कि दूसरे दिन वह लाख कहने पर भी रंगमंच पर आने का साहस न कर सका।

बलराज का ज़िक्र चला तो बम्बई का एमेचर रंगमंच और उसकी सरगर्मियाँ, इपटा, उसके खेल और बैले (रहस) मेरे सामने घूम गये हैं। बम्बई में अपने दो वर्षों के निवास में मुझे इपटा को निकट से देखने, उसके लिए लिखने और एक नाटक के निर्देशन का भी अवसर मिला। यद्यपि एमेचर संस्थाओं की दो एक त्रुटियाँ 'इपटा' में भी देखीं जो निःशुल्क काम करने वालों के मनोविज्ञान को देखते हुए बड़ी साधारण और व्यापक हैं, समय-साधकों का भी अभाव उसके सदस्यों में नहीं रहा और वहाँ ऐसे लोग भी मिले जो बम्बई के फ़िल्मी जीवन में पाँव जमाने के लिए इपटा को सीढ़ी समझते थे और उसका लाभ उठाते थे, तो भी एक बात निःसंकोच कही जा सकती है कि जितनी लग्न इपटा के कार्य-कर्ताओं में मैंने देखी (विशेषकर उसके रहस-विभाग में) उतनी और किसी संस्था के वरकर्ज़ में देखने को नहीं मिली। इपटा के रहस विभाग में काम करने वाली लड़कियाँ तो ऊँचे घरों की, ऊँचे

चरित्र की, इपटा को फ़िल्मी जीवन में जाने का साधन नहीं, प्रगतिशील विचारों के प्रसार का साधन मानकर आन्तरिक लग्न से उसमें काम करती थीं। और रूखी-सूखी रोटी खाकर दिन रात अनथक परिश्रम में रत रहती थीं। कमरों की सफ़ाई, खाना परोसना, रहसों के लिए पोशाकें बनाना, रंगना—सब काम स्वयं करती थीं और यदि मैं यह कहूँ कि बम्बई की इपटा के रहसों को देखकर इलाहाबाद में देखा उदयशंकर का नृत्य फीका लगा तो इसमें अत्युक्ति न होगी। बम्बई इपटा का नृत्य विभाग उस समय उदयशंकर के भाई श्री रविशंकर और उन्हीं के ग्रुप के कुछ सदस्यों के निर्देशन में काम करता था! कला तो उदयशंकर ही की थी। सोद्देश्यता और लग्न इपटा की और फिर उदयशंकर कदाचित् अधिक अभिनेताओं का खर्च सहन नहीं कर सकते, जबकि इपटा में छः सात तो लड़कियाँ ही काम करती थीं और दस-पन्द्रह युवक नर्तक थे। वेतन पर काम करने वाले अभिनेता इतनी निष्ठा और लग्न से काम नहीं कर सकते। इपटा की रामलीला, इपटा का माहगीरों का नाच, भारत का इतिहास रहस के माध्यम से सदा स्मृति पट पर अंकित रहेंगे। इपटा के रहसों को देखकर ही जाना जा सकता है कि नृत्य और गान से कैसे जनता को जगाया और शिक्षित बनाया जा सकता है।

बम्बई में इपटा के दो भाग थे। एक अँधेरी में श्री रविशंकर तथा शान्तिदा के निर्देशन में काम करता था। दूसरा सैंडहर्स्ट रोड पर श्री बलराज साहनी के। यहाँ नाटक आदि होते थे। क्योंकि नाटक प्रायः इपटा में काम करने वाले ही लिखते थे और वे अभिनेता चाहे कितने भी अच्छे क्यों न हों, उतने अच्छे नाटककार न थे, इसलिए उन नाटकों का कला-पक्ष दुर्बल रहता था। पर बलराज अपने निर्देशन और

अभिनय से उनमें जान डाल देते थे। बम्बई में तो नहीं, लेकिन दो वर्ष पहले इलाहाबाद में अ० भा० इपटा सम्मेलन में इपटा की बम्बई ब्राँच का एक नाटक देखा जिसकी याद सदा ताज़ा रहेगी—जादू की कुर्सी।

'जादू की कुर्सी' की खूबी यह थी कि चाहे वह भी इपटा के सदस्यों द्वारा ही लिखा गया था और प्रचारात्मक ही था, पर बार-बार खेले जाने और बार-बार संशोधित होने से धुल-मंझकर वह, जहाँ तक नाटकीयता का प्रश्न है, बड़ा ही उच्चकोटि का हो गया था। दूसरा गुण उसका यह था कि वह प्रायः पाँडुलिपि-विहीन नाटक था। उसकी कोई पाँडुलिपि इपटा के पास न थी। और यह सत्य है कि यदि वह कागज पर लिखा जाता तो वे ठहाके तो दूर रहे, जो हाल में लोग उसे देख कर लगाते थे, मुस्कराहट तक भी किसी के ओठों पर न आती। 'जादू की कुर्सी' का कमाल उसके मसौदे में उतना नहीं, जितना नाटक की कला और बलराज साहनी के एक्टिंग में......पर्दा उठने पर हम देखते हैं रंगमंच पर रिहर्सल होने वाली है और अभिनेता एक हुड़दंग मचाये हुए हैं और निर्देशक परेशान है कि क्या करे, आख़िर वह सब को चुप कराता है और एक एक्टर को पकड़ता है और उससे पूछता है कि उसे पार्ट याद है कि नहीं और जब वह दस नाटकों के नाम बताता है कि उसे सबके पार्ट याद हैं तो निर्देशक पूछता है कि उनके नहीं, जादू की कुर्सी के ? तब अभिनेता, जो बलराज है, अपना पार्ट सुनाने लगता है। बीच में भूल जाता है और निर्देशक उसे टोकता है तो वह कहता है उसे भूख लगी है और उसने खाना नहीं खाया, इसलिए वह भूल रहा है और यहाँ से नाटक कुछ इस तरह मोड़ लेता और वर्तमान राजनीतिक तथा

सामाजिक व्यवस्था पर कुछ इस प्रकार दायें-बायें छींटे कसता चला जाता है कि उसका जवाब नहीं। मैंने देखा कि जिन लोगों पर वे भाव की पड़ रही थी वे भी, कम से कम उस समय, हँस रहे थे। बाद को उन नश्तरों की चुभन उन्हें महसूस हुई और यू० पी० में नाटक के प्रदर्शन पर निषेध लगा दिया गया, यह दूसरी बात है।

नाटक पर निषेध की बात चली तो मुझे अपने नाटक 'तूफ़ान से पहले' की बात याद आ गयी। १६४६ में मैं अपने नाटक 'कैद' और 'उड़ान' तैयार कर रहा था कि बन्ने भाई (श्री सज्जाद ज़हीर) ने मुझसे कहा—'अश्क इतना बड़ा हादिसा हो रहा है और तुम कुछ नहीं लिखते।' मैंने कहा—'मैं इस पर लिखूँगा ज़रूर, पर अभी नहीं, कुछ दिन बाद।' उन्होंने कहा, 'नहीं तुम अभी लिखो—इपटा के लिए!' मैंने उनसे कहा भी कि 'इपटा' के लोग अपना लिखा नाटक खेलेंगे। मेरा श्रम बेकार जायगा, पर उन्होंने बड़ा ज़ोर दिया। तब मैंने हाथ के सब काम छोड़कर अपना नाटक 'तूफान से पहले' लिखा। श्री अब्बास के घर प्रगतिशील लेखक संघ की एक मीटिंग में वह सुनाया गया। उसका बड़ा प्रभाव सुनने वालों पर पड़ा, दो एक की तो आँखें भी सजल हो गयी, अब्बास ने ही उसका नाम भी रक्खा—"तूफ़ान से पहले"।

कई हफ़्ते गुज़र गये, पर जिस नाटक को लिखवाने के लिए इतना ज़ोर दिया गया था, उसे खेलने के लिए किसी ने उत्सुकता प्रकट न की। मैंने बन्ने भाई से कहा। उन्हें भी दुख हुआ और उन्होंने बलराज से इसकी शिकायत की। बलराज ने इपटा की एक जनरल मीटिंग में

मुझे बुलाया, मुझसे नाटक सुनवाया और कहा कि इपटा के सदस्य तो उसके मुख्य नाटक में व्यस्त हैं, तुम नये अभिनेता चुन लो और उन्हीं की सहायता से स्वयं चाहो तो नाटक तैयार करा लो। मेरा स्वास्थ्य उन दिनों गिरना शुरू हो चुका था, मैं चाहता था कि बलराज स्वयं नाटक का निर्देशन करें, पर जब उन्होंने यों टाला तो मुझे बड़ा क्षोभ हुआ, किन्तु प्रकट शान्त भाव से मैंने कहा कि अच्छा मुझे अभिनेता दे दिये जायँ, मैं नाटक तैयार कर दूंगा, उन्होंने मीटिंग ही में अभिनेताओं के लिए अपील की, कई युवकों और युवतियों ने नाम लिखा दिये।

अधिकांश लोग गुजराती और मराठी थे, और उनमें से कोई पहले स्टेज पर न आया था। पर मैं जुट गया। प्रतिदिन मलाड से लगभग बीस मील दूर सैंडहर्स्ट रोड जाता और रिहर्सल लेता। इस प्रकार दो महीने के श्रम और नये अभिनेताओं की लग्न, सहयोग और सहृदयता से मैंने अभिनेताओं का उच्चारण ठीक कर, प्रतिदिन रिहर्सल लेकर नाटक की सूरत निकाल दी। अन्तिम रूप से उसका अभिनय होने से पहले एक दिन फिर सभी सदस्यों की मीटिंग हुई। नाटक खेला गया, तो बलराज ने कुछ बड़े अच्छे परामर्श मंच पर पात्रों की सेटिंग के सम्बन्ध में दिये। फिर कुछ ऐसा हुआ कि अपना मुख्य नाटक छोड़ अभिनेता उसी में भाग लेने को आतुर हो उठे और एक भी पुराना अभिनेता न रहा। मुझे इसका बड़ा दुख हुआ। मेरा मत था कि नाटक चाहे कुछ असफल या दुर्बल रह जाय, पर जिन अभिनेताओं ने उस पर दो महीने श्रम किया है वे ही उसे पहली बार खेलें। पर मैं उन्हीं दिनों की अनियमितता से कहीं सर्दी खा गया और मुझे ज्वर आने लगा, जो यक्ष्मा ही पर जाकर रुका। नाटक इपटा की अंधेरी

आंच में हुआ। मैं तो नहीं देख सका, पर भाई शमशेर बहादुर से सुना कि बड़ा सफल हुआ। जिन अभिनेताओं ने उसकी सम्भावना इपटा के उदासीन सदस्यों पर स्पष्ट की थी, उनमें से एक भी उसमें न था। सुना था कि नये पुराने अभिनेताओं की सहायता से एक ही साथ कई इलाकों में वह नाटक दिखाया जायगा, पर बम्बई सरकार ने उस नाटक को, जो साम्प्रदायिक दंगों के विरुद्ध लिखा गया था, इसी बिना पर निषिद्ध करार दे दिया कि उससे साम्प्रदायिक कटुता बढ़ने का भय है। बम्बई सरकार के उस निर्णय पर आज भी हँसी आती है। पर सरकारों के कितने निर्णयों पर हँसी नहीं आती ?

बम्बई की 'इपटा' का ज़िक्र आया तो अनायास बम्बई ही के पृथ्वी थीएटर्ज़ का भी ध्यान हो आता है। पृथ्वी थीएटर्ज़ एमेचर नहीं, वह व्यावसायिक है। मुझे व्यावसायिक रंगमंच का उतना अनुभव नहीं। आठवीं या नवीं श्रेणी में जब मुझे नाटक का नया-नया शौक हुआ था, जालन्धर में रहमत की थीएट्रीकल कम्पनी आयी थी। नाम तो कदाचित उसका विक्टोरिया थीएट्रीकल कम्पनी था—ठीक मुझे स्मरण नहीं—पर क्योंकि उसके संचालक पंजाब के प्रसिद्ध एक्टर-डायरेक्टर मास्टर रहमत थे, इसलिए वह रहमत ही की कम्पनी कहलाती थी। रहमत का नाम उन दिनों पंजाब के बच्चे-बच्चे की ज़बान पर था। उनके नाटकों की धुनें और गज़लें आज की सफल फ़िल्मी धुनों की तरह हर एक की ज़बान पर थीं।

क्यों जा रहा है मेरी मट्टी को ख़्वार करके ?
पामाल ठोकरों से मेरा मज़ार करके ?

पहले लगाई आँखें ओ बेवफा सितमगर !
क्यों फेरलीं निगाहें, आँखों को चार करके !

रहमत के किसी नाटक की गज़ल थी जो गली मुहल्ले में छोकरे गाते फिरते थे। मैंने उनके सब नाटक किराये पर लेकर पढ़ डाले थे और उन दिनों मैं उनका बड़ा प्रशंसक था, पर एक तो नाटक का कम से कम टिकट बारह आने था, दूसरे नाटक नौ साढ़े नौ बजे शुरू हो कर रात के तीन चार बजे तक रहता था, इसलिए दादा जी की आज्ञा का मिलना असम्भव था। मैं निरन्तर आज्ञा लेने की कोशिश करता रहा, भाई साहब ने भी बड़ी कोशिश की। अन्त में जिस दिन हम अपने प्रयास में सफल हुए, कम्पनी का अन्तिम खेल होने वाला था—चूँ चूँ का मुरब्बा[1] ! भाई साहब तो 'चूँ चूँ का मुरब्बा' देखने के कुछ वैसे उत्सुक न थे, पर मैं एक नाटक की अपेक्षा सभी नाटकों के 'मॉजून'[2] का रसास्वादन कर लेना बुरा न समझता था। सो हम 'चूँ चूँ का मुरब्बा' देखने गये। रेलवे रोड के मंडुवे में खेल हो रहा था। बारह-बारह आने के टिकट लेकर हम अन्दर जा पहुँचे। सबसे पिछले दर्जे में बैठे होने के कारण हमें उतना अच्छा सुनाई और दिखाई न देता था, पर 'पंजाब मेल' का एक सीन 'फाटक खुल जायगा'; कृष्ण जन्म में वसुदेव के नदी पार करने का दृश्य; रहमत के प्रसिद्ध नाटक 'दर्दे जिगर' में स्वयं रहमत का पार्ट; एक नृत्य और दो एक कॉमिक (comic) सीन मुझे बहुत अच्छे लगे।

आज कॉमिक का स्तर बहुत ऊँचा उठ गया है। फ़िल्म में चलें तो चलें, पर रंगमंच पर भोंडे कॉमिक नहीं चल सकते। किन्तु तब के

१. अन्तिम नाटक जिसमें सभी नाटकों का एक-एक दृश्य रहता है।

क मिक 'गोरी तेरे गोरे गाल पै' की तरज़ के थे और किसी चुलबुली नौकरानी पर दो नौकरों का अथवा मालिक और नौकर दोनों का मरना, किसी डरपोक पति का क्रूर पत्नी के हाथों झाड़ू से पिटना; नौकरों की शेरबाज़ी आदि को लेकर सरकस के जोकरों का-सा हास्य प्रस्तुत करते थे और नाटकों ही की भाँति यथार्थ से उनका कोई वास्ता न था। स्वगत-भाषण तो उनमें ऐसा खटकता था कि क्या कहा जाय। बहरहाल उस 'चूँ-चूँ के मुरब्बे' में उस समय के रंगमञ्च, उसकी सीन-सीनरी, गम्भीर नाटक और प्रहसन—सब का आनन्द मैंने एक ही दिन में पा लिया। अन्तिम दृश्य मुझे आज भी याद है। ज्यों-ज्यों दृश्य खेले जाते थे, पीछे के पर्दे और साज़-सामान, दर्शकों के बिना जाने, हटाया जा रहा था। अन्तिम दृश्य में इधर के पहले पर्दे के बाहर दो अभिनेता कुछ नकल कर रहे थे। उनके नेपथ्य में जाते ही पर्दा उठ गया। देखा कि सामने स्टेज नितान्त सूनी है, न कोई पर्दा है, न नेपथ्य, न साज-सामान; ऊपर मंडुवे की ढालुवीं छत पर बाँस आदि दिखाई दे रहे हैं। कम्पनी के सब अभिनेता, उन दो को छोड़कर जो कुछ क्षण पहले पार्ट कर रहे थे, अपने साधारण वस्त्रों में सामने खड़े हैं। तब उनमें से किसी ने बड़ी सोज़ भरी आवाज़ में गाया--

बुलबुल ने आशयाना चमन से उठा लिया।
उसकी तरफ़ से बूम बसे या हुमा रहे[1]॥

और दूसरे ने उससे भी दर्द भरी लय में गाया—

१. बुलबुल ने अपना नीड़ बाग से उठा लिया, अब उसकी ओर से वहाँ उल्लू बसे या हुमा बसे। हुमा एक प्रसिद्ध पक्षी हैं जिसके बारे में कहा जाता था कि जिसके सर पर से गुज़र जाय वह बादशाह हो जाता है।

दरो-दीवार पै हसरत से नज़र करते हैं।
खुश रहो अहले-वतन हम तो सफ़र करते हैं॥

वह सूनी स्टेज, वह उस स्वर का दर्द, वह कम्पनी और उसके अभिनेताओं की लोकप्रियता—हृदय को कुछ होने सा लगा।

तभी सहसा पर्दा गिर गया।

पृथ्वी थीएटर्ज की दाग़ बेल तभी पड़ गई थी जब मैं बम्बई में था। दादर में मैंने उनकी दो एक रिहर्सलें और एक कंसर्ट भी देखी थी। उन दिनों पृथ्वी थिएटर्ज़ में मेरे दो मित्र मोहन और भाटिया काम करते थे। वे ही मुझे वहाँ ले गये थे और उन्हीं ने मुझे पहले-पहल पृथ्वीराज से मिलाया भी था। न जाने क्यों पृथ्वीराज के प्रति मेरे मन में एक पूर्व-ग्रह सा बन गया था। मैंने फ़िल्म के पर्दे पर उन्हें कई बार देखा। 'विद्यापति' 'अभागिन' 'पागल' 'इशारा' में उनका अभिनय बहुत अच्छा भी लगा, पर वह पूर्व-ग्रह नहीं मिटा। अब सोचता हूँ तो पाता हूँ कि मुझे फ़िल्मी एक्टर पृथ्वीराज के अभिनय में कुछ अजीब सा Mannerism (अभिनय की कुछ एक सी अदाएँ) खटकी थीं। (यद्यपि अब अपने अनुभव से जानता हूँ कि यह उनकी अपेक्षा डायरेक्टरों का दोष था जो किसी अभिनेता के विभिन्न गुणों को नहीं समझ पाते और यदि कोई अभिनेता किसी एक रोल में एक बार सफल हो जाता है तो फिर उसे उसके अतिरिक्त कोई दूसरा रोल ही नहीं देते।) इसके अतरिक्त बम्बई की कुछ सभाओं में पृथ्वीराज के भाषण सुने थे। बोलते-बोलते वे कहीं से कहीं भटक जाते थे। इसका भी अच्छा प्रभाव मेरे मन पर नहीं पड़ा। थोड़ा सा दिखावा भी मुझे

उनमें लगा और फिर पहली बार स्टेज पर मैंने उन्हें पृथ्वी थीएटर्ज़ के पहले नाटक 'शकुन्तला' में दुष्यन्त की भूमिका में देखा। मुझे न वह नाटक रुचा न उनका अभिनय। थीएटर हाल पुराना था। उसकी ठीक लोकेशन मुझे याद नहीं। कहीं खेतवाड़ी से आगे अथवा बोरी-बन्दर की ओर को था और बम्बई के रीगल, इरौस और मीट्रो के बदले फव्वारा (दिल्ली) अथवा चौक (इलाहाबाद) के सिनेमाघरों की याद दिलाता था। शो यद्यपि सुबह का न था, पर रात का भी न था। तीन-साढ़े तीन बजे शुरू हुआ। तपोवन का दृश्य पृथ्वीराज ने यथा-सम्भव प्रकृत बनाया, पर कनविंसिंग (काबिले क़बूल) न लगता था। नाटक मन्थर-गति से चल रहा था। पृथ्वीराज का मैनेरिज़्म यहाँ भी था। कई बार वे इतने धीरे बात करते थे कि सुनाई न देती थी। लोग पहले ही अंक में ऊब उठे और जब पिछली बेंचों पर से किसी ने चिल्लाकर पृथ्वीराज से कुछ ऊँचे बोलने को कहा तो मुझे पृथ्वीराज के बदले उस दर्शक से सहानुभूति हुई।

[अब सोचता हूँ तो पाता हूँ कि शकुन्तला की सफलता उसके नाटकत्व में नहीं, उसके कवित्व में है। ऐसा सफल नाटक बनाने के लिए जो वर्तमान जनता को रुचे, उसके कथानक में परिवर्तन ज़रूरी है, तब कालीदास के कथानक को आधारशिला न बना कर, महाभारत के कथानक को आधारशिला बनाना होगा। कालीदास के नाटक का रूपान्तर रेडियो के लिए उपयुक्त हो सकता है और रहस में तो उसकी सुन्दरता, मधुरता और भव्यता बड़ी ही अच्छी तरह व्यक्त की जा सकती है, पर आज के नाटक में जैसा संघर्ष दरकार है, वह दूसरा मनोवैज्ञानिक आधार चाहता है।]

पृथ्वी थीएटर्ज़ का पहला नाटक शकुन्तला असफल रहा, पर पृथ्वी-

राज उसकी असफलता से घबराये नहीं। दूसरे वर्ष उन्होंने दूसरा नाटक तैयार किया—'दीवार'! मैं तब भी बम्बई ही में था। मुझे याद है एक दिन मैं वालकेश्वर में श्री धर्म प्रकाश आनन्द (हिन्दी के एक सफल कहानीकार जो फनांस मिनिस्ट्री की फाइलों में उलझ गये) के घर बैठा था कि उनके बड़े भाई ने आकर 'दीवार' की प्रशंसा की और उस अपार भीड़ का उल्लेख किया जो 'दीवार' देखने आई थी। 'दीवार' की कहानी, जैसी कि उन्होंने मुझे सुनाई, उस समय की राजनीतिक समस्या की ओर संकेत करती थी। मैंने अपनी पूर्व-ग्रह युक्त-उपेक्षा के कारण मन में समझ लिया कि उसकी सफलता का कारण विभाजन के विरुद्ध जनता की इच्छा है, न कि पृथ्वीराज का एक्टिंग और निर्देशन। मन ही मन मैंने यह तय कर लिया कि कहानी खासी ऊबा देने वाली होगी। मैंने 'दीवार' नहीं देखा। चाहता भी तो उसे देखना मेरे लिए कठिन था। मैं मलाड में रहता था। उन दिनों रात दिन हमारे स्टूडियो में शूटिंग चलती थी। पृथ्वीराज के पास कोई थीएटर हाल न था। वे अपने नाटक 'ओपेरा हाउस' में सुबह नौ बजे से करते थे। 'ओपेरा हाउस' मेरे घर से बीस बाइस मील दूर था, प्रातः बहुत जल्दी उठूं तो मैं खेल के समय पर पहुँच सकता था। मन में उतनी उत्कंठा नहीं थी। सो मैं 'दीवार' नहीं देख सका। फिर बीमार पड़ गया। बम्बई से उखड़ा और पंचगनी से होता हुआ इलाहाबाद आ जमा।

पृथ्वीराज इस बीच में प्रति वर्ष एक नाटक तैयार करते रहे। अपने दल को लेकर भारत के विभिन्न प्रान्तों के दौरे उन्होंने किये और उनकी सफलता की भनक निरन्तर मेरे कानों में पड़ती रही। पहले मैंने बलराज साहनी का एक लेख पढ़ा। उन्होंने 'दीवार' और 'पठान' की प्रशंसा की। फिर मुल्कराज आनन्द का एक लेख पढ़ा।

'दीवार' और 'पठान' की तारीफ़ उसमें भी थी। बलराज और मुल्कराज की मैं इज्ज़त करता हूँ। किसी एकदम बोगस चीज़ की वे प्रशंसा करेंगे, इसमें मुझे सन्देह है, इसलिए मन का वह पूर्व-ग्रह कुछ मिट सा गया और सोचा कि यदि अवसर मिले तो पृथ्वी थीएटर्ज़ के ये खेल अवश्य देखे जायँ। तभी ५२ के दिसम्बर में सुना कि पृथ्वीराज दलबल सहित इलाहाबाद आ रहे हैं।

उनके आगमन से एक महीना पहले मैं सख्त बीमार पड़ गया। कई तरह के इलाज-उपचार के उपरान्त पता चला कि ईयोसिनोफ़ीलिया (Eosynophelia) हो गया है और यदि संखिया के इंजेक्शन न लिये जायँगे तो खासा परेशान करेगा। कुछ अजीब सी खाँसी आती थी। साँस रुक जाती थी, नाक से 'कीं कीं' सी होती रहती थी, बदन पसीने से तर और रात को नींद चौपट हो जाती थी। विवश हो मैं इंजेक्शन लेने लगा। तीसरा इंजेक्शन लिया था (कुछ फ़ायदा था, पर बड़ा कमज़ोर हो गया था) कि पृथ्वीराज आ गये। 'दीवार' पहले दिन होने वाला था। मैंने फ़ैसला कर लिया था कि एक नाटक अवश्य देखूँगा। पत्नी ने यह भी कहा कि तीन दिन आराम करके एक और देख लीजिएगा। 'पठान' देखना उस स्थिति में कठिन था। इसलिए सोचा कि पहले दिन 'दीवार' ही देखा जाय, तीन दिन आराम करके यदि सम्भव हुआ तो 'कलाकार' देख लेंगे और कौशल्या (मेरी पत्नी) पहले दिन की सीटें बुक करा आयी।

पृथ्वीराज उसी दिन इलाहाबाद पहुँचे थे, इसलिए नाटक के आरम्भ होने में कुछ देर हो गई। पर्दा उठने के पहले प्रथम अंक की पोशाक पर एक ड्रेसिंग गाउन पहने वे पर्दे के बाहर आये और उन्होंने एक भाषण दिया। मैं मानूँगा कि वह भाषण मुझे बुरा नहीं लगा। कदाचित् मेरा

पूर्व-ग्रह दूर हो गया था अथवा पृथ्वीराज को देर हो जाने का भय था और वे बहके नहीं। चन्द शब्दों में भारतीय दर्शकों की तुलना यूरोप के दर्शकों से करते हुए उन्होंने हॉल में बैठे लोगों से कुछ ऐसी बातें कहीं जो बड़ी ज़रूरी थीं। हाल में एक के खाँसते ही दूसरों के खाँस उठने का उल्लेख कर, उन्होंने जो फ़िकरे कसे, उन्हें सुनकर मैं डरा, क्योंकि मुझे तो खाँसी आती ही थी। सौभाग्य से मैं तीन इंजेक्शन ले चुका था। इसलिए उस शाम मुझे लज्जित नहीं होना पड़ा। पृथ्वीराज के भाषण के कुछ समय बाद (जितना कि उन्हें मेकअप रूम में बड़ी-बड़ी मूँछे लगाने में लगा) नाटक आरम्भ हो गया।

'दीवार' मुझे बहुत अच्छा लगा। पृथ्वीराज के एक्टिंग के सम्बन्ध में तो मैं इतना ही कह सकता हूँ कि जिन्होंने पृथ्वीराज को केवल रजतपट पर देखा है, वे उसकी कल्पना ही नहीं कर सकते। दीवार में उन्होंने एक ही भूमिका में तीन तरह का पार्ट किया। पहले एक अनपढ़, अशिक्षित लेकिन उदार ज़मींदार का, फिर विदेशी रमणी के सम्पर्क में पढ़-लिख कर अनुदार आधुनिक बन जाने वाले शराबी जागीरदार का, फिर तीसरे अंक में विदेशी प्रभाव से मुक्त हो, पश्चाताप के आतप में जल-निखर कर, कुन्दन बन जाने वाले इन्सान का।

'कलाकार' के कलाकार पृथ्वीराज को मैं फ़िल्म के पर्दे पर देख चुका हूँ। 'अभागिन' के नायक या 'विद्यापति' के प्रेमी राजा से वह भिन्न नहीं। शराबी की भूमिका में भी मैंने उन्हें 'इशारा' में देखा है। किन्तु 'दीवार' का पृथ्वीराज मेरे लिए एकदम नया था। 'दीवार' के पहले अंक में (पठान में भी) उन्होंने जो अभिनय किया, वह मेरे लिए एकदम अभिनव और चमत्कारपूर्ण था। इतना सुन्दर अभिनय मैंने आज तक नहीं देखा। कुछ हिस्से तो इतने सुन्दर थे कि मन-मस्तिष्क पर अमिट असर छोड़

गये। स्टेज पर पृथ्वीराज और उनके अभिनय की भव्यता और विभिन्नता को देखकर पहली बार पता चलता है कि फ़िल्म उनके साथ कभी इन्साफ़ नहीं कर सकती, कि उनका स्थान, अव्वल और आखिर, रंगमंच और केवल रंगमंच है।

'दीवार' के अन्त में पृथ्वीराज जी से भेंट हुई। मैंने उन्हें अपने इम्प्रेशन्ज़ दिये। उन्होंने खेद प्रकट किया कि हम टिकट लेकर क्यों नाटक देखने आये और उन्होंने इच्छा प्रकट की कि हम सब नाटक देखें। तब मैं तो केवल 'कलाकार' और 'पठान' ही देख पाया, लेकिन कौशल्या ने सभी नाटक देखे। पृथ्वीराज जी से मेरी बम्बई की मुलाकात थी। उनके ट्रुप के कई अभिनेताओं से परिचय था। कौशल्या ने इच्छा प्रकट की कि मैं पृथ्वीराज जी तथा उनके मुख्य अभिनेता-अभिनेत्रियों को चाय पर बुलाऊँ। उनका प्रोग्राम बड़ा बँधा था, पर मैंने कौशल्या की इच्छा का ज़िक्र किया तो अपनी दो एक एंगेजमेंट्स काट कर वे अपने जाने के एक दिन पहले अपने ट्रुप के तीस-बत्तीस अभिनेताओं को लेकर आये। मैंने एक नाटक साभिनय सुनाया। उन्होंने भी बचपन के कुछ संस्मरण साभिनय सुनाये। अच्छी दिलचस्पी रही।

उन दिनों पृथ्वीराज जी से ख़ासा घनिष्ट सम्बन्ध हो गया, गत वर्ष जब वे कुम्भ पर आये और अपना नया नाटक 'पैसा' लाये तो उन्होंने हमें निमंत्रित किया। इस बार मैंने 'पैसा' और 'आहुति' दो नाटक देखे। उन दोनों को देखकर पृथ्वीराज के अभिनय सम्बन्धी मेरे विचार और भी पक्के हो गये। 'आहुति' में अंधे बाबू राम कृष्ण का पार्ट पृथ्वीराज ने जिस दक्षता से किया है, वह उन्हीं का हिस्सा है। अभिनय का वह कमाल हम पर तब प्रकट होता है, जब हम उन्हें बम्बई में आँखें ठीक होने के बाद नार्मल आदमी की तरह पार्ट

करते हुए देखते हैं।

'पैसा' में दीवार ही की तरह पृथ्वीराज फिर दो तरह का पाट करते हैं—पहले साधारण धर्मपरायण हेडक्लक का, फिर एक सफल सटई (Speculator) का। 'पैसा' के अन्त में कम से कम पन्द्रह मिनट तक पृथ्वीराज अकेले स्टेज को सम्हाले रहते हैं और हम लाइट इफ़ेक्ट्स छायाओं और माइक की सहायता से उस सटई के अपराधी मन और तने हुए दिमाग़ का भय और द्वन्द्व देखते हैं। यह अभिनय पृथ्वीराज इस कुशलता से करते हैं कि भुलाये नहीं भूलता।

जहाँ तक इन नाटकों के गुण-दोषों का सम्बन्ध है, उनके बारे में इतना लिखा जा सकता है कि एक छोटी-मोटी पुस्तक तैयार हो जाय। यहाँ वह सब लिखना सम्भव नहीं, यद्यपि बार-बार वह सब लिखने का मोह होता है। तो भी एक दो बातें कहने का लोभ सम्वरण नहीं होता।

जहाँ तक रंगमंच का सम्बन्ध है, पृथ्वीराज ने उसका आधुनिक-करण कर दिया है, पर्दे उठा दिये हैं और सेटिंग प्रकृत कर दिये हैं। 'पठान' में, जो शायद नाटकीय कला और अभिनय की दृष्टि से पृथ्वी थीएटर्ज़ का सफलतम नाटक है, एक ही सेटिंग है – गड़ी के खान के मकान का अहाता, जिसमें सामने वह गोल सा बुर्ज दिखाई देता है, जिस पर चढ़कर शत्रु की गति-विधि देखी जा सकती है, बायीं ओर अन्दर ज़नान-खाने का दरवाज़ा दिखाई देता है, जिसके बाहर एक ऊँचा चबूतरा बना है। दायीं ओर बड़ा किवाड़ है जो बाहर गली में खुलता है—बस, यही सेटिंग है और सारे का सारा नाटक जो गड़ी के ख़ान

की युवावस्था से वृद्धावस्था तक चलता है, उसी एक सेटिंग में बड़ी सफलतापूर्वक सम्पन्न हो जाता है। कहीं कुछ कृत्रिम नहीं लगता। 'दीवार' में भी एक ही सेट—जमींदार की चौपाल है, जिसमें दायें-बायें दो दरवाज़े हैं। एक खिड़की पीछे है जिससे गाँव के खेत-खलिहान दिखाई देते हैं। दायें-बायें दो सीढ़ियाँ ऊपर की मंज़िल को जाती हैं, सामने ऊपर, जहाँ दोनों सीढ़ियाँ मिलती हैं, एक बालकनी बन गई है। बालकनी में एक दरवाज़ा है, जिससे दाखिल होते ही ऊपर की मंज़िल में दायीं ओर बड़े भाई और बायीं ओर छोटे भाई का निवास-स्थान है। सेटिंग के अन्तिम दृश्य में केवल मध्य में खड़ी की जाने वाली दीवार के रूप में ज़रा सा परिवर्तन होता है। यह नाटक भी लगभग सारे का सारा एक ही सेटिंग में सम्पादित होता है। कलाकार में दो सेट हैं और दोनों में महान अन्तर है। एक पहाड़ी मन्दिर और डाक-बंगले के मध्य कुछ खुली सी जगह का बड़ा ही मनोरम दृश्य प्रस्तुत करता है (जहाँ से पहाड़ों और उनकी भव्यता का बड़ा सुन्दर नज़ारा किया जा सकता है) दूसरा एक कलाकार का ड्राइंग रूम है। इन्हीं दो सेटों में यह सारे का सारा नाटक खेला जाता है। 'आहुति' में तीन और 'पैसा' में दो सेट हैं।

नाटक का समय भी पृथ्वीराज के यहाँ कम हो गया है। पृथ्वी थीएटर्ज़ के नाटक दो-अढ़ाई घंटे चलते हैं। और पुराने नाटको से जो पाँच-पाँच घंटे तक चलते रहते थे, एकदम भिन्न हैं। अंक भी यहाँ पाँच-पाँच न होकर तीन ही तीन हैं और प्रत्येक अंक में दृश्य भी अधिक नहीं। यदि 'मदन थीएटर्ज़' मदन फ़िल्म कम्पनी में परिवर्तित न होकर अपने नाटकों की अवधि को कम करके, प्रकृत सेटिंग में खेलने लगता तो भारत में नाटक का ह्रास न होता। पर तब

कदाचित् ऐसा होना कठिन था। राधेश्याम, बेताब और आग़ा हश्र काश्मीरी के लिए एकदम नयी तर्ज़ के नाटक लिखना और उस समय के प्रोड्यूसरों के लिए, जिनमें अधिकांश स्वयं पुरानी तर्ज़ के एक्टर थे, उन्हें समझ पाना और खेलने को तैयार हो जाना लगभग असम्भव था। यह इतने वर्षों का व्यवधान, जो पुराने और नये रंगमंच के मध्य आ गया, भारत ऐसे गुलाम देश में आवश्यक ही था।

पृथ्वीराज ने हमारे देश के मृत हिन्दी रंगमंच को पुनः जिलाने से कितना बड़ा काम किया है, इसे हम अभी नहीं आँक सकते। देशीय रंगमंच के इतिहास में उनके इस कृतित्व का भारी महत्व है। हमारे रंगमंच को विदेश के रंगमंच के बराबर आने में कदाचित् अभी बड़ा फ़ासला तय करना है। स्वप्न नाटक, फान्तसी, इम्प्रेशनिस्टिक नाटक, रोमानी, बदलते दृश्यों वाले नाटक और जयशंकर प्रसाद, द्विजेन्द्र लाल राय आदि हमारे पुराने नाटककारों की कृतियों को बिना पर्दों के, स्वाभाविक सेटिंग में दिखाने योग्य घूमते हुए रंगमंच को (जहाँ एक साथ कई सेट तैयार रखे जा सकें) बनने में अभी काफ़ी साधन और समय दरकार है। किन्तु पृथ्वीराज ने हिन्दी के मृत रंगमंच को पुनः जिलाकर आधुनिक नाटक की सम्भावनाओं को देश के सम्मुख तो रख दिया और इस महत् कार्य के लिए देश उनका जितना भी आभार माने, कम है।

अन्याय होगा यदि मैं पृथ्वी थीएटर्ज़ के अन्य कलाकारों, विशेषकर उज़रा बट्ट, ज़ोहरा सहगल, श्रीराम, सुदर्शन सेठी और शम्मी कपूर का उल्लेख न करूँ। शम्मी अभी किशोर हैं, उन्हें बहुत कुछ सीखना है। पर शेष का अभिनय बड़ी ही उच्च कोटि का था।

एक बात जो मुझे पृथ्वी थीएटर्ज़ के पाँचों नाटकों में खटकी (जिसके लिए यों व्यावसायिक पृथ्वीराज मेरी बधाई के पात्र हैं) वह यह कि उन्होंने अपने नाटकों में किसी न किसी प्रकार नृत्य को रखा है। उस समय जब एक भी प्रोडयूसर ऐसी फ़िल्म नहीं बना सका, जिसमें रोते-हँसते गाना न हो, वहाँ पृथ्वीराज ने स्टेज से उस प्रकार के गानों का बहिष्कार करके बड़ा काम किया है। तो भी नृत्य का बहिष्कार शायद वे भी नहीं कर सके। और इस प्रकार मेरे ख्याल में उन्होंने अपना घेरा सीमित कर लिया है। चौथा नाटक 'कलाकार' कमज़ोर है, पर नाच-गाना और रोमानी वातावरण उसे अपने साथ उठा ले जाता है। हालाँकि अच्छा नाटक नाच-गाने के बल पर नहीं, अपने कथानक, उसके अन्तर्भूत द्वन्द्व, चुस्त-चुटीले सम्वादों और अभिनेताओं के सुन्दर अभिनय के बल पर चलना चाहिए। 'आहुति' के तीसरे अंक में भिखारिन वाला नृत्य तो बिल्कुल पैवन्द सरीखा है जिससे कथा का कोई भी सम्बन्ध नहीं बैठता। उसी तरह 'पैसा' में भी 'रोमियो-जूलियट वाला विदेशी प्रसंग अप्रासांगिक है। व्यावसायिक आवश्यकताओं को मै समझता हूँ। नाच और गाने न हों, ऐसी बात भी नहीं और पृथ्वीराज ने उनका समावेश कम से कम 'दीवार' और 'पठान' में बड़ी सुन्दरता से किया है। पर जीवन में हम नाचते-गाते ही नहीं। हज़ारों ऐसी बातें भी करते हैं जो नृत्य-गान-विहीन होने पर भी नाटकीय द्वन्द्व से ओत-प्रोत रहती हैं। अपना नाटक 'जय पराजय' लिखने के बाद (जिसमें पुरानी तर्ज़ का नृत्य और गाना भी है) मैंने 'स्वर्ग की झलक' लिखा (जिसमें निर्देशक चाहे तो नाच-गाना रख सकता है) पर 'छठा बेटा' तथा 'अलग-अलग रास्ते' में मैंने उसे बिल्कुल उड़ा दिया।

यह मैंने जान-बूझ कर किया। नृत्य की महत्ता है, परन्तु यथार्थ की स्वाभाविकता और मनोरंजकता उसके बग़ैर भी रह सकती है। पिछले दिनों 'छठा बेटा' इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के म्युर हॉस्टल (अमरनाथ झा हॉस्टल) में खेला गया और दर्शक पूरे एक घंटे तक निरन्तर हँसते रहे और क्षण भर को भी कोई न उकताया। निर्देशक ने पात्रों का चुनाव बड़ी कुशलता से किया और उन्होंने सम्वाद के बहुत से व्यंग्य बड़ी अच्छी तरह अदा कर दिये। इसके लिए निर्देशक सी० डी० पांडेय और उनके सहयोगी अभिनेता बधाई के पात्र हैं। किन्तु यदि लेखक के दृष्टिकोण से देखा जाय तो जिसे देख कर दर्शक हँसी के मारे लोट-पोट हो गये, वह केवल नाटक की पैरोडी मात्र थी। आधे से ज़्यादा नाटक कट गया था। कुछ पात्र कट गये थे, नाटक का गम्भीर अंश जो कुछ चाहता था, वैसा प्रवन्ध स्टेज पर न हो सका और लड़कियों का पार्ट लड़कों ने किया। पूरा नाटक पूरे प्रसाधनों के साथ खेला जाता तो दर्शकों का कितना मनोरंजन होता, इसकी कल्पना की जा सकती है। तो भी व्यावसायिक रंगमंच पर वह कितना सफल हो सकता है, इसकी सम्भावनाएँ उस सांझ हम पर प्रकट हो गयीं।

किन्तु व्यावसायिक रंगमंच पर आने के लिए नृत्य गान-विहीन नाटक को, वह कितना भी सफल और मनोरंजक क्यों न हो, अभी एक युग दरकार है। पृथ्वीराज जी को भी हमारे अधिकांश फ़िल्मी प्रोड्यूसरों-डायरेक्टरों की भाँति स्वयं लिखने अथवा नाटक लिखवाने का शौक है (किसी हद तक यह व्यावसायिक प्रोड्यूसर की विवशता भी है) शायद इसीलिए उनकी सुधारवादी रुचि ने उनके नाटकों को भी अपनी छाया में ले लिया है। पृथ्वीराज के सभी नाटक सुधारवादी

(Reformist) हैं। नाटक का आधार जन-रुचि है और इसलिए उससे कट कर पुरानी लीक पर चलना बहुत ठीक नहीं लगता। यह ठीक है कि नाटक जन-रुचि के स्तर को उठाता है--सौंदर्य के क्षेत्र में! और कला के लिए यह ज़रूरी है कि वह उद्देश्य रखे, पर उद्देश्य को उपदेश की सीमा से मुक्त रखना भी एक बड़ी चीज़ है। यह तभी हो सकेगा जब स्टूडियो के बाहर दृष्टि डाली जाय और सफल कहानियों तथा नाटकों को अपनाने की बात सोची जाय। परन्तु जिस प्रकार स्टूडियो से बाहर लिखी गयी कहानियाँ अपनी सफलता के बावजूद अपने आप हमारी फ़िल्मों तक नहीं पहुँच पातीं, इसी प्रकार स्वतन्त्र लिखे नाटक भी बहुत देर तक वहाँ न पहुँच पायँगे।

इसलिए यह ज़रूरी है कि व्यावसायिक रंगमंच और साहित्यिक संस्कार-युक्त नाटकों को एक दूसरे के नज़दीक लाया जाय। साहित्यिक दृष्टि से लिखे गये नाटकों को स्टेज का अनुभव ज़रूरी है। यह भी उचित ही होगा कि स्टूडियो से बाहर लिखे हुए नाटकों को अपनाया जाय, जिससे उच्च कलात्मकता और मनोरंजकता दोनों के समन्वय से पथ प्रशस्त हो और रंगमंच की उचित प्रगति तभी होगी जब एक ओर इसकी बनावट अति आधुनिक होगी, दूसरी ओर नये-नये नाटकों के रूप में उसे नया रक्त मिलेगा।

५, खुसरो बाग रोड,
प्रयाग

उपेन्द्रनाथ अश्क

राष्ट्रीय रंगमंच और उसका निर्माण

इधर जब से हमारा देश स्वतन्त्र हुआ है और हमारी राष्ट्रीय सरकार बनी है, राष्ट्र की भावनाओं को मूर्त-रूप देने वाले कलाकौशल की वृद्धि की ओर भी अनायास हमारा ध्यान गया है। कोई भी देश हो, उसके राष्ट्रीय जागरण में उसके रंगमंच को महत्व का स्थान प्राप्त रहता है। यही कारण है कि राष्ट्रीय संस्कृति के जागरण के इस युग में राष्ट्रीय रंगमंच की आवश्यकता और भी महसूस की जा रही है।

भारत में चित्रपटों के आगमन और उस आगमन के फलस्वरूप पारसी रंगमंच के अवसान के बाद, ऐसे रंगमंच का, जिसे राष्ट्रीय कहा जा सके और जो समान-रूप से देश भर में लोक-प्रिय हो, एकदम अभाव रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि मद्रास, बंगाल, महाराष्ट्र और

गुजरात में प्रादेशिक रूप से रंगमंच की परम्परा जारी रही, पर समूचे राष्ट्र के नाते हमारा रंगमंच समाप्त-प्रायः हो गया। पारसी कम्पनियाँ बम्बई अथवा कलकत्ता से उठकर देश के सभी प्रमुख नगरों में अपने नाटक दिखातीं और प्रशंसा पाती थीं। उनके अवसान के बाद, फिर आज तक राष्ट्रीय कहे जाने वाले रंगमंच का निर्माण नहीं हो सका। अब जब फ़िल्म-जगत के ख्याति-प्राप्त अभिनेता पृथ्वीराज कपूर ने अपने जोशीले साथियों के साथ नाटक कम्पनी कायम कर, देश के सभी प्रान्तों में बड़ी सफलता से रंगमंच के नाटकों का प्रदर्शन किया है, हमारे सामने राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण की समस्या और भी उग्र रूप से आ गई है। हमारे राष्ट्रीय रंगमंच का रूप कैसा हो, उसकी भाषा कैसी हो और उसका निर्माण कैसे हो, ये बातें बार-बार हमारे सामने आती हैं।

राष्ट्रीय रंगमंच का निर्माण वर्तमान स्थिति में तीन तरह का रूप ले सकता है :-

(१) पृथ्वी थीएटर्ज़ की तरह दूसरी नाटक कम्पनियाँ कायम हों और देश भर में अपने नाटक दिखाती फिरें।

(२) केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें अपनी-अपनी जगह नाटक-ऐकेडेमियाँ और रंगमंच कायम करें।

(३) एक सुगठित आन्दोलन के रूप में हमारी दैनिक और सामाजिक समस्याओं का हल सरल, बोध-गम्य और लोक-प्रिय नाटकों के रूप में प्रस्तुत करता हुआ ऐसा रंगमंच निर्मित हो, जिसमें हमारी राष्ट्रीय गति-विधि, रीति-नीति और इच्छा-आकांक्षाएँ मूर्त-रूप पायँ!

पहले रूप को लें तो जहाँ तक पृथ्वी थीएटर्ज़ का सम्बन्ध है, वह आदर्शोन्मुख होते हुए भी व्यापारिक है और उसकी सीमाएँ भी कुछ हद तक व्यापारिक कम्पनियों की सीमाएँ हैं। शुद्ध साहित्यिक नाटक खेलने का साहस वे भी नहीं कर सकते। पृथ्वी थीएटर्ज़ के अनुकरण में बनने वाली कम्पनियाँ (यदि बनें तो) प्रधानतः व्यापारिक होंगी और जहाँ एमेचर रंगमंच के मुकाबिले में, उनमें उत्तम साज़-सामान, अभिनय आदि देखने को मिलेगा, वहाँ इस बात का डर भी रहेगा कि उनमें व्यापारिक रंगमंच की वे त्रुटियाँ तो नहीं आ जातीं, जिनसे किसी हद तक पृथ्वीराज, अपने रंगमंच को बचाये हुए हैं। कहीं वे राष्ट्रीय समस्याओं को व्यक्त करने के बदले, उच्चकोटि के नाटक प्रस्तुत करने के बदले, आज की फ़िल्मों और पहले के पारसी रंगमंच की तरह, निम्न कोटि का मनोरंजन प्रस्तुत करने पर ही बस तो नहीं कर देतीं। व्यापारिक रंगमंच का उद्देश्य चूँकि पैसा कमाना होता है, इसलिए उसके मालिक इस बात का ध्यान रखते हैं कि वही चीज़ प्रस्तुत की जाय जो अधिकाधिक लोगों का मनोरंजन कर सके, फिर चाहे उसमें राष्ट्रीय जीवन, उसकी समस्याओं, इच्छाकांक्षाओं की झलक मिले या न मिले। आज की अधिकांश फ़िल्मों में जो हम ऐसी कहानियाँ पाते हैं जो भारत के किसी भी कोने के जीवन का चित्रण नहीं करतीं और जिनका उद्देश्य बहुत ही घटिया किस्म का मनोरंजन उपस्थित करना होता हैं तो उसका केवल यही कारण है कि वे केवल पैसा कमाने के उद्देश्य से बनाई जाती हैं और निम्नकोटि के दर्शकों का मनोरंजन करती हैं। पृथ्वीराज सरीखे आदर्शोपासक अभिनेता और निर्माता व्यापारिक रंगमंच पर केवल अपवाद बनकर रह जाते हैं। व्यापारिक रंगमंच की यह त्रुटि है, जिससे कि रंगमंच के निर्माताओं को (वे व्यापारी

ही क्यों न हों) बचना होगा। क्योंकि यदि वे ऐसा न करेंगे तो पारसी रंगमंच के निर्माताओं की तरह अपनी मौत आप मर जायँगे। कोई कला, जब जीवन का साथ देना छोड़ देती है तो गतिशील नहीं रहती।

राष्ट्रीय रंगमंच का निर्माण ऐसे भी हो सकता है कि इस काम को हमारी राष्ट्रीय सरकार अपने हाथ में ले ले और न केवल केन्द्र और प्रान्तों में ऐसी संस्थाएँ कायम करे जिनमें अभिनय-कला और रंगमंच सम्बन्धी दूसरी बातों की शिक्षा दी जाय, बल्कि ऐसे रंगमंच भी स्थापित करे, जिन पर सरकारी तत्वाविधान में सरकारी संस्थाओं द्वारा नाटक खेले जायँ। किन्तु इससे भी हमारे यथार्थ राष्ट्रीय रंगमंच का निर्माण होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता, हालांकि उसके निर्माण में व्यापारिक कम्पनियों की भाँति इन सरकारी रंगमंचों का भी महत्वपूर्ण योग होगा।

राष्ट्रीय रंगमंच का सबसे बड़ा उद्देश्य, जैसा कि मैंने कहा, हमारे राष्ट्र की समस्याओं और इच्छाकांक्षाओं को व्यक्त करना है। स्पष्ट है कि सरकारी रंगमंच की अपनी सीमाएँ हैं — पहले तो यह कि सरकारी रंगमंच सदा सरकारी रेड-टेप (Red Tape) का शिकार रहेगा और अपने तमाम साधनों के बावजूद वह चीज़ पैदा न कर सकेगा, जो चन्द कलाकार अपनी धुन में करके दिखा सकते हैं। दूसरे वह उस पार्टी के अधीन रहेगा, जिसकी सरकार होगी और प्रकट है कि दूसरे दलों के विचारों को उसमें कोई भी दख़ल न रहेगा। लेकिन यदि सरकारी रंगमंच का क्षेत्र ज़रा खुला कर दिया जाय और सरकार द्वारा इस बात की छूट दे दी जाय कि जो भी एमेचर या व्यापारिक कम्पनी चाहे, उस रंगमंच

का प्रयोग कर सकती है तो इससे हमारे राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण को बड़ा भारी प्रोत्साहन मिल सकता है। यदि कहीं हमारी सरकारें बड़े-बड़े नगरों और कस्बों में एक-एक ऐसा रंगमंच स्थापित कर दें, जिसके निर्माण पर खर्च तो सरकार का हो, पर नियंत्रण सरकार का न हो और स्थानीय और घुमक्कड़ कम्पनियाँ उसका प्रयोग कर सकें तो राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण की सबसे बड़ी बाधा दूर हो जाय!

वह बाधा क्या है? वह बाधा है हमारे नगरों और कस्बों में रंगशालाओं का नितान्त अभाव! एमेचर कम्पनियों की बात दूर रही, पृथ्वी थिएटर्ज़ भी इस अभाव से आक्रान्त है। बम्बई जैसे महानगर में एक भी ऐसी रंगशाला नहीं, जहाँ पृथ्वीराज रात के समय अपने खेल दिखा सकें। वहाँ सिनेमा-हालों के मंच पर दिन को नाटक होते हैं और दिन के समय नाटक का आकर्षण ही खत्म हो जाता है। फिर पृथ्वी थिएटर्ज़ अथवा उस जैसी व्यापारिक सफ़री कम्पनियाँ तो नगरों के सिनेमा-हाल किराये पर लेकर काम चला सकती हैं, किन्तु किसी नगर में किसी सफ़री नाटक कम्पनी के बाद नाटक खेलने की जो सहज प्रवृत्ति जग उठती है, वह अपनी प्रगति के लिए एक रंगशाला चाहती है। रंगशाला के अभाव में वह प्रवृत्ति अपने आप मर जाती है और उसकी जगह एक दुर्निवार शून्य ले लेता है।

जिन लोगों ने पारसी थिएटर कम्पनियों का ज़माना देखा है, वे जानते हैं कि उस समय बड़े-बड़े शहरों में मंडुवे (थिएटर हाल) बने होते थे, जहाँ सफ़री नाटक कम्पनियाँ आकर अपने नाटक खेला करती थीं और एमेचर कम्पनियाँ भी उनका प्रयोग कर सकती थीं। पारसी थीएटर चूंकि जीवन के निकट न था और उसका सबसे बड़ा गुण बड़े भव्य दृश्य रंगमंच पर प्रस्तुत करना, अनुप्रासमय सम्वाद बोलना और

घटिया किस्म के नाच-गाने और हास्य प्रस्तुत करना था, इसलिए जब चित्र-पट पर यही सब कुछ बड़े कम समय और कम टिकट पर होने लगा तो पारसी थीएटर अपने आप मर गया। उसकी जगह लेने वाले किसी जीवन्त रंगमंच के अभाव में, वे मंडुवे सिनेमाघरों में परिवर्तित हो गये। आज यदि कोई एमेचर अथवा व्यापारिक कम्पनी नाटक खेलने का बीड़ा उठाना चाहती है तो उसके सामने सबसे बड़ी बाधा अच्छी रंगशाला के अभाव के रूप में उठ खड़ी होती है। उनको ऐसा रंगमंच चाहिए जिस पर वे कम-से-कम किराया देकर नाटक खेल सकें। सिनेमाघरों के मालिक फ़िल्म डिस्ट्रिब्यूटरों से किराये अथवा रायल्टी के रूप में भारी रकम पाते हैं। उनकी रायल्टी कम होती है तो फ़िल्म को हटा देते हैं। ऐसी स्थिति में नाटक कम्पनियों को बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ता है और यही बाधा प्रायः हमारे देश में कई उत्साहियों के हौसले पस्त कर देती है। यदि सरकारी रंगशालाएँ नगर-नगर कायम हो जायँ तो हमारा रंगमंच, जो आज एक दो अपवादों को छोड़कर लगभग सोया सा प्रतीत होता है, एक दम बाढ़ पर आई हुई नदी के वेग सरीखा गतिशील हो उठे।

इस समय देश में नगर-नगर और कस्बे-कस्बे नाटक खेलने की प्रवृत्ति जग रही है। यह प्रवृत्ति जगकर सो न जाय और उसकी जगह फिर शून्य न ले ले, इसके लिए ज़रूरी है कि शहर-शहर और कस्बे-कस्बे रंगशालाएँ स्थापित हों। यदि राष्ट्रीय सरकार इस काम में अगुवाई करे और सारे शहरों और कस्बों में न सही, चंद बड़े नगरों में आधुनिक साधनों से लेस रंगशालाएँ कायम कर दे तो कोई कारण नहीं कि उसकी देखा देखी व्यापारी लोग ऐसी रंगशालाएँ न बना दें, जहाँ सफ़री और एमेचर कम्पनियाँ पारसी थिएटर के ज़माने की तरह, नाटक खेल सकें। इसमें

कोई शक नहीं कि इस समय पृथ्वी थिएटर या धनी व्यापारिक अथवा धनी एमेचर संस्थाएँ अपने स्थानीय सिनेमा हालों का प्रयोग कर सकती हैं, किन्तु वास्तव में फ़िल्म और नाटक के रंगमंच में बड़ा भेद है। सबसे बड़ा अन्तर तो यह है कि थिएटर हाल में पहला दर्जा आगे और पिछला दर्जा पीछे होता है, लेकिन सिनेमा हाल में पहला दर्जा पीछे और पिछला दर्जा आगे रहता है। पिछले दर्जे वाले नाटक को पूरी तरह सुन सकें, इसलिए रंगशाला-भवन ऐसे बने होने चाहिएँ कि पीछे बैठने वाले रंगमंच से दूर न पड़ जायँ। इसके अतिरिक्त ध्वनि-प्रसार की दृष्टि से भी दोनों के भवनों मं बड़ा अन्तर है। सिनेमा हाल से इस बात की अपेक्षा रखी जाती है कि वह लाउड-स्पीकर की गूंज को कम करे। रंगमंच का भवन ऐसा होना चाहिए जो अभिनेताओं की आवाज़ को गुंजा दे। आज नाटक खेलने के लिए नयी तरह के भवनों की आवश्यकता है और इस काम में हमारी सरकार ही अगुवाई कर सकती है।

राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण में ऐसी शिक्षण संस्थाओं (एकेडेमियों) का बड़ा हाथ है जो अभिनय और निर्देशन-कला की शिक्षा दे सकें। आज जो मेक-अप कर सकता है, वह अपने आपको अभिनेता समझने लगता है। यही बात निर्देशकों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। हालाँकि नाटकीय कला, दूसरी कलाओं की भाँति बड़ी निष्ठा, अध्यवसाय और अनुभव चाहती है। सरकारी एकेडेमियाँ बड़ी हद तक इस ज़रूरत को पूरा कर सकती हैं और राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण में योग दे सकती हैं।

लेकिन राष्ट्रीय रंगमंच के ये दोनों रूप अपनी आधारभूत त्रुटियों

के कारण हमारे राष्ट्रीय रंगमंच को वह भव्यता प्रदान नहीं कर सकते, जिसका कि वह अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं के कारण अधिकारी है। किसी भी राष्ट्र का रंगमंच उस समय तक पूरे तौर पर राष्ट्रीय नहीं कहला सकता, जब तक कि वह राष्ट्र की पुरानी कलाकृतियों को देश-वासियों के सम्मुख रखने के साथ-साथ देश की नयी विचार-धाराओं का दिग्दर्शन नहीं कराता। सस्ते मनोरंजन से धन एकत्र करने वाली व्यापारिक कम्पनियाँ भारतेन्दु हरिश्चंद्र और जयशंकर प्रसाद के नाटक नहीं खेल सकतीं और प्रगतिशील विचार धाराओं को सरकारी संस्थाएँ प्रस्तुत नहीं कर सकतीं। इसके लिए एक सुसंगठित आन्दोलन की आवश्यकता है। वह आन्दोलन कोई नेता ही चलाये, ऐसी बात नहीं। नाटक में दिलचस्पी लेने वाले अपने-अपने दायरे में भली-भाँति इसे चला सकते हैं। प्रकट है कि यह आन्दोलन एमेचर होगा। व्यापारिक कम्पनियाँ और सरकार के तत्वाविधान में किये जाने वाले नाटक इसे प्रोत्साहन तो देंगे ही, पर शक्ति यह अपने ही अन्दर से ग्रहण करेगा। एमेचर-रंगमंच-आन्दोलन को (कम-से-कम नगरों और कस्बों में) पूर्ण रूप से सफल होने के लिए चौमुखा रूप धरना होगा। एक ओर रीडिंग क्लब होंगे, दूसरी ओर ड्राइंग-रूम क्लब, तीसरी ओर एमेचर रंगशालाएं और चौथी ओर ओपन एयर रंगमंच।

रीडिंग क्लब—यह स्कूलों-कालेजों की नाटक समितियों के तत्वाविधान में खोले जा सकते हैं और स्वतंत्र रूप भी ले सकते हैं। इन क्लबों में अच्छे-अच्छे नाटक पढ़े जाने चाहिएँ। पढ़े जाने का यह मतलब नहीं कि स्वयं नाटककार वहाँ जाकर अपने नाटक पढ़े। मतलब यह है कि एक नाटक चुन लिया जाय, उसके पार्ट समिति के सदस्यों में बाँट दिये जायँ और एक दिन नियत कर लिया जाय। उस दिन वे

लोग इस प्रकार नाटक पढ़ें, जैसे वे उसे खेल रहे हों। यहीं पता चल जायगा कि नाटक में कितना दम है, कि कौन सदस्य किस पात्र के लिए उपयुक्त है। जो नाटक रीडिंग समिति में सफल हो जाय, उसे दूसरी अथवा तीसरी बार स्टेज पर ले जाया जा सकता है।

ड्राइंग रूम क्लब—ड्राइंग रूम या घरेलू नाटक का स्तर जहाँ तक अभिनय का सम्बन्ध है, उपरोक्त पढ़े जाने वाले नाटक से ज़रा ऊँचा होगा। कोई बड़ा ड्राइंग रूम हो या किसी क्लब का हाल हो, दो एक तख्तों को मिला कर बनाया गया छोटा सा मंच हो, गृहपति के मित्र अथवा क्लब के सदस्य ही दर्शक हों, चंद एक पात्रों वाला छोटा सा नाटक हो—बस इससे अधिक ड्राइंग रूम में खेले जाने वाले नाटक के लिए कुछ नहीं चाहिए।

एमेचर रंगशाला—घरेलू रंगमंच की स्टेज पार कर नाटक एमेचर रंगशाला पर आयेगा। दिल्ली का 'वेवल थियेटर' इसी प्रकार की रंगशाला है, जहाँ छोटी-छोटी एमेचर संस्थाएँ अपने नाटक करती हैं। सरकारी रंगशालाएँ कायम हुईं तो वहाँ, नहीं तो एमेचर सोसाइटियाँ किसी स्थानीय सिनेमा हाल को दो-तीन दिन के लिए किराये पर लेकर नाटक खेल सकती हैं। पहले दो पड़ाव अर्थात् रीडिंग और ड्राइंग रूम क्लब इस मंज़िल तक पहुँचने के लिए कितने ज़रूरी हैं, इसकी कल्पना की जा सकती है। इन तीन तरह के नाटकों को पढ़ने अथवा खेलने के लिए अलग-अलग समितियाँ बनाने की आवश्यकता नहीं। एक ही समिति इस काम को भली भाँति सरंजाम दे सकती है।

ओपन एयर थीएटर—एमेचर रंचमंच के आन्दोलन में खुले मंच के नाटकों का बड़ा महत्व है, क्योंकि हमारे देहात का नाटक यदि कोई रूप लेगा तो वह यही होगा। नौटंकी और रास लीला के सम्मिश्रण

से नये नाटकों का आविर्भाव होगा जो खुले मंच पर देहात के लोगों की समस्याओं को उनके सामने रखेंगे। शहरों में भी ऐसे रंगमंच कायम किये जा सकते हैं। लाहौर का 'ओपन एयर थियेटर' इसकी मिसाल है, जहाँ एमेचर संस्थाएँ बड़ी सफलता से नाटक खेलती थीं।

राष्ट्रीय रंचमंच के निर्माण में व्यापार, सरकार और सुधार (जो एमेचर संस्थाओं द्वारा ही हो सकता है) का एक जैसा महत्व है। बिना इसके हमारे राष्ट्रीय रंगमंच का पूरा निर्माण नहीं हो सकता।

जहाँ तक राष्ट्रीय रंगमंच की भाषा का सम्बन्ध है, उसे लोकप्रिय होना चाहिए ताकि वह प्रादेशिक न होकर सचमुच राष्ट्रीय कहला सके। पुराने नाटकों की बात और है। उन्हें उसी भाषा में खेला जायगा और उनकी अपील भी कम होगी। लेकिन नये नाटक में यदि भाषा क्लिष्ट होगी तो वह नाटक प्रादेशिक रूप ही से सफल हो सकेगा। प्रादेशिक बोलियों में नाटक खेले जायँ, इसके लिए रंग-शालाओं की सुविधा होनी चाहिए और सफल एमेचर संस्थाएँ यह काम करेंगी भी, किन्तु यदि नाटक को राष्ट्रीय रूप में सफल होना है तो उसकी भाषा आसान ही रहेगी। स्व० प्रसाद के नाटकों के सम्बन्ध में 'नयी धारा' पटना के एक आलोचक ने लिखा है कि उनके साथ तभी न्याय हो सकता है, जब लाख दो लाख रुपये हों, क्षण-क्षण पर बदलने वाले दृश्यों को ठीक करने के लिए सौ कारीगर हों, साहित्य रत्न पास और बहुत ही निष्णात अभिनेता हों और विशारद से लेकर काव्यातीर्थ तक या कालेज की ऊँची शिक्षा प्राप्त दर्शक हों और बिना डिग्री देखे टिकट न दिया जाय। और आलोचक ने व्यंग्य से लिखा है कि

'न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी।' राष्ट्रीय रंगमंच यदि प्रसाद के नाटकों को, चाहे वे शिक्षित युवकों के मनोरंजनार्थ ही क्यों न हों, खेलने की सुविधा नहीं दे सकता तो वह राष्ट्रीय नहीं है, क्योंकि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा प्रसाद के नाटक हमारी राष्ट्रीय साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्परा के आवश्यक अंग हैं। व्यापारिक कम्पनियाँ यदि उन्हें न खेलेंगी तो सरकारी रंगमंचों पर निश्चय ही ये अभिनीत होंगे। किन्तु यह भी सच है कि प्रसाद के नाटक देश के कोने-कोने में नहीं दिखाये जा सकते। उस काम के लिए ऐसे नाटकों का चुनाव आवश्यक है जिनकी भाषा को मद्रासी, मराठी, गुजराती, बंगाली, पंजाबी, काश्मीरी समान-रूप से समझ सकें और जिन्हें आसानी से से खेला जा सके।

सरल भाषा के साथ-साथ हमारे राष्ट्रीय रंगमंच को हमारे लोक-नाटकों से भी प्रेरणा प्राप्त करनी होगी। और ऐसे नाटकों का सृजन करना होगा जो शहरों ही में नहीं, बल्कि ग्रामों में भी दिखाये जा सकें, नगरवासियों की समस्याओं को ही नहीं, किसानों और मजदूरों की समस्याओं को भी समान-रूप से व्यक्त कर सकें। जब रहस, नौटंकी, गुजराती ख्याल, और उत्तरप्रदेशीय रामलीला और रास आदि के सम्मिश्रण से नयी समस्याओं को नये रूपों में ढाल कर, नाटकों को शहरों और गाँवों में, सरल और बोधगम्य भाषा और गीतों के साथ प्रस्तुत किया जायगा, तभी हमारा राष्ट्रीय रंगमंच अपनी भव्यता को प्राप्त करेगा।

आधुनिक नाटक का रुझान

इस संक्रान्ति काल में, जब भारत का साहित्य नये दृष्टिकोण, दृष्टिमूल्य, उद्देश्य और आदर्श अपना कर प्रगति के पथ पर अग्रसर है, नाटक भी स्थिर नहीं रहा। गत पैंतीस-छत्तीस वर्ष के अन्दर इसने भी नये दृष्टिकोण और दृष्टिमूल्य अपनाये हैं। इसका ध्येय और आदर्श भी बदला है और आज यह जिस मंज़िल की ओर गतिशील है, वह भी इतनी अस्पष्ट नहीं कि जानी न जा सके।

आधुनिक नाटक की विशेषताओं और उसके रुझान को जानने के लिए ज़रा पहले के नाटक और उसकी विशेषताओं पर नज़र डाली जाय तो मालूम होगा कि इस समय नाटक जिस स्थान पर है, उस पर पहुँचने के लिए वह तीन मंज़िलों (stages) से गुज़र चुका है।

पहली मंज़िल वह थी, जब पूरे का पूरा नाटक पद्य में होता था।

उसे शाही सरपरस्ती हासिल थी और जनता से उसका सम्बन्ध नहीं के बराबर था। इस युग के नाटकों में सबसे अधिक ख्याति 'अमानत' के 'इन्द्रसभा' ने पाई। अमानत नवाब वाजिद अली शाह के दरबारी कवि थे और उन्होंने नवाब की इच्छा के अनुसार 'इन्द्रसभा' की रचना की थी। वह नाटक सारे का सारा कविता में था और नवाब वाजिद अली शाह स्वयं उसमें राजा इन्द्र का पार्ट किया करते थे।

दूसरी मंज़िल पर नाटक ने कुछ हद तक पद्य का दामन छोड़ने का प्रयास किया। शाही रंगशाला से हट कर यह (नाटक) कारोबारी रंगमंच पर आया और यद्यपि इसने जन-जीवन का यथार्थ चित्रण नहीं किया, लेकिन एक आदर्श पूर्ण रंग में जनता की समस्याओं को अपनाया और शाही-पसन्द के बदले जनता की प्रसन्नता को अपना उद्देश्य बनाया। हुआ यों कि इन्द्रसभा व्यावहारिक रंगमंच पर भी काफ़ी लोकप्रिय हुआ और उसकी तरज़ पर पारसी थीएटर और दूसरी कम्पनियों ने, जिनमें मुसलमान अभिनेताओं का आधिक्य था, 'लैला मजनू', 'सब्जाद सम्बुल', 'गुलबकावली', 'शीरीं फ़रहाद' आदि नाटक खेले— न केवल इन नाटकों की भाषा उर्दू थी, बल्कि काव्यमयी भी थी। जब उन नाटकों को हिन्दू भी देखने के लिए आने लगे तब उन नाटक कम्पनियों ने 'तालिब' रचित 'हरिश्चन्द्र', 'सीता स्वयम्बर', 'द्रौपदी स्वयम्बर', 'राजा गोपीचन्द' आदि नाटक भी खेले।

तब हिन्दी में नाटकों का सर्वथा अभाव था। भारतेन्दु बाबू हिन्दी के सर्वप्रथम नाटककार हैं, लेकिन उनके नाटक वैसे ही साहित्यिक नाटक हैं, जैसे बाद के दौर में बाबू जयशंकर प्रसाद के। हाँ हिन्दू दर्शकों की रुचि के ख्याल से पारसी रंगमंच पर भी हिन्दी के नाटक खेले गये, लेकिन उनकी शैली, टेकनिक और ट्रीटमेंट पारसी ही थे।

इन नाटककारों में नारायण प्रसाद 'बेताब', पण्डित राधेश्याम कथावाचक हरिकृष्ण 'जौहर' और आगा हश्र काश्मीरी बहुत प्रसिद्ध हुए। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि ये नाटककार हिन्दी-उर्दू दोनों शैलियों में नाटक लिख लेते थे। हिन्दू धार्मिक नाटक हिन्दी में और दूसरे उर्दू में। 'आगा हश्र' और राधेश्याम को इस युग में असीम लोक-प्रियता प्राप्त हुई और उन्हीं के नाटकों से हम इस युग की विशेषताओं का अनुमान लगा सकते हैं।

सबसे पहली चीज़ जो इन नाटको में ध्यान को अपनी ओर खींचती है, वह उनके सम्वादों की भाषा है। इन्द्रसभा' के पद्य को गद्य तक लाने में नाटककार को कितना कष्ट होता था और वह किस प्रकार पद्य का दामन थामे रखना चाहता था, इस बात का अन्दाज़ा इस दौर के नाटकों की अनुप्रासमयी भाषा से हो सकता है। 'हश्र' के नाटक 'गोरख धन्धा' का एक छोटा-सा सम्वाद लीजिए। दृश्य वह है, जहाँ 'गोरख धन्धा' खुल जाता है और पता चल जाता है कि एन्टोन्यो रोमी और शामी दोनों जुड़वाँ भाई हैं।

सुनार : देखिए सरकार, यह रहा मेरा तिलाई हार, अब तो ज़ाहिर हो गया कि मैं झूठा हूँ या रास्त-गुफ़्तार !

ए० रोमी : फिर वही तकरार ! यह लो थामो अपना तिलाई हार ! मुझे यह झगड़े का तोहफ़ा नहीं दरकार !

और फिर इसी अनुप्रासमयी भाषा पर बस नहीं। उस समय के नाटकीय सम्वादों में पग-पग पर शेर होते थे। राधेश्याम के प्रसिद्ध नाटक 'मशरिकी हूर' का एक छोटा सा दृश्य लीजिए। सीन वह है जहाँ हमीदा (मर्दाने वेश में) थक कर चट्टान पर सो जाती है और कमाल और जमाल उसे बाँध लेते हैं और सेना-नायक दिलेरजंग शिकार

खेलता-खेलता वहाँ पहुँच जाता है और हमीदा को उनके चंगुल से रिहा करता है। जब वह उन दोनों को उनके अत्याचार का दंड देने लगता है तो हमीदा उसे रोकती है। उस समय दिलेरजंग चकित होकर उससे पूछता है :

दिलेरजंग : ह-एँ ! तुम इनकी सिफ़ारिश करते हो।

हमीदा : (मर्दाने वेश में) हाँ मैं इनकी सिफारिश करता हूँ।

खुदा ने जब बाजुओं को ताकत
जिगर को दमख़म अता किया है
तो उसने लुत्फ़ो-करम के जज़बे से
दिल का प्याला भी भर दिया है

जहाँ है काँटा, वहीं है गुल भी
जहाँ ख़ता है, वहीं अता है
उदू का सर काटने के बदले
मुआफ़ करना बहुत बड़ा है

दिलेरजंग : मैं नहीं समझता कि जो तुम्हें मार डालने के लिए तुम्हारे गले में फंदा डाल रहे थे, तुम उनकी जान क्यों बचाते हो ?

हमीदा : इसलिए कि ये मेरे भाई हैं।

दिलेरजंग : भाई ! यह तो और भी अफ़सोसनाक बात सामने आई। भाई होकर ऐसी कारवाई, ये भाई हैं या कसाई !

लुत्फ़ो-करम का जज़बा=कृपा और करुणा का भाव; गुल=फूल; ख़ता=अपराध; अता=क्षमा; उदू=शत्रु

है इक भाई इधर, इनके लिए जो दस्तबस्ता[1] है
हैं दो भाई उधर, हाथों में जिनके एक रस्सा है
अजब है इसके नज़्ज़ारे, यह दुनिया एक तमाशा है
कोई शैतां की सूरत है, कोई शक्ले-फ़रिश्ता है
वो सूरत वो है मारे आस्तीं[2] बस जिसको कहते हैं
जहाँ वालो इधर देखो बिरादर[3] इसको कहते हैं

---

१ दस्त-बस्ता=कर-बद्ध; २ मारे आस्तीं=आस्तीन का साँप; ३ बिरादर=भाई

राधेश्याम जी के हिन्दी नाटक श्री कृष्ण-अवतार का भी एक टुकड़ा देखिए—भाषा के परिवर्तन के अतिरिक्त शैली में कोई अन्तर नहीं। दृश्य राजमार्ग का है, जब कंस अपनी बहन को रथ में सुसराल छोड़ने जाता है तो आकाशवाणी होती है :

इस देवकी माता का अष्टम जो लाल होगा
बतलाये देते हैं हम, वह तेरा काल होगा

कंस : ह-ऐं देवकी का आठवां लाल—मेरा काल ! झूठ सब झूठ !!

हिमालय और सागर मेरी क्रीड़ा के निकेतन हैं
धरणि-आकाश दोनों मानते मेरा ही शासन हैं
चरण भी धर नहीं सकता है नारायण मेरे घर में
कि सोता है मेरे डर से सदा वह क्षीर-सागर में

(कुछ सोचकर) अच्छा, कदाचित् यह गुप्त-योजना सत्य हो तो भी चिन्ता नहीं। जिस देवकी का आठवां लाल मेरा काल होगा, उसको आज नष्ट किये डालता हूँ। बस फिर कुछ खटका नहीं।

और इस अनुप्रासमयी भाषा और शेरों के साथ-साथ इन नाटकों में आज-कल के आम फ़िल्मों की तरह जगह-जगह गाने और नाच भी होते थे। आज कल ही के फ़िल्मों की तरह वहाँ रोया भी जाता था तो सुर और ताल के साथ!

दूसरी बात इन नाटकों का ड्रामाई अन्दाज़ था। आज अभिनेताओं से अपेक्षा रखी जाती है कि वे ऐसे स्वाभाविक ढंग से अभिनय करें कि दर्शक भूल जायँ, वे नाटक देख रहे हैं, पर तब दर्शक अथवा निर्देशक यह समझते थे कि वह नाटक ही क्या जो नाटकीय ढंग से अदा न किया जाय! और यही कारण था कि सारे शेर और सम्भाषण पिछले दर्जे में बैठने वालों को सुना कर अदा किये जाते थे और खूब हाथ पैर पटके जाते थे। शेरों की अन्तिम दो पंक्तियों में सदा इस बाद की गुंजाइश रहती थी।

वो सूरत वो है मारे-आस्तीं बस जिसको कहते हैं
जहाँ वालो इधर देखो बिरादर इसको कहते हैं!

यह अंतिम पंक्ति पहले दर्शकों और फिर कर-बद्ध हमीदा की ओर संकेत करते हुए, दिलेरजंग बिल्कुल नृत्य के अन्तिम तोड़े की तरह अदा करता था।

न लोहा ही रहेगा तो बनेगी फिर छुरी क्योंकर
न होगा बाँस ही तो फिर बनेगी बांसुरी क्योंकर
उखाड़ूँगा मैं जड़ ही को बनेगी डाल फिर कैसे
न होगी देवकी ही जब तो होगा लाल फिर कैसे

और यह क्रम नाटक के अन्त तक चलता है।

सम्भाषणों और शेरों की बात नहीं, स्वगत-वाक्य भी इतने ज़ोर से अदा किये जाते थे कि स्टेज पर काम करने वाले साथी तो दूर रहे, अन्तिम बेंचों पर बैठे हुए दर्शक भी इन 'अपने मन से कहे हुए वाक्यों' को भली-भाँति सुन लेते थे।

फिर ये स्वगत-भाषण दो तरह के होते थे। एक वे, जो दूसरे पात्रों की अनुपस्थिति में अपने आपसे कहे जाते थे और दूसरे वे, जो रंगमंच पर प्रवेश करते ही अथवा किसी दूसरे पात्र के चले जाने पर अपने आप से कहे जाते थे और कई बार ये इतने लम्बे होते थे कि कई-कई मिनट तक पात्र रंगमंच पर घूमता रहता और बड़ी ऊँची आवाज़ में अपने आप से बातें करता। यह नाटकीय ढंग उस समय के आदर्श-पूर्ण काल्पनिक कथानकों के लिए होता हुआ भी अत्यन्त अस्वभाविक मालूम होता था।

इस दौर के नाटकों की तीसरी विशेषता इनमें एक साथ दो कथानकों का गुथा होना है। यद्यपि 'अहसन' और नारायण प्रसाद 'बेताब' ने एक ही कथानक से काम लेने की कोशिश की है, लेकिन दो किस्सों—एक ट्रेजिक या गम्भीर और दूसरा कॉमिक या मज़ाकिया—का यह रोग सीधे हश्र और रहमत तक आया।

उस समय टॉकी तो दूर रही, खामोश फ़िल्म भी अभी हिन्दुस्तान में न आया था। ज़िन्दगी भी इतनी विषम और व्यस्त न हुई थी, इसलिए उस समय नाटक काफ़ी लम्बे होते थे और प्रायः सारी-सारी रात खेले जाते थे। पाँच-पाँच एक्ट और उनमें कई-कई दृश्य होते थे। पैसे वालों के लिए वेश्याएँ मनोरंजन का सामान जुटाती थीं तो आम लोगों के लिए नाटक। और जिस प्रकार वेश्याओं को आम जीवन से कुछ सम्बन्ध न था, उसी प्रकार इन नाटकों को भी जीवन से

कुछ वास्ता न था। दोनों का उद्देश्य दर्शकों का मनोरंजन था, समाज की किसी बुराई का सुधार नहीं। यह काम किसी हद तक साहित्यिक नाटक पूरा करते थे। व्यावसायिक कम्पनियाँ तो मनोरंजन और सुधार को लगभग ऐसे मिला देती थीं, जैसे आज के फ़िल्म-निर्देशक!

इसके अतिरिक्त उस समय के नाटकों में समय स्थान और कार्य-व्यापार के संकलन का नितान्त अभाव था। एक ही एक्ट के विभिन्न दृश्यों में वर्षों का व्यवधान होता था। और एक दृश्य यदि एक शहर में होता तो दूसरा सौ योजन की दूरी पर दूसरे शहर में, इसलिए सारी मनोरंजकता के होते भी वे यथार्थ का भ्रम क़ायम करने में असफल रहते थे।

यहीं दो शब्द साहित्यिक नाटकों अथवा एमेच्वर स्टेज पर खेले जाने वाले नाटकों के बारे में कहना आवश्यक है। साहित्यिक नाटकों की प्रथा हर दौर में समानान्तर रेखाओं सी चलती रही है। जहाँ तक टेकनिक का सम्बन्ध है, दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं, पर उद्देश्य में ज़रूर अन्तर है। भारतेन्दु बाबू ने जो नाटक लिखे, उनमें भी बड़े लम्बे स्वगत-भाषण और पद्य हैं। सत्य हरिश्चन्द्र के तीसरे अंक में काशी के घाट किनारे की सड़क पर राजा हरिश्चन्द्र घूमते दिखाई देते हैं। बस नाटककार ने इतना निर्देश किया है। इसके बाद पूरे तीन पृष्ठ तक हरिश्चन्द्र ही का स्वगत-भाषण है जिसमें गद्य की कुछ ही पंक्तियाँ हैं, शेष सब पद्य है। एक टुकड़ा देखिए :

[स्थान—काशी के घाट किनारे की सड़क—महाराज हरिश्चन्द्र घूमते दिखाई देते हैं।]

हरिश्चन्द्र : (स्वगत) देखो काशी भी पहुँच गये। अहा धन्य है काशी। भगवति वाराणसि। तुम्हें अनेक प्रणाम हैं।

अहा काशी की कैसी अनुपम शोभा है :

(इसके बाद काशी के भूगोल सम्बन्धी तीन कवित्त हैं । फिर)

हरिश्चन्द्र : देखा जैसा ईश्वर ने यह सुन्दर अँगूठी के नगीने सा नगर बनाया है वैसी ही नदी भी इसके लिए दी है। धन्य गंगे !

(और एक कवित्त गंगा के महातम सम्बन्धी है:)

जम की सब त्रास विनाश करी मुख ते निज नाम उचारन में,
सब पाप प्रतापहिं दूर दरयो तुम आपन आप निहारन में।
अहो गंग अनंग के शत्रु करे बहु, नेकु जले मुख डारन में,
गिरिधारन जू कितने बिरचे, गिरिधारन, धारन, धारन में

—: कुछ महातम पर ही नहीं, गंगा जी का जल भी ऐसा उत्तम और मनोहर है। अहा !......

इसके बाद गंगा की प्रशंसा में सात चरण की प्रसिद्ध कविता 'नव उज्जल जलधार हार'...दी गई है। और यह क्रम और दो पृष्ठ आगे तक चलता है।

आज के मंच पर यह सब एक दम असह्य होगा, पर उस समय के व्यापारिक मंच पर भी, जहाँ बड़े-बड़े स्वगत-भाषण होते थे, यह सब सुन्दर कवित्त बर्दाश्त न किये जाते। वह सब प्रस्तुत करना भी होता तो हास्य अथवा नृत्य की चटनी के साथ प्रस्तुत किया जाता।

राधेश्याम और बाबू हरिश्चन्द्र के नाटकों के इन उद्धरणों में एक अन्तर है और एक साम्य। अन्तर यह है कि सत्य हरिश्चन्द्र के पद्यों में 'मशरिकी हूर' अथवा 'कृष्ण जन्म' के पद्यों से कहीं अधिक साहित्यिकता

है। साम्य यह है कि दोनों में पद्य का आधिक्य है, दोनों अस्वाभाविक और काल्पनिक हैं।

बाबू हरिश्चन्द्र के नाटकों को पारसी नाटकों के साथ पढ़ने से पता चलेगा कि हरिश्चन्द्र ने अपने नाटकों में भोंडे हास्य तथा वेश्याओं के नृत्य आदि को नहीं आने दिया और मनोरंजन की अपेक्षा सुधार-पक्ष को प्रधानता दी। प्रकट है कि व्यावसायिक रंगमंच पर, जिसका उद्देश्य सस्ता मनोरंजन उपस्थित करना था, ये नाटक उतने सफल न हुए।

तीसरा दौर पारसी थीएटर के ह्रास और सिनेमा के उत्थान का है। इसमें एक ओर व्यावसायिक थीएटर का ह्रास हुआ, दूसरी ओर एमेचर थीएटर का उत्थान। व्यावसायिक रंगमंच क्योंकि बदलते हुए ज़माने के साथ नहीं बदला, इसलिए वह फ़िल्म से मात खा गया। पहले पहल कलकत्ता की मदन थीएट्रीकल कम्पनी और बम्बई की एलफ़ेड थीएट्रीकल कम्पनी ने अपने आपको फ़िल्म कम्पनियों में परिवर्तित किया, उनके कुछ खेल फ़िल्माये भी गये, आगा हश्र और तुलसीदत्त शैदा आदि फ़िल्म के लिए लिखने लगे। नसार और भगवान दास फ़िल्म के पर्दे पर उतरे और कज्जन तथा मुख्तार फ़िल्म की अभिनेत्रियाँ बनीं। हश्र को तो कुछ सफलता मिली भी, शेष मात खा गये और वे थीएट्रिकल कम्पनियाँ जो फ़िल्म कम्पनियों में परिवर्तित हुई थीं, फ़ेल हो गईं।

रंगमंच के लिए नाटकों का लिखना बन्द हो गया, लेकिन साहित्यिक नाटकों का प्रणयन जारी रहा। हिन्दी में श्री जयशंकर प्रसाद ने बाबू हरिश्चन्द्र की परम्परा को आगे बढ़ाया और एक के बाद एक

सुन्दर नाटक हिन्दी को दिया। हिन्दी में साहित्यिक नाटकों की इस वृद्धि का कारण बंगाल के सुप्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का हिन्दी अनुवाद भी है। उस ज़माने में द्विजेन्द्रलाल राय के सभी प्रमुख नाटक हिन्दी में आ गये और उनकी लोकप्रियता ने हिन्दी नाटककारों को बड़ा प्रभावित किया था। इस दौर में प्रसाद, मिश्र, उदय शंकर भट्ट और हरिकृष्ण प्रेमी ने नाटक लिखे।

जहाँ तक इन नाटकों की टेकनिक का सम्बन्ध है, ये जहाँ रंगमंच से दूर होते गये, वहाँ उनमें साहित्यिकता बढ़ती गई। इन लेखकों ने भाषा और भाव पर अधिक ज़ोर दिया। प्रसाद के नाटकों की भाषा तो इतनी क्लिष्ट है और भाव इतने दुरूह हैं कि उन्हें खेलने वाले ही नहीं, देखने वाले भी बहुत पढ़े लिखे होने चाहिएँ।

यद्यपि इस दौर के नाटकों में वेश्यागान, भोंडा हास्य, अनुप्रासमयी भाषा, सूत्रधार आदि से नाटक का शुरू होना, टेबला आदि नहीं है, लेकिन संकलन-त्रय का अभाव वैसा ही है। स्वगत-भाषण भी काफ़ी लम्बे हैं और गाने भी प्रायः अस्वाभाविक हैं। 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' के पहले अंक का दूसरा दृश्य उत्तंक के बड़े लम्बे स्वगत से आरम्भ होता है और सारे नाटक में कहीं स्वाभाविकता नहीं। नाटक के पात्र बड़ी लम्बी, पाठक के लिए ऊबा देने वाली, बहसें करते हैं और किसी निश्चित स्थान पर बिना किसी प्रयोजन के पुतलियों की तरह आ इकट्ठे होते हैं।

इस दौर के नाटकों में यद्यपि बात-बात पर शेर कहने की प्रथा नहीं, पर उसका मोह बिल्कुल नहीं छूटा। छूटा तो धीरे-धीरे छूटा। प्रसाद के अजातशत्रु के पहले अंक के पहले दृश्य में उसी प्रकार पद्य का पुट है, जैसे आगा हश्र अथवा राधेश्याम के नाटकों में। दृश्य वह है,

जब अजातशत्रु की बहिन पद्मावती उसे लुब्धक को मारने से रोकती है, जो राजकुमार के चित्रक से खेलने को मृगशावक न लाया था। पद्मावती का कहना है कि अजात शत्रु को हिंसक नहीं अहिंसक बनना चाहिए, राजा होने के बदले अच्छा मनुष्य होना चाहिए! तभी छोटी रानी 'छलना' आती है और वह पद्मावती पर अभियोग लगाती है कि वह अजात शत्रु को डरपोक बनाकर उसका राज्य छीन लेना चाहती है। बड़ी रानी बासवी भी यह सब सुनती है और कहती है :

बासवी : यह मैं क्यादेख रही हूँ ? यह गृह-विद्रोह की आग तू क्यों जलाया चाहती है ? राज-परिवार में क्या सुख अपेक्षित नहीं है।

बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में।
कुल-लक्ष्मी हो मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में।
बन्धु-वर्ग हों सम्मानित, हों सेवक सुखी प्रणत अनुचर
शान्तिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर।

फिर दूसरे दृश्य में जब बिम्बसार के महल में महाश्रमण भगवान गौतम पधारते हैं और महाराज बिम्बसार कहते हैं कि भगवान ने पधार कर अनुगृहीत किया तो गौमम कहते हैं :

गौतम : राजन कोई किसी को अनुगृहीत नहीं करता, विश्व भर में यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा है जो प्राणिमात्र में सम-दृष्टि रखती है :

गोधूली के राग पटल में स्नेहाँचल फहराती है।
स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में हास-विलास दिखाती है।

मुग्ध मधुर बालक के मुख पर चन्द्रकान्ति बरसाती है।
निर्निमेष ताराओं से वह ओस बून्द भर लाती है।
निष्ठुर आदि-दृष्टि पशुओं की विजित हुई इस करुणा से
मानव का महत्व जगत पर फैला करुणा अरुणा से

लेकिन प्रसाद ही के यहाँ यह शैली धीरे-धीरे स्वाभाविकता की ओर बढ़ी। चन्द्रगुप्त में, जो प्रसाद के नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है, यह शैली एकदम लुप्त हो गई। गाने वहाँ अवश्य हैं, लेकिन तब नृत्य-गान-विहीन नाटक की कल्पना भी न की जा सकती थी।

इस दौर में उर्दू नाटक अधिक नहीं लिखे गये। कारण यह था कि उर्दू में प्रायः नाटक स्टेज ही के लिए लिखे जाते रहे। जब रंगमंच ही मर गया तो नाटक भी लुप्त हो गये।

लेकिन रंगमंच के खत्म होने के बाद भी हश्र, बेताब, अहसन, राधेश्याम और रहमत आदि के नाटक पुस्तक रूप में पढ़े जाते रहे और उनकी देखा देखी किशनचन्द ज़ेबा, लालचन्द फ़लक, अहमद शुजा आदि ने नाटक लिखे। शुजा साहब ने 'मनतोश' नाम से एक बंगाली नाटक का अनुवाद भी किया। इन नाटकों में से अधिकांश में कला और शैली वही आग़ा हश्र वाली रही, केवल उद्देश्य भिन्न रहा। गोरक्षा, देश सेवा, हिन्दू-मुस्लिम-मिलाप और ऐसे ही विचारों का सम्मिश्रण इन नाटकों का उद्देश्य रहा।

इस अरसे में सैयद इम्तयाज़ अली ताज लगातार अपना नाटक 'अनारकली' लिखते रहे। 'अनारकली' के पहले मसौदे और अन्तिम पाण्डुलिपि में दस वर्ष का व्यवधान रहा, लेकिन दस वर्ष के अर्से में नाटक मंझ-धुल कर निखर गया। इसकी भाषा मुश्किल होते हुए भी

अपने में अपूर्व प्रवाह लिये हुए रही। नाटक रोमानी है। काल्पनिक और ऐतिहासिक भी, लेकिन इसका गठन, इसका अन्तर्विरोध (कानफ्लिक्ट-Conflict) एक दम क्लासिक है। काल्पनिक होते हुए भी इसकी घटना और पात्र सच्चे लगते हैं और यह अपने पूर्व-वर्ती नाटकों से यथार्थता की ओर कई कदम बढ़ाता है और यहीं वह अपने दौर के नाटकों में सबसे सफल है।

हश्र और राधेश्याम के नाटकों से प्रसाद, प्रेमी और ताज के नाटकों तक जो प्रगति हुई, उससे पता चलता है कि यद्यपि बाद के नाटक पुराने नाटकों जितने ही लम्बे रहे, उनमें संकलन-त्रय भी आधुनिक नाटकों जैसा नहीं रहा और यद्यपि वे काल्पनिक अथवा ऐतिहासिक भी लगभग वैसे ही रहे, लेकिन उनके सम्भाषण पूर्ववर्तियों की अपेक्षा अधिकाधिक स्वाभाविक होते गये। अनारकली तक पहुँचते-पहुँचते नाटक ने पद्य का दामन लगभग छोड़ दिया। अनुप्रासमयी भाषा और बात-बात पर शेर एक दम खत्म हो गये। 'गोरख धन्धा' और 'मशरिकी हूर' के सम्वादों से ज़रा ताज के 'अनारकली' की इन अन्तिम पंक्तियों का मुकाबिला कीजिए। नाटक के अन्तिम दृश्य में जब अकबर पर दिलाराम के षडयन्त्र और जहाँगीर के प्रेम की सब यथार्थता खुल जाती है तो वह मर्मान्तक पीड़ा से कहता है :

अकबर : खुदावन्दा! क्या मालूम था यों होगा— शेखू, मेरे मज़लूम बच्चे, मेरे मजनून बच्चे, अपने बाप के सीने से चिमट जा। अगर ज़ालिम बाप से इस दुनिया में एक राहत भी पहुँची है, तेरे सर उसका एक अहसान भी बाक़ी है तो मेरे बच्चे, इस वक्त मेरे सीने से चिमट जा!

(सलीम चुप रहता है ।)

अकबर: मुझे छू मत, एक बार बाप कह दे। सिर्फ़ अब्बा कह कर पुकार ले। मैं तुझे खञ्जर तक ला दूँगा, मगर बेटा, यह बदनसीब बाप, जिसे सब शहनशाह कहते हैं, अपना सीना नंगा कर देगा। खञ्जर उसके सीने में भोंक देना। फिर तू भी देखेगा और दुनिया भी देखेगी कि अकबर बाहर से क्या है और अन्दर से क्या है? उसके खून में बादशाह का एक क़तरा भी नहीं। वह सब का सब शेखू का बाप है। वह बादशाह है तो तेरे लिए, क़ाहिर और जाबिर है तो तेरे लिए। वह तेरा गुलाम है और मेरे जिगरगोशे, गुलामों से ग़लतियाँ भी हो जाती हैं।

क्या किसी तरह की अनुप्रासमयी भाषा और शेर इस सम्वाद को अधिक प्रभावशाली बना सकते थे?

अनारकली अपने पूर्ववर्ती तथा अपने साथ-साथ लिखे जाने वाले नाटकों से इस दृष्टि से भी एक पग आगे है कि इसमें स्वगत-भाषण बहुत कम हैं। जो हैं, वे लम्बे नहीं और बड़े स्वाभाविक रूप से आते हैं और ऐसी जगह हैं, जहाँ कोई दूसरा पात्र रंगमंच पर मौजूद नहीं। जशने-नौरोज़ पर, जब ख़्वाजासरा शतरंज की बिसात को तह करके ले जाते हैं और दिलाराम अकेली रह जाती है तो वह धीरे धीरे क़दम उठाती हुई उस जगह आ खड़ी होती है, जहाँ बिसात बिछी हुई है और तब वह अपने आप से कहती है:

जशने-नौरोज = नये दिन का उत्सव

अपने में अपूर्व प्रवाह लिये हुए रही। नाटक रोमानी है। काल्पनिक और ऐतिहासिक भी, लेकिन इसका गठन, इसका अन्तर्विरोध (कानफ्लिक्ट-Conflict) एक दम क्लासिक है। काल्पनिक होते हुए भी इसकी घटना और पात्र सच्चे लगते हैं और यह अपने पूर्व-वर्ती नाटकों से यथार्थता की ओर कई कदम बढ़ाता है और यहीं वह अपने दौर के नाटकों में सबसे सफल है।

हश्र और राधेश्याम के नाटकों से प्रसाद, प्रेमी और ताज के नाटकों तक जो प्रगति हुई, उससे पता चलता है कि यद्यपि बाद के नाटक पुराने नाटकों जितने ही लम्बे रहे, उनमें संकलन-त्रय भी आधुनिक नाटकों जैसा नहीं रहा और यद्यपि वे काल्पनिक अथवा ऐतिहासिक भी लगभग वैसे ही रहे, लेकिन उनके सम्भाषण पूर्ववर्तियों की अपेक्षा अधिकाधिक स्वाभाविक होते गये। अनारकली तक पहुँचते-पहुँचते नाटक ने पद्य का दामन लगभग छोड़ दिया। अनुप्रासमयी भाषा और बात-बात पर शेर एक दम खत्म हो गये। 'गोरख धन्धा' और 'मशरिकी हूर' के सम्वादों से ज़रा ताज के 'अनारकली' की इन अन्तिम पंक्तियों का मुकाबिला कीजिए। नाटक के अन्तिम दृश्य में जब अकबर पर दिलाराम के षडयन्त्र और जहाँगीर के प्रेम की सब यथार्थता खुल जाती है तो वह मर्मान्तिक पीड़ा से कहता है :

अकबर : खुदावन्दा ! क्या मालूम था यों होगा— शेखू, मेरे मज़लूम बच्चे, मेरे मजनून बच्चे, अपने बाप के सीने से चिमट जा। अगर ज़ालिम बाप से इस दुनिया में एक राहत भी पहुँची है, तेरे सर उसका एक अहसान भी बाक़ी है तो मेरे बच्चे, इस वक्त मेरे सीने से चिमट जा !

(सलीम चुप रहता है ।)

अकबर: मुझे छू मत, एक बार बाप कह दे। सिर्फ़ अब्बा कह कर पुकार ले। मैं तुझे खञ्जर तक ला दूँगा, मगर बेटा, यह बदनसीब बाप, जिसे सब शहनशाह कहते हैं, अपना सीना नंगा कर देगा। खञ्जर उसके सीने में भोंक देना। फिर तू भी देखेगा और दुनिया भी देखेगी कि अकबर बाहर से क्या है और अन्दर से क्या है? उसके खून में बादशाह का एक क़तरा भी नहीं। वह सब का सब शेखू का बाप है। वह बादशाह है तो तेरे लिए, क़ाहिर और जाबिर है तो तेरे लिए। वह तेरा गुलाम है और मेरे जिगरगोशे, गुलामों से ग़लतियाँ भी हो जाती हैं।

क्या किसी तरह की अनुप्रासमयी भाषा और शेर इस सम्वाद को अधिक प्रभावशाली बना सकते थे?

अनारकली अपने पूर्ववर्ती तथा अपने साथ-साथ लिखे जाने वाले नाटकों से इस दृष्टि से भी एक पग आगे है कि इसमें स्वगत-भाषण बहुत कम हैं। जो हैं, वे लम्बे नहीं और बड़े स्वाभाविक रूप से आते हैं और ऐसी जगह हैं, जहाँ कोई दूसरा पात्र रंगमंच पर मौजूद नहीं। जशने-नौरोज़ पर, जब ख़्वाजासरा शतरंज की बिसात को तह करके ले जाते हैं और दिलाराम अकेली रह जाती है तो वह धीरे धीरे क़दम उठाती हुई उस जगह आ खड़ी होती है, जहाँ बिसात बिछी हुई है और तब वह अपने आप से कहती है:

जशने-नौरोज़ = नये दिन का उत्सव

"और अब नया खेल और, नये खिलाड़ी, नये मोहरे और नयी बाज़ी।"

और बस ! उसके मस्तिष्क में जिस षड़यन्त्र का ताना-बाना बुना जा रहा है, वह सब इस एक वाक्य के रूप में उसके ओठों पर आ जाता है और यह वाक्य बिल्कुल स्वाभाविक दिखाई देता है।

फिर अनारकली में एक ही गठा हुआ कथानक है और हँसी उत्पन्न करने के लिए किसी प्रकार का अस्वभाविक कॉमिक नहीं। अनारकली के पात्र, कथानक के काल्पनिक होने के बावजूद, जीते-जागते मालूम होते हैं और दर्शक उनमें अपना प्रतिबिम्ब देखने लगते हैं। जबकि इसके पूर्व-वर्ती नाटकों के ऐतिहासिक पात्र भी पुतलियों सरीखे आते-जाते और लेखक की बोली बोलते हैं और दर्शकों को नाटक में तन्मय करने की अपेक्षा, वे लेखक की विद्वत्ता सिद्ध करते हैं कि उसने उपनिषद या पुराण या इतिहास कितना पढ़ा है।

वास्तव में 'अनारकली' वह सीमा है, जहाँ हिन्दुस्तान का पुराना नाटक आँखें बन्द कर लेता है और नया जन्म धारण करता है।

नये नाटक के रुझान को जानने के लिए अनारकली जैसे सफल नाटक की त्रुटियों को जानना ज़रूरी हैं। उसकी त्रुटियों को दूर करना ही नये नाटक का उद्देश्य रहा है। अनारकली के छपते न छपते व्यावसायिक रंगमंच खत्म हो चुका था, तो भी अनारकली दो बार खेला गया। दोनों बार उसे देखने का सुयोग इन पंक्तियों के लेखक को मिला और दोनों ही बार आज के बदले हुए युग में उसकी त्रुटियाँ और भी पूरी तरह उजागर हो गईं।

पहले—तो यह कि नाटक बहुत लम्बा है। दोनों बार उसके कुछ

बड़े सुन्दर दृश्य काटने पड़े। तो भी प्रातः तीन-चार बजे जाकर वह समाप्त हुआ।

दूसरे—संकलन-त्रय का उसमें नितान्त अभाव है। नाटककार ने जैसा दृश्य-परिवर्तन चाहा है, वैसा पर्दों से तो सम्भव हो सकता है अन्यथा नहीं और पर्दे आज के दर्शक की आँखों में खटकते हैं।

तीसरे—अनुप्रासमयी भाषा का दामन चाहे ताज ने छोड़ा, लेकिन उनकी भाषा की बुनावट अवश्य नाटकीय रही। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रंगमंच इस बात की अपेक्षा रखता है कि सम्वादों की अदायगी में वह नाटकीय हाव-भाव रहें, लेकिन कुछ सिनेमा और कुछ पश्चिमी नाटकों के प्रभाव से आज के दर्शक अधिक स्वाभाविक कथोपकथन की अपेक्षा रखते हैं।

चौथे—बाबू हरिश्चन्द्र ने नाटक को जनता के निकट लाने का, उनकी समस्याओं को सव्यंग्य अपने प्रहसनों में लाने का जो प्रयास किया, वह तीसरे युग के नाटककारों ने नहीं किया। फिर पुरानी पद्धति के अनुसार वे धीरोदात्त नायकों का अथवा ऐसे पात्रों का चित्रण करते रहे, जो मानव के दोषों के बदले उसके गुणों से विभूषित थे। आधुनिक युग के नाटकों की रुचि जनता और उसकी समस्याओं की ओर है। संस्कृतकाल में शूद्रों और निम्नकोटि के पात्रों का स्टेज पर आना निषिद्ध था। प्रसाद ने भी कुछ बातों को छोड़कर संस्कृत शैली ही अपनाई, लिए अनजाने में उनके नाटक महापुरुषों अथवा महादेवियों को लेकर लिखे गये। प्रसाद का अनुकरण करने वाले नाटककारों ने भी नाटकों में यही पद्धति कायम रखी। प्रसाद उत्कृष्ट कवि होने के अपने नाटकों में, और कुछ नहीं तो उत्कृष्ट साहित्यिकता का गुण रख ही पाये, उनका अनुकरण करने वाले इतना भी नहीं कर सके।

आधुनिक नाटक का रुझान इन चारों त्रुटियों से बचकर चलने और वीरों, धीरोदात्त नायकों अथवा असाधारण पुरुष-स्त्रियों का चित्रण करने के बदले, हमारे आपके और हमारी आपकी समस्याओं के चित्रण की ओर है। धीरे-धीरे नाटक प्राचीन की अपेक्षा आधुनिक यूरोपीय नाटकों से प्रभावित हो रहा है। उसकी अवधि कम हो रही है, उसमें संकलन-त्रय की स्थापना हो रही है, कथोपकथन स्वाभाविक हो रहे हैं और उसका उद्देश्य आम जनता की रोज़ की समस्याओं का चित्रण और उनका समाधान उपस्थित करना हो गया है।

इससे पहले कि आधुनिक-तम शैली में लिखे नाटकों की चर्चा की जाय, इस प्रवृत्ति के कारणों की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। आज यदि जगदीशचन्द्र माथुर 'कोणार्क' के खण्डहरों पर एक ऐतिहासिक नाटक भी लिखते हैं तो उसमें केवल तीन एक्ट रहते हैं और उसका नायक एक साधारण कारीगर रहता है और उसकी अवधि भी डेढ़-दो घण्टे से नहीं बढ़ती; जब पृथ्वीराज कपूर नये रंगमंच का निर्माण करते हैं तो उनके नाटक भी आधुनिक प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत रहते हैं, यह सब अकारण ही नहीं। नाटक के इस नये रुझान के निश्चित कारण हैं—

पहले—तो सिनेमा है। आधुनिक फ़िल्में अपनी तमाम त्रुटियों के होते भी, बड़ी कम अवधि में समाप्त हो जाती हैं। विलायती फ़िल्में ही नहीं, हिन्दुस्तानी फ़िल्में भी अब दो घण्टे में समाप्त हो जाती हैं और इतने कम समय में अधिक-से-अधिक मनोरंजन उपस्थित कर देती हैं। एक इण्टर्वेल होता है, पर दर्शकों को प्राय: वह भी सह्य नहीं होता।

दूसरे—हमारा जीवन दिन-ब-दिन इतना व्यस्त होता जा रहा है कि सारी रात बैठकर नाटक देखना आम आदमी के लिए कठिन हो गया है।

तीसरे—हमारे राजनीतिक संघर्ष के साथ-साथ हमारी आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ स्पष्ट-तर होकर हमारे सामने आने और लेखकों और नाटककारों से व्यक्तिकरण का तगादा करने लगी हैं। गुलाम देश के लेखक अपनी वर्तमान दुरावस्था को प्राचीन वैभव के सपनों में भूल सकते थे, पर देश के स्वतन्त्र होने पर वे उन समस्याओं का समाधान चाहते हैं और जनता भी उनसे अपनी रोज़ की मुश्किलों के व्यक्तिकरण और उनके समाधान की अपेक्षा रखती है। आज यदि ऐतिहासिक नाटक भी लिखा जाता है तो आज की समस्याएँ अनायास उनमें प्रतिबिम्बित हो जाती हैं।[1]

चौथे—प्राचीन नाटक पढ़े-लिखे उच्च और धनी वर्ग के लिए लिखे जाते थे और क्योंकि उस वर्ग को जनता के दुख-दैन्य से कोई सरोकार न था, इसलिए निम्न-मध्य अथवा निचले वर्ग के लोगों की भावनाओं और इच्छाकांक्षाओं का वर्णन उनमें नहीं रहता था। दूसरे तीसरे युग के नाटककारों ने क्योंकि उसी प्राचीन शैली को अपनाया, इसलिए वे जनता की समस्याओं का यथार्थ चित्रण न कर सके। लेकिन आज का नाटककार समझता है कि आज या कल उसके नाटकों को उसके देश की सामान्य जनता देखेगी। उसे किसी राजा-नवाब, धनी अथवा उच्च वर्ग के मनोरंजन और रुचि का नहीं, बल्कि विशाल निचले वर्ग की (जिसमें निम्न-मध्य तथा निम्न-वर्ग के मज़दूर-किसान शामिल हैं) रुचि का ख्याल रखना है।

१ 'कोणार्क' में कारीगरों का संघर्ष।

पाँचवें—यह कि ऐतिहासिक काल के रहन-सहन और पहनावे को साधारण दर्शक नहीं जानता, इसलिए यदि वैसा नाटक प्रदर्शित करना हो तो प्रकृत सेटिंग की ज़रूरत नहीं पड़ती। दर्शक बहुत कुछ कल्पना कर लेता है, या जो उसे दिखाया जाता है, उससे संतुष्ट हो जाता है, लेकिन यदि नाटक का कथानक आज के साधारण और यथार्थ जीवन से लिया जाता है तो यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने के लिए, उसे यथार्थ सेटिंग में रखना ज़रूरी हो जाता है। यथार्थ का भ्रम पूरे तौर पर क़ायम हो, इसलिए समय स्थान और कार्य-व्यापार का संकलन भी आज के नाटक के लिए आवश्यक हो जाता है।

छठे—आज के मशीनी साधनों—बिजली, माइक्रोफ़ोन आदि ने इस बात की सुविधा प्रस्तुत कर दी है कि नाटक को यथार्थ सेटिंग में रखा जा सके और स्वाभाविक रूप से कहे गये सम्वाद भी पिछले दर्जे तक पहुँचाये जा सकें। नाटककार इन प्रसाधनों का लाभ उठाने का मोह सम्वरण नहीं कर सकता।

सातवें—आज का नाटककार जानता है कि कैसे पश्चिम के रंगमंच ने समय की बदलती ज़रूरतों के साथ बदल कर, सफलता के साथ सिनेमा का मुकाबिला किया और वह उसके पद्चिन्हों पर चलकर अपने राष्ट्रीय रंगमंच का उत्थान और निर्माण चाहता है। कल वह भले ही पीछे को मुड़ जाय और पश्चिमी नाटकों से दूर चला जाय, पर आज वह उसके उदाहरण से लाभ उठाने को बुरा नहीं समझता।

आठवें—प्रसाद के बाद देश के रंगमंच पर एकांकी के अवतरन और उसकी लोकप्रियता ने बड़े नाटक को भी प्रभावित किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि डाक्टर रामकुमार वर्मा ने बहुत अच्छे ऐतिहासिक एकांकी लिखे हैं, लेकिन उनके भी सफलतम एकांकियों

में '१४ जुलाई की शाम' और 'फ़ैल्ट हैट' आदि ऐसे एकांकी हैं जो आज के जीवन का चित्रण करते हैं, फिर भुवनेश्वर, गणेश प्रसाद द्विवेदी, जगदीश चन्द्र माथुर, उदय शंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर आदि ने निरन्तर सामाजिक एकांकी लिखे और इन सामाजिक एकांकियों ने आधुनिक तर्ज़ के पुराने नाटकों की अपेक्षा एकांकी के निकट रहने वाले, डेढ़ दो घंटे में खत्म हो जाने वाले, नाटकों का प्रणयन सम्भव बना दिया है।

नाटकों का यह नवीन रुझान उर्दू नाटकों में प्रकट नहीं हुआ। उर्दू में नाटक वास्तव में रंगमंच के साथ ही मर गया। 'अनारकली' के बाद अति अधुनिक शैली का एक भी नाटक नहीं लिखा गया, लाहौर, दिल्ली, शिमला और इलाहाबाद के रंगमंचों पर कुछ आधुनिक अंग्रेजी नाटक और उनके उर्दू अनुवाद अवश्य अभिनीत हुए, लेकिन मौलिक नाटक नहीं खेले गये। हिन्दी के साहित्यिक नाटकों में अथवा यों कहा जाय कि ऐसे नाटकों में जो साहित्यिक भी हैं और रंगमंच पर खेले भी जा सकते हैं, यह प्रवृत्ति पहले-पहल दिखाई दी। ऊपर लिखे कारणों से ऐतिहासिक नाटक लिखना छोड़, मैंने ही १६३८ में 'स्वर्ग का झलक' नाम से आधुनिक नाटक लिखा, फिर दो वर्ष बाद 'छठा बेटा' लिखा, जिसमें आधुनिक शैली का पूरा समावेश किया। फिर १६४४, ४५ में मैंने अपने दो साहित्यिक नाटक 'कैद' और 'उड़ान' लिखे। १६४५-४६ में पृथ्वीराज ने बम्बई में पृथ्वी थीएटर का सूत्रपात किया और उसमें पहला नाटक 'शकुन्तला' खेला। इस नाटक में उन्होंने सेट अधिक नहीं रखे। दो तीन सेट ही में नाटक समाप्त कर दिया। दूसरा नाटक—दीवार—क्या आधारभूत विचार

और क्या टेकनिक और ट्रीटमेण्ट—दोनों दृष्टियों से आधुनिक था। एक ही सेट पर पृथ्वीराज ने सारे का सारा नाटक अपूर्व सफलता से दिखा दिया। 'पठान' और 'ग़द्दार' में भी एक ही सेट रखा और इसी एक-एक सेट पर, क्रम से, उन्होंने गढ़ी के पठान के जीवन के उन्नीस वर्ष और देश की कहानी १६२१ से लेकर १५ अगस्त १६४७ तक बड़ी कामयाबी से पेश कर दी। 'कलाकार' के दो सेट हैं और इन्हीं दो सेटों में तीन एक्ट का नाटक समाप्त हो जाता है। यद्यपि 'दीवार' 'पठान' और 'कलाकार' में नाच गाने हैं, लेकिन न हश्र और बेताब, न बाबू हरिश्चन्द्र और प्रसाद और न भट्ट और प्रेमी के नाटकों ऐसे हैं। गाने अत्यन्त स्वाभाविक और नाटक की गति को आगे बढ़ाने वाले हैं। जहाँ कहीं (और ऐसे स्थल दो एक ही हैं) वे नाटक की गति को आगे नहीं बढ़ाते, वहाँ उसमें अवरोध भी उपस्थित नहीं करते। ग़द्दार में तो नाच गाना एक दम लुप्त है।

यद्यपि साधारणतः नये नाटक में तीन दृश्य रहते हैं और उसकी अवधि डेढ़ से अढ़ाई घण्टे तक है, लेकिन जैसे सिनेमा के दर्शकों को इन्टर्वेल का आना असह्य हो उठता है, इसी तरह आधुनिक नाटक ऐसी तेजी से अन्त की ओर बढ़ता है कि पर्दे का गिरना बुरा लगता है। ऐसे नाटक की कल्पना की जा सकती है जिसमें एक दृश्य डेढ़ दो घण्टे का हो और उसमें संकलन-त्रय को कैसे सम्पादित कर दिया जाय कि जब एक ही दृश्य पर पर्दा गिरे तो नाटक की कहानी समाप्त हो जाय। इतने पर भी नाटक एकांकी न हो, बल्कि बड़ा नाटक ही रहे, कहानी की अपेक्षा लघु उपन्यास सरीखा! प्रसिद्ध अंग्रेजी नाटककार जे० बी० प्रीस्टले ने कई ऐसे नाटक लिखे हैं जिनके तीन एक्ट तो हैं, लेकिन वास्तव में जो एक ही एक्ट के हैं और

पर्दा जिनमें केवल दर्शकों के आराम के लिए गिराया जाता है। मॉम के भी ऐसे दो नाटक मिलते हैं। मेरा नाटक 'अलग अलग रास्ते' भी इस रूप में पेश किया जा सकता है।

और यों नया नाटक पुराने नाटक से इतना दूर चला आया है कि एक का पात्र अपने आपको दूसरे में पाकर इतना घबरा जायगा कि उसे वहाँ दो घड़ी भर रहना कठिन हो जायगा — न इसमें वह अनुप्रासमयी भाषा है न शेर, न अस्वभाविक नाच-गाने, न भोंडे कॉमिक, न धीरोदात्त अतिमानव नायक-नायिकाएँ और न ड्रामाई अन्दाज़ में लिखे गये सम्वाद। लम्बाई में यह पुराने नाटक का एक तिहाई या चौथाई है। अवधि इसकी इएटर्वेल समेत, दो ढाई घण्टे से अधिक नहीं और संकलन-त्रय के कारण सारा का सारा नाटक यथार्थ में भी उतने समय में सम्पन्न हो जाता है, जितने में कि वह स्टेज पर होता है। कई बार स्थान भी एक कमरा, या ड्राइंग रूम, या बरामदा होता है—पुराना नाटक जिन्दगी से जितना दूर था, नया उतना ही निकट है। पुराने नाटक के एक प्रेमी के कथनानुसार—नया नाटक नाटक ही नहीं, कदाचित् इसलिए कि प्रायः वह जिन्दगी का ही एक टुकड़ा दिखाई देता है।

क्या एकांकी का साहित्य में कोई स्थान नहीं ?

मानसरोवर के प्राक्कथन में कहानी और उसकी कला पर प्रकाश डालते हुए स्व० प्रेमचन्द लिखते हैं :

"हमें यह स्वीकार कर लेने में संकोच न होना चाहिए कि उपन्यासों की भाँति आख्यायिका की कला भी हमने पश्चिम से ली है, कम से कम, इसका आज का विकसित रूप तो पश्चिम ही का है।"

यदि यही बात मैं एकांकी नाटक के बारे में भी कहूँ तो अनुचित न होगा। एकांकी नाटक लिखने की जो स्फूर्ति हमें हाल ही में मिली है, उसका कारण प्राचीन संस्कृत एकांकी नाटक न होकर पश्चिम के एकांकी नाटक ही हैं। हिन्दी में ही ऐसा हुआ हो, यह बात नहीं, उर्दू भी इस सिलसिले में पश्चिम का ही अहसानमन्द है। उर्दू में पहले पहल सैयद इमतियाज़अली ताज, हकीम अहमद शुजा और दूसरे लेखकों ने

अँग्रेज़ी नाटकों के अथवा अँग्रेजी द्वारा दूसरी भाषाओं से अनूदित एकांकी नाटकों के अनुवाद ही छपवाये। और अब भी अधिकतर ऐसा ही होता है, अभी हाल ही में हेरल्ड ब्रिगहाऊस का नाटक The Prince who was a Piper और जे०ए० फर्गूसन का नाटक Campbell of Kilmohr प्रसिद्ध उर्दू मासिक पत्रों[1] में छपे हैं। प्रख्यात उर्दू लेखक नूर इलाही मुहम्मद उम्र ने जो मौलिक एकांकी प्रहसन[2] लिखे हैं, उनमें पश्चिम की गहरी छाप है। यहाँ तक कि लाहौर में गवर्नमेंट कालेज की स्टेज पर भी जो एकांकी खेला जा रहा है, वह फिलिप जानसन का एकांकी नाटक The Distant Drum ही है।

एकांकी का इतिहास—

जहाँ तक एकांकी के इतिहास का सम्बन्ध है, यूरोप में चालीस-पचास वर्ष पहले कोई इसका नाम भी न जानता था, पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि उससे पहले एकांकी नाटक नाम की चीज़ ही संसार में मौजूद न थी। भारत के स्वर्ण-युग में, जहाँ कला के दूसरे अंगों का पूर्ण विकास हुआ था, वहाँ एकांकी नाटक भी अपनी उन्नति के शिखर पर था। रंगमंच पर एकांकी नाटक खेले जाते थे और उनकी अपनी निजी टेकनिक भी थी।

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्य-दर्पण' में दृश्य-काव्य के दो भेद बताये गये हैं। रूपक और उपरूपक। रूपक के दस भेद हैं। इनमें भाण और व्यायोग एकांकी की ही दो प्रसिद्ध किस्में हैं। देखिए, पृष्ठ २६१ तथा २६२ पर लिखा है—

१. रूमान (नाटक नम्बर), अदबेलतीफ़ (सितम्बर, १९३९)

२. डरामे चन्द

भाणः स्याद्धूर्तचरितो नानावस्थान्तरात्मकः,
एकांक एक एवात्र निपुण पण्डितो विटः

और फिर

ख्यातेति वृत्तो व्यायोग: स्वल्प स्त्रीजनसंयुतः
हीनो गर्भ विमर्शाभ्याँ नरैबहुँभिराश्रितः।

एकांकश्च भवेत् ......

महाकवि भास का 'ऊरुभंग' और नीलकंठ का 'कल्याण सौगंधिक' प्रसिद्ध एकांकी नाटक ही हैं।

इसके अतिरिक्त उपरूपक के १८ भेदों में भी गोष्ठी, नाट्यरसक, उल्लाप्य, काव्य और अंग आदि एकांकी नाटकों की ही विभिन्न किस्में हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य में एकांकी नाटक अपनी नवीनतम दोनों किस्मों (एकांकी और झांकी) के साथ मौजूद थे और इनकी पूरी-पूरी टेकनिक निर्धारित की जा चुकी थी। दुर्भाग्य वश अनेक कारणों से, जीवन की अन्य धाराओं की भाँति, साहित्य में भी हमारी प्रगति रुक गई और हमने प्राचीन से जौ भर भी हटना निषिद्ध समझ लिया। इसलिए काव्य और कथा के साथ ही, हम नाटक में भी पश्चिम से पिछड़ गये, नहीं पुराने एकांकियों को नयी जरूरतों के अनुसार ढालकर, उनमें सूत्र-धार के कथन से नाटक आरम्भ करने और बात-बात पर श्लोक कहने की प्रथा तथा दूसरे दोष हटाकर और उन्हें जीवन के ज़रा और निकट लाकर हम यूरोप से पहले एकांकी का पुनरुत्थान कर सकते थे। लेकिन जब हमारे यहाँ रंगमंच ही सो गया और बड़े नाटक भी खेले जाने के बदले पढ़े जाने लगे तो एकांकी ही कैसे जीवित रहता।

यूरोप में एकांकी—यूरोप में एकांकी नाटक ने जिस तेजी

प्रगति की है, वह आश्चर्य-चकित कर देने वाली है। साहित्य के किसी अंग ने इतनी तेजी से प्रगति नहीं की, जितनी एकांकी ने और न किसी अंग ने इतनी जल्दी इतना महत्व प्राप्त किया है।

इंग्लिस्तान में एकांकी का जन्म दिलचस्पी से ख़ाली नहीं। पहले पहल इसे न गम्भीरता से लिया गया, न कोई विशेष महत्व ही दिया गया। रात को देर से खाना खाने की आदत के कारण, जैसी कि उस समय इंग्लिस्तान में थी, रंगशाला के व्यवस्थापकों को किसी ऐसी चीज़ की ज़रूरत पड़ी, जिससे वे दर्शकों का उस समय तक मनोरंजन कर सकें, जब तक कि देर से खाना खाने वाले न पहुँच जायँ। वास्तव में थीएटर हाल में कुछ लोगों के देर से आने के कारण, एक तो नाटक के आरम्भ में विघ्न पड़ जाता था, दूसरे पहले से बैठे हुए दर्शक अप्रसन्न हो जाते थे। इसी समस्या का हल करने के लिए पट-उन्नायक (Curtain Raiser) का आविष्कार किया गया।

पट उन्नायक एक छोटा सा एकांकी होता था और पहले-पहल घटिया किस्म का प्रहसन होता था, जिसका तात्पर्य मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन का यथार्थ स्वाभाविक चित्रण न होकर केवल सस्ती किस्म की चीजों से दर्शकों का मनोरंजन करना होता था। चैखव के एकांकी नाटक, जिन्हें भाई चन्द्रगुप्त ने बहुत पसन्द किया है, इसी ज़माने के लिखे हुए हैं और कर्टन रेज़र श्रेणी ही के हैं। विशेष रूप से उनके एकांकी **Bear, Proposal, anniversary** और **The wedding** तो इसी श्रेणी के हैं।

यदि एकांकी नाटक का उद्देश्य केवल दर्शकों के विनोद तक ही परिमिति रहता और यह मानव की हृतन्त्री के अन्य तार न छू

१. छोटा सा एकांकी जो असली नाटक का पर्दा उठने से पहले खेला जाता था।

देता तो इसे आजकी व्यापकता कभी प्राप्त न होती। अक्तूबर, १६०३ में वेस्ट एण्ड लन्दन में एक ऐसी घटना हुई, जिसने एकांकी नाटक के रुख ही को पलट दिया। उस महीने डब्लयू डब्लयू जेकब की कहानी 'बन्दर का पंजा' को एकांकी का रूप देकर उसे पट-उन्नायक के स्थान पर खेला गया। और जब इसका पर्दा गिरा तो दर्शक इतने प्रभावित हुए कि असली नाटक को देखे बिना हाल से उठ गये। इस घटना से एकांकी नाटक के आगामी महत्व और भविष्य में उसकी लोकप्रियता का आभास मिल गया।

इस विचार से कि एकांकी से बड़े नाटक की लोकप्रियता को धक्का न पहुँचे, रंगशाला के व्यास्थापकों ने उसे रंग-मंच से निर्वासित कर दिया। पर एकांकी के लिए यह अच्छा ही हुआ। व्यावसायिक रंगमंच से निकलकर यह देश के विस्तृत रंगमंच पर आया। नगर-नगर, गाँव-गाँव रंगशालाएँ बनीं और जीवन की विभिन्न समस्याओं पर एकांकी नाटक खेले जाने लगे और वे देहाती जो अधिक शिक्षित न थे, अपनी विविध समस्याओं के हल अपने सामने पाने लगे। इस तरह एकांकी नाटक ने मनोरंजन के साथ-साथ, समाज-सुधार और शिक्षा का भी काम किया और इस तरह साहित्य के एक कोने में अपना सुदृढ़ स्थान बना लिया। एक आलोचक ने उक्त घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है :

"In the event nothing better could have happend to it, for if it proved to be a death-blow to curtain raiser, it resulted in the birth of the shorter play as new, vived and distinct form of dramatic art."

[अर्थात् उस समय एकांकी के लिए इससे अच्छी कोई बात न हो

सकती थी, क्योंकि यदि एक ओर यह (बन्दर का पंजा की लोकप्रियता) पट-उन्नायक की मृत्यु का कारण बनी तो दूसरी ओर इससे उस संक्षिप्त नाटक का जन्म हुआ जो कला का एक अभिनव, महत्वपूर्ण और पृथक अंग बना।

अब समय आ गया है कि भारत में भी नयी आवश्यकताओं के अनुसार रंगमंच का पुनर्निर्माण किया जाय। पांच-पांच एक्ट के नाटकों के खेलने का युग बीत गया है। सिनेमा और जीवन-संग्राम और समयाभाव ने उनको बहुत पीछे डाल दिया है। दो-अढ़ाई घण्टे में समाप्त होने वाले आधुनिक नाटकों और सिनेमा में भी प्रतियोगिता हो सकती है, पर पच्चीस-तीस मिनट में समाप्त होने वाले एकांकी के लिए बड़ा अवसर है। एमेचर स्टेज पर इसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं। कम खर्च, कम पात्र और कम समय में जीवन की विविध समस्याओं पर जिस सुगमता से एकांकी नाटक खेले जा सकते हैं, दूसरे नाटक नहीं खेले जा सकते।

प्रचलित नाटकों का वर्गीकरण—

इससे पहले कि बड़े नाटक और एकांकी में जो भेद है, उस पर प्रकाश डाला जाय, यह आवश्यक है कि प्रचलित नाटकों का वर्गीकरण किया जाय, क्योंकि इसके बिना भ्रम पैदा होने का डर है और जैसा कि चन्द्रगुप्त जी के लेख और बाद में उनसे बातचीत करने पर पता चला—यह भ्रम पैदा हो भी रहा है। उनके लेख से मुझे इस बात का शक हुआ था कि उन्होंने 'तीन बहिनें' और 'इवानोव'—चेखव के चार-चार अंक के दोनों नाटकों को एकांकी ही समझकर अपने लेख में उनकी पसंदगी का ज़िक्र किया है। जब उनके लेख को पढ़कर मैंने उनसे कहा

कि 'तीन बहिनें' को एकांकी का नाम नहीं दिया जा सकता तो उन्होंने कहा कि वाह, तीस-चालीस पृष्ठ के नाटक को आप कैसे एकांकी न कहेंगे और 'तीन बहिनें' इतना ही तो लम्बा है। तब मैंने समझ लिया था कि या तो उन्होंने वह नाटक पढ़ा नहीं, या उन्हें इतनी देर पढ़े हुए हो गई है कि वे भूल गये हैं, 'तीन बहिनें' ६५ पृष्ठों में लिखा गया है और दोनों के चार-चार एक्ट हैं। अब इन चार-चार अंकों के लगभग सौ-सौ पृष्ठ के नाटकों को चैखव के शेष सोलह-सोलह, सतरह-सतरह या बीस-बीस पृष्ठों के एकांकियों की पंक्ति में रख देना और इन्हें भी एकांकी समझ लेना मेरे ख्याल में बड़ा भारी अन्याय है। इस बात को बिलकुल न छेड़ते हुए कि चन्द्रगुप्त जी ने जो रिमार्क्स पास किये हैं, वे चैखव के इन दोनों लम्बे नाटकों पर जो एकांकी नहीं और इसलिए लेख के विषय से बाहर हैं) कहाँ तक सत्य बैठते हैं, मैं नीचे नाटकों का वर्गीकरण करने का प्रयास करता हूँ।

आजकल जितने नाटक लिखे जाते हैं, यदि हम ध्यान से उनका अध्ययन करें तो हम उन्हें निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त पायेंगे।

१. बड़े नाटक—

क—पाँच अंक, चार अंक या तीन अंक के प्राचीन ढंग के नाटक जिनके एक-एक अंक में चार-पाँच से लेकर चौदह-चौदह तक दृश्य हैं[1]। हिन्दी में प्रकाशित अधिकतर नाटक इसी श्रेणी के हैं।

ख—तीन या चार अंक के नाटक, जो प्रथम श्रेणी के नाटकों से बहुत छोटे हैं और जिनका आविर्भाव वर्तमान जीवन-संग्राम, समया-भाव और सिनेमा के कारण हुआ है। ये दो अढ़ाई घंटों में समाप्त हो जाते हैं। इनके दो भेद हैं :

---

१. उदाहरणतया प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त'

अ— वे नाटक जिनके प्रत्येक अंक में केवल दो-दो, तीन-तीन दृश्य हैं। इंग्लिस्तान के प्रसिद्ध गल्प तथा नाटककार जॉन गालसवर्दी के नाटक 'सिल्वर बॉक्स' तथा 'स्ट्राइफ़' आदि और प्रसिद्ध अमेरिकन नोबल पुरस्कार विजेता ओ० नील के नाटक 'क्षितिज के पार' (Beyond the Horizen) और 'सोना' (Gold) इसी तरह के हैं। हिन्दी में श्री पृथ्वीनाथ शर्मा का हाल ही में प्रकाशित 'दुविधा' इसी श्रेणी का है, जिसे भाई प्रकाशचन्द्र गुप्त ने ग़लती से एकाकी लिख दिया है।[1]

आ—वे नाटक, जिनके अंकों के अधीन कोई दृश्य नही होता और जिनका एक दृश्य ही एक अंक कहाता है। तीन या चार अंकों के नाटक में बड़े-बड़े तीन या चार दृश्य होते हैं। आजकल यूरोप में इस तरह के नाटक बहुत लिखे जाते हैं। जान गालसवर्दी का उल्लास, (Joy) और कबूतर (Pigeon) इसी श्रेणी के नाटक है। हिन्दी में 'प्रसाद' का 'ध्रुवस्वामिनी' इसी श्रेणी के अन्तर्गत आता है।[2]

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि प्रथम ख. श्रेणी के के नाटकों के प्रत्येक अंक में अधीन दृश्यों (Intervening scenes) का होना आवश्यक नही। ऐसे नाटक मिल जायँगे जिनके दो अंकों के अधीन तो दो-दो चार-चार दृश्य हैं, पर तीसरे में एक ही दृश्य है, जैसे हक्सले का The World of Light। इन नवीन नाटकों के दोनों भेदों में अन्तर केवल इतना है कि एक में अंकों के अधीन दृश्य होते हैं और दूसरे में अंक ही दृश्य होते हैं।

---

१. अश्क जी के नाटकों में 'पैंतरे' इसी श्रेणी का नाटक है। (कौशिल्या)

२. अश्क जी के नाटकों में 'अलग-अलग रास्ते', 'कैद', 'उड़ान' इसी श्रेणी के नाटक हैं। (कौशिल्या)

अ— वे नाटक जिनके प्रत्येक अंक में केवल दो-दो, तीन-तीन दृश्य हैं। इंग्लिस्तान के प्रसिद्ध गल्प तथा नाटककार जॉन गालसवर्दी के नाटक 'सिल्वर बॉक्स' तथा 'स्ट्राइफ़' आदि और प्रसिद्ध अमेरिकन नोबल पुरस्कार विजेता ओ० नील के नाटक 'क्षितिज के पार' (Beyond the Horizen) और 'सोना' (Gold) इसी तरह के हैं। हिन्दी में श्री पृथ्वीनाथ शर्मा का हाल ही में प्रकाशित 'दुविधा' इसी श्रेणी का है, जिसे भाई प्रकाशचन्द्र गुप्त ने ग़लती से एकाकी लिख दिया है।[1]

आ—वे नाटक, जिनके अंकों के अधीन कोई दृश्य नही होता और जिनका एक दृश्य ही एक अंक कहाता है। तीन या चार अंकों के नाटक में बड़े-बड़े तीन या चार दृश्य होते हैं। आजकल यूरोप में इस तरह के नाटक बहुत लिखे जाते हैं। जान गालसवर्दी का उल्लास, (Joy) और कबूतर (Pigeon) इसी श्रेणी के नाटक है। हिन्दी में 'प्रसाद' का 'ध्रुवस्वामिनी' इसी श्रेणी के अन्तर्गत आता है।[2]

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि प्रथम ख. श्रेणी के के नाटकों के प्रत्येक अंक में अधीन दृश्यों (Intervening scenes) का होना आवश्यक नही। ऐसे नाटक मिल जायँगे जिनके दो अंकों के अधीन तो दो-दो चार-चार दृश्य हैं, पर तीसरे में एक ही दृश्य है, जैसे हक्सले का The World of Light। इन नवीन नाटकों के दोनों भेदों में अन्तर केवल इतना है कि एक में अंकों के अधीन दृश्य होते हैं और दूसरे में अंक ही दृश्य होते हैं।

---

१. अश्क जी के नाटकों में 'पैंतरे' इसी श्रेणी का नाटक है। (कौशिल्या)

२. अश्क जी के नाटकों में 'अलग-अलग रास्ते', 'कैद', 'उड़ान' इसी श्रेणी के नाटक हैं। (कौशिल्या)

क्या एकांकी का साहित्य में कोई स्थान नहीं ?

२. छोटे नाटक—

(क) एकांकी, जिनके एक अंक में दो से लेकर सात-आठ तक दृश्य होते हैं। जेकब का 'बंदर का पंजा' और बिग्रहाउस का 'प्रिंस हू वॉज़ ए पाइपर' और भास का मध्यम-व्यायोग इसी तरह के नाटक हैं। हिन्दी में इस तरह के नाटक बहुत लिखे जा रहे हैं। श्री उदयशंकर भट्ट का 'एक ही क़ब्र में' और 'हंस' के एकांकी अंक में प्रकाशित बहुत-से नाटक उदाहरणतया—'चाण्डालिका', 'टकराहट', 'उस पार', और 'स्ट्राइक' इसी श्रेणी के नाटक हैं।

[रंगमंच के विचार से ये इस श्रेणी के उत्तम उदाहरण हैं, यह मैं नहीं कह सकता, पर यदि नाटकों के तीन उद्देश्यों (अर्थात् रंगमंच, रेडियो और महज़ पठन-पाठन) का ध्यान न रख कर इनका वर्गीकरण किया जाय तो ये सब इसी श्रेणी में आयँगे।]

(ख) झाँकी—झाँकी नाम वास्तव में मैं लघु एकांकी को देना चाहता हूँ। एकांकी स्वयं बड़े नाटक का संक्षिप्त संस्करण है, जैसे उपन्यास का कहानी। लेकिन 'स्केच' जैसे कहानी का भी लघु संस्करण है, वैसे ही झांकी एकांकी का! किसी घटना के एक पक्ष की झलक मात्र यह देता है।[1]

एक ग़लती और उसका सुधार—

'हंस' के एकांकी-अंक में जैसा कि ऊपर के वर्गीकरण के प्रकाश में पता चलेगा, केवल छोटे नाटकों, अर्थात् एकांकियों और झाँकियों को ही स्थान दिया गया है और होना भी ऐसा ही चाहिए था। ऊपर दिये गये १, ख, श्रेणी के नाटक एकांकी की पंक्ति में नहीं आते। वे तो पाँच अंक के नाटकों का ही छोटा संस्करण हैं। बात-

१. 'देवताओं की छाया में' में 'पहेली' झांकी का उत्तम उदाहरण हैं। (कौशल्या)

चीत के दौरान में चन्द्रगुप्त जी ने कहा था कि वे इनमें और एकांकी में कोई भेद मानने को तैयार नहीं। इसीलिए चैखव के दोनों तरह के नाटकों में उन्होंने भेद नहीं माना। उनके विचार में एक बड़े नाटक में जिसके चार अंकों में चार दृश्य हैं और एक एकांकी में, जिसके एक अंक में चार दृश्य हैं, कोई अन्तर नहीं। इन दोनों में क्या अन्तर है, इस पर विस्तार से मैं यहाँ बहस नहीं कर सकता, लेख काफी लम्बा हो गया है और मुझे एक दो बातें अभी और कहनी हैं, पर सांकेतिक रूप में मैं कह दूँ—इन दोनों में संकलन-त्रय का अन्तर है। आलोचकों ने समय स्थान और कार्य-व्यापार की तीन इकाइयाँ मानी हैं। इनके संकलन को संकलन-त्रय का नाम दिया जाता है। इसी के विचार से एक नाटक विभिन्न अंकों में विभक्त किया जाता है। केवल एक उदाहरण देकर मैं अपनी बात समझाने का प्रयास करूंगा। ओ-नील के तीन एक्ट के नाटक 'क्षितिज के पार' के प्रत्येक अंक में दो-दो दृश्य हैं। इस तरह कुल छः दृश्य का यह नाटक है, पर अंकों के मध्य समय की इकाई नहीं है, पहले अंक के दोनों दृश्य एक दिन में होते हैं, बल्कि एक ही सन्ध्या में होते हैं, किन्तु दूसरे अंक के दो दृश्य दो वर्ष बाद और इसी प्रकार तीसरे अंक के दो दृश्य पाँच वर्ष बाद होते हैं। एकांकी नाटक में ऐसा नहीं हो सकता, इसीलिए यह एकांकी नहीं।

एक ही दृश्य के एकांकियों और झांकियों में और इन बड़े नाटकों में जो अन्तर है, वह तो साफ प्रकट है ही।

एक बात और है, चाहे भारत में अभी तक पांच अंक के बाईस-बाईस और इससे भी अधिक दृश्यों के नाटक लिखे जाते हैं—स्वयं मेरा नाटक 'जय पराजय' इसी पुरानी शैली का है, पर इन नाटकों का युग शीघ्र ही खतम हो रहा है और अब बड़े नाटकों की उपरिलिखित

१ (ख) श्रेणी के नाटक ही लिखे जायँगे, पढ़े जायँगे और खेले जायँगे और एकांकी नाटकों और झाँकियों के मुकाबले में इन्हें ही बड़ा नाटक माना जायगा। यदि पुरानी शैली के बड़े नाटकों की जगह नयी शैली के नाटक न लिखे गये तो हमारा रंगमंच सदा के लिए विस्मृति के गर्त्त में खो जायगा और उसके उत्थान की आशा स्वप्न बनकर रह जायगी।[1]

बड़े नाटक और एकांकी—

यद्यपि एकांकी नाटक, जिनमें झाँकियाँ भी शामिल हैं, अभी अपने शैशव में ही हैं, किन्तु इसके बावजूद उन्होंने इस बात का सबूत दे दिया है कि वे परिहास में टालने की चीज़ नहीं। एकांकी की टेकनिक पर और इस प्रश्न से सम्बन्धित दूसरी बातों पर तो मैं अपने किसी आगामी लेख में विस्तार से लिखूँगा।[2] यहाँ कुछ बातें संक्षिप्त रूप में मुझे कहनी हैं। जिस प्रकार नवीन शैली के बड़े नाटक पुरानी शैली के नाटकों के संक्षिप्त संस्करण हैं इस प्रकार एकांकी नाटक का आधुनिक रूप बड़े नाटकों का संक्षिप्त रूप नहीं, यह बात भली-भाँति समझ लेनी चाहिए। दोनों में उतना ही अन्तर है, जितना कहानी और उपन्यास में। जिस प्रकार प्रायः कई श्रेष्ठ उपन्यासकार कहानी नहीं लिख सकते, उसी प्रकार कई श्रेष्ठ नाटककार एकांकी अथवा झाँकियाँ लिखने में कठिनाई अनुभव करते हैं। कला के ये दोनों रूप (बड़े नाटक और एकांकी) एक दूसरे से सर्वथा भिन्न

---

१. इस लेख के बहुत दिन बाद बम्बई में पृथ्वी राज ने जब आधुनिक रंगमंच का पुर्निनर्माण 'पृथ्वी थीएटर्ज' के रूप में किया तो उन्होंने उपरिलिखिति श्रेणी के आधुनिक नाटक ही स्टेज किये।

२. अश्क जी ने 'देवताओं की छाया मे' के आमुख में विस्तार से लिखा भी। (कौशल्या)

हैं, ऐसे ही जैसे प्रकृति के चित्र खींचने की कला (Land scape painting) मनुष्य, पशु आदि का चित्र खींचने की कला से भिन्न है। पाठकों की दिलचस्पी के लिए एक बड़ा भेद मैं देता हूँ। उपन्यास की भाँति लम्बे नाटक में नाटककार शब्द पर शब्द, वाक्य पर वाक्य, दृश्य पर दृश्य की योजना करके अपने अभिलषित उद्देश्य में सफल हो सकता है। एकांकी में लेखक के पास घटना के विस्तार और चरित्र के चित्रण के लिए कोई समय नहीं होता ? उसके चरित्रों की झाँकी मात्र दर्शक देख सकते हैं—ऐसे ही जैसे खिड़की के सामने से तेज़ी से गुज़रते हुए व्यक्तियों की झाँकी मनुष्य देख लेता है। एकांकी में परिस्थिति को तत्काल समझना आवश्यक होता है और हो सकता है कि उत्तम से उत्तम एकांकी को पढ़ते समय पाठक इस बात की परवाह ही न करे कि यह सब कुछ शब्दों की इस किफ़ायत से कैसे हो गया ?

एकांकी और कहानी—

यहीं से हम दूसरे प्रश्न पर पहुँचते हैं, और वह यह है कि कहानी और एकांकी में क्या अन्तर है ? भाई चन्द्रगुप्त ने अपने लेख में लिखा है :

> "संसार के अनेक प्रामाणिक साहित्यिक आलोचकों के मतानुसार एकांकी नाटक कहानी का रंगमंच पर खेला जाने वाला संस्करण-मात्र है।"

किसी प्रामाणिक साहित्यिक आलोचक का यद्यपि उन्होंने नाम नहीं दिया तो भी यदि पल भर के लिए ऐसा मान लिया जाय तो इससे एकांकी का महत्व कुछ कम नहीं होता। जैसे एक सुन्दर उपन्यास का एक सुन्दर नाटक बन सकता है, इसी प्रकार एक सुन्दर कहानी का एक सुन्दर एकांकी बन सकता है और जेकेब की कहानी 'बन्दर का पंजा'

के खेले जानेवाले संस्करण की लोकप्रियता इस बात का उदाहरण है। वास्तव में दोनों में उद्देश्य का अन्तर है। कहानी का उद्देश्य होता है कि उसे पढ़ा जाय या सुनाया जाय, पर एकांकी का (यदि वह रंगमंच के लिए लिखा गया है) सबसे बड़ा उद्देश्य यह है कि उसे खेला जाय! और इस उद्देश्य के लिए कहानी को एकांकी में परिवर्तित करना आसान काम नहीं। नाटक में जो कुछ हमें कहलाना होता है, वह पात्रों के मुख से कहलवाना होता है और जो परिस्थिति अथवा घटना पेश करनी होती है, वह रंगमंच के परिमित घेरे ही में उपस्थित करनी होती है। जहाँ कहानी लेखक अपने आपको कहानी के बीच में ला सकता है, कलम के चार झटकों से किसी स्थिति का आविर्भाव या चरित्र का चित्रण कर सकता है, वहाँ नाटककार को तटस्थ रहकर, पात्रों की बोल-चाल और उनके अभिनय द्वारा ही अपने उद्देश्य में सफल होना होता है। भाई चन्द्रगुप्त की कहानी 'तांगेवाला' अत्यन्त सुन्दर कहानी है, पर 'काफ़िर' के एकांकी रूप में आकर वह इतनी दिलचस्प नहीं रही और न ही उतनी प्रभावोत्पादक। यह बात कोई निष्पक्ष पाठक देख सकता है। स्टेज पर आकर वह कितना प्रभाव उत्पन्न कर सकेगी, यह बात अभिनय करने पर ही देखी जा सकती है। उनका बड़ा नाटक 'अशोक' पढ़ने में बेहद दिलचस्प है, इतना, कि पढ़कर मैं उन्हें बधाई देने गया, पर रंगमंच की वह चीज़ नहीं, यह उन्होंने भी माना है और रही यह बात कि नाटक के दृश्य चल-चित्रों में आ सकते हैं तो उसके लिए नाटक लिखने की आवश्वकता न थी, क्योंकि यदि कुछ दृश्य सुगमता से सिनेमा के काम में आ सकते हैं, तो बहुत से उसी रूप में नहीं भी आ सकते। सिनारियो लेखक के लिए नाटक के विविध दृश्यों को चल-चित्र में परिणत करने में उतनी ही कठिनाई पेश आयेगी,

जितनी इसी नाटक की कहानी के सिनारियो में पेश आती। बहरहाल इस विषय पर मैं अधिक कुछ न कहकर विनय-पूर्वक निवेदन करूँगा कि एक उपन्यास या कहानी का एक बड़े नाटक या एकांकी में परिणत करना उतना आसान नहीं, जितना वे समझते हैं और इसी तरह न ही एकांकी का (जो खेले जाने के लिए लिखा गया है) उससे अच्छी कहानी में परिवर्तित करना सुगम है। ऐसा करनेवाले के लिए स्टेज का और कहानी की टेकनिक का पूरा पूरा ज्ञान होना आवश्यक है।

यह तो हुई एकांकी के कहानी का नाटकीय संस्करण होने की बात, पर मैं भाई चन्द्रगुप्तजी से निवेदन करूँगा कि जिस प्रकार कई ऐसी सुन्दर कहानियाँ मिल जायँगी, जिनका (घटना के परिवर्तन के बिना) रंगमंच के लिए एकांकी बनाना कठिन है (और उनमें उनकी अपनी कहानी 'ताँगेवाला' भी है) उसी तरह ऐसे सुन्दर एकांकी नाटक भी हैं, जिन्हें कहानी के रूप में लाकर वह प्रभाव पैदा करना यदि असम्भव नहीं तो बेहद मुश्किल जरूर है।[1] और इस विषय पर अधिक न लिखकर मैं उदाहरण के रूप में जान गाल्ज़वर्दी का सुन्दर एकांकी पेश करूँगा, जिसे कहानी में परिवर्तित करके उससे सुन्दर बनाना तो दूर, वह प्रभाव कायम रखना भी कठिन है।

एकांकी और संभाषण—

अनारकली लाहौर में चचा-भतीजा के नाम से, विभिन्न व्यापारियों की चीज़ों का विज्ञापन करनेवाले दो व्यक्तियो के वार्तालाप का ज़िक्र करके, भाई चन्द्रगुप्त ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि एकांकी नाटक के लिए सिर्फ मनोरंजक और अर्थपूर्ण वार्तालाप ही की आवश्यकता है। इससे अधिक कुछ नहीं। इससे ज्यादा भ्रांति की बात

१. अश्क जी का नाटक 'चमत्का.' इसका उदाहरण है। (कौशल्या)

क्या हो सकती है ?

पट-उन्नायक का उल्लेख करते हुए और यह बताते हुए कि किस प्रकार महज़ मनोरंजन के लिए खेले जानेवाले नाटकों का स्थान मनोविज्ञान की गूढ़तम गुत्थियों को सुलझाने वाले, जीवन का यथार्थ-स्वाभाविक चित्रण करनेवाले नाटकों ने ले लिया, मैं बता चुका हूँ कि महज़ मनोरंजन एक सफल (खेले जानेवाले) नाटक के लिए काफ़ी नहीं। अब मैं इतना और निवेदन करूँगा कि केवल संभाषण ही एक सुन्दर (खेला जानेवाला) एकांकी नाटक नहीं बना सकता। उसके लिए निम्नलिखित बातों की भी आवश्यकता है :—

१—अनन्यमनस्कता (Concentration) अर्थात् एकांकी में ऐसी अनन्यमनस्कता का होना कि वह रंगमंच की परिमित सीमाओं और थोड़े समय में पूरा हो सके और दर्शक उसे देखकर असंतुष्ट न हो जायँ।

२—इकाई (Unity) सफल एकांकी में यह चार प्रकार की होनी चाहिए— क. उद्देश्य की इकाई (Unity of Motive) ख. प्रसंग की इकाई (Unity of Purpose) ग. कार्य-व्यापार की इकाई (Unity of Action) और घ. प्रभाव की इकाई (Unity of Impression) ये चार इकाइयाँ आज कल समय स्थान और अभिनय के अन्तर्गत ही आ जाती हैं।

३. इकाई की प्राप्ति (Attainment of Unity) अर्थात् ऊपर कही गई इकाइयों का एकांकी में प्राप्त करना। और यह सबसे कठिन बात है। इसी की कसौटी पर कसने से उत्तम, मध्यम अथवा निम्न श्रेणी के एकांकी का पता लग जाता है।

४. बुनावट के ब्यौरों का ख्याल (Peculiar Care in the Details of Composition) अपनी संक्षिप्ता और उद्देश्य तथा प्रसंग की इकाई के कारण एकांकी में इस बात का ख्याल रखना अत्यावश्यक है।

५ आधारभूत विचार (The Germinal Idea) और एकांकी में उसका प्रतिपादन ।

यह बात आसानी से समझ में आ सकती है कि अनारकली में खड़े होकर विज्ञापन करने वाले चचा भतीजे के सम्भाषण इन गुणों से वंचित होते हैं और उतने ही भर से सफल एकांकी नहीं बन सकता। एकांकी नाटक कहानी से भी कुछ ज्यादा है, अर्थ-वार्तालाप से भी बहुत कुछ ज्यादा है और यदि मुझे इसके लिए क्षमा किया जाय तो विनय के साथ मैं निवेदन करूँगा कि यह आवश्यक नहीं कि हर कहानी लेखक अथवा नाटककार सफल और उत्तम एकांकी लिख सके।

ग़लत-फ़हमी क्यों--

भाई चन्द्रगुप्त जी को और दूसरों को भी एकांकी के सम्बन्ध में जो ग़लत-फ़हमी है, उसका विशेष कारण एकांकी की व्यापकता और उसके उद्देश्य की विभिन्नता है। नाटक खेलने की चीज़ है और इसलिए एकांकी भी खेलने की चीज़ है और झाँकियाँ भी खेलने के लिए लिखी जाती हैं और यूरोप में इनका बड़ा प्रचार है, पर कई बार नाटक केवल पढ़ने के लिए भी लिख दिये जाते हैं और रंगमंच की आवश्यकताओं की अवहेलना करके नाटककार जो चाहे लिख देता है। इसी प्रकार एकांकी भी प्रायः केवल पढ़ने के लिए लिखे जाते हैं। चूँकि पढ़ने वालों को वे सुन्दर लगते हैं या दिलचस्प लगते हैं, इसलिए उनकी धारणा हो जाती है कि इन्हें

लिखना आसान है। इन पढ़नेवाले नाटकों में अन्तिम विन्दु का होना भी उतना आवश्यक नहीं। भाई जैनेन्द्र का जो नाटक टकराहट 'हंस' के एकांकी अंक में छपा है वह पढ़े जानेवाले नाटकों का सुन्दर उदाहरण है। किन्तु रंग-मंच के एकांकी के लिए जो बातें आवश्यक हैं उनके प्रकाश में यदि उसकी परख की जाय तो शायद उसकी टेकनिक पर यह पूरा न उतर सके।

एक दूसरा उद्देश्य जिससे एकांकी लिखे जाते हैं, रेडियो है। रेडियो के एकांकी की अपनी टेकनिक है और यदि रेडियो-प्ले छापा जाय तो सम्भव है कि पढ़नेवालों को और यदि खेला जाय तो सम्भव है कि दर्शकों को वह बिल्कुल तीन कौड़ी का जान पड़े।

इसका यह मतलब नहीं, कि रेडियो-प्ले सुपाठ्य नहीं होता। सुपाठ्य वह हो सकता है, पर यदि रेडियो के साधनों का समुचित प्रयोग कर नाटक लिखा जाय तो वह ब्राडकास्ट होने पर जितना [illegible] होगा, उतना छपने पर नहीं।

इस बात का यह तात्पर्य नहीं कि एक उद्देश्य से लिखा गया नाटक दूसरे उद्देश्य के लिए काम में नहीं लाया जा सकता। मेरा ही एक एकांकी 'पापी' जो गत वर्ष 'विशाल भारत' में छपा था, ४ फरवरी को लाहौर से ब्राडकास्ट हुआ, पर उसे रेडियो के लिए adapt करने में जितने परिवर्तन मुझे करने पड़े हैं, मैं ही जानता हूँ।

गलत-फहमी फैलने का अन्तिम कारण यह भी है कि कुछ लोग अच्छा सा सम्वाद लिखकर छापने को भेज देते हैं। सम्पादक उस पर एकांकी शीर्षक दे देता है। स्वभावतया उसे पढ़कर, यदि सम्वाद चुस्त है तो पाठक समझता है कि एकांकी लिखना बायें हाथ का काम है। ऐसे संभाषणों को 'संभाषण' का नाम देकर ही छापना

चाहिए। उर्दू में ऐसा ही होता है। ऐसे संभाषणों पर शब्द मुकालमा (Dialogue) लिख दिया जाता है और हाल ही में उर्दू के प्रसिद्ध मासिक पत्र हुमायूँ में प्रो० फय्याज़ महमूद का एक सुन्दर मुकालमा 'दस साल' छपा है। हिन्दी में यदि वह छपता तो बहुत लोग उसे एकांकी समझ लेते।

अब एकांकी नाटक-कला का दृष्टि से उपादेय है या नहीं, और साहित्य में उसका कोई स्थान है या नहीं इसका निर्णय मैं पाठकों पर छोड़ता हूँ। [1]

---

१. हंस बनारस जून १९३८।

एक पत्र और उसका उत्तर

यहाँ हम भाई श्री उपेन्द्रनाथ अश्क द्वारा भेजे हुए उनके तथा श्री जैनेन्द्रकुमार के बीच हुए एक पत्र-व्यवहार को छाप रहे हैं। पत्र-व्यवहार काफ़ी महत्व-पूर्ण है। पत्र से ही उसके विषय का ज्ञान हो जायगा। यह एकांकी के विषय में श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की शंका तथा श्री उपेन्द्रनाथ अश्क के जून के अंक में प्रकाशित लेख 'क्या एकांकी का साहित्य में कोई स्थान नहीं?' से सम्बन्धित है। श्री जैनेन्द्रकुमार के पत्र में और तो सभी बातें ठीक हैं, पर यह उनका भ्रमपूर्ण तर्क है कि जब हिंदी में रंग-मंच का अभाव है, तो हम एकांकी लिखने की ओर प्रवृत्त न हों। आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। यदि

आज हम सफल और कला-पूर्ण एकांकी नाटक लिखने लग जायँ, तो उनके लिए हिन्दी में रंगमच भी तैयार हो जाय और वे लोकप्रिय भी हो जायँ। (इसका दूसरा पक्ष भी इतना ही सबल है। पर शायद जो पक्ष हमने लिया है, वह अधिक बलवान है।) यदि महाराष्ट्र में साहित्यिक एकांकी नाटक सफलता-पूर्वक उपस्थित किये जा सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि हिन्दी में भी वैसा न हो सके। सच तो यह है कि आज हमें एकांकी नाटकों की ज़रूरत है। सिनेमा से हमें जो आनन्द प्राप्त होता है, वह आनन्द उससे सर्वथा भिन्न है, जो हमें अपने सामने रंगशाला में जीते-जागते पात्रों के अभिनय से मिलता है। हो सकता है यह विवादग्रस्त प्रश्न हो कि इनमें से कौन-सा आनन्द अधिक व्यापक है, पर इतना निश्चित है कि वे भिन्न हैं। और नाटकीय रंगमंच से मिलने वाला आनन्द इतना तुच्छ नहीं है, यह भी सिद्ध है। तब हम क्यों एकांकी नाटकों की ओर से विमुख और निराश हों। भाई उपेन्द्रनाथ अश्क का जवाब उचित है और हमारी उससे सहमति है। पत्र दोनों नीचे किये जाते हैं।

[सम्पादक हंस]

श्री जैनेन्द्र का पत्र

भाई उपेन्द्रनाथ जी,

'आपने जिक्र किया था कि हंस के 'एकांकी नाटक' वाले विशेषांक में चन्द्रगुप्त जी का जो पत्र छपा है, उसका उत्तर आपने दिया है।

उसके लिए काफ़ी अध्ययन भी आपने किया है और चन्द्रगुप्त जी की बात से आप सहमत नहीं हैं। यह भी आपने कहा था कि उस आपके लेख में मेरे एकांकी का भी जिक्र आ गया है। आपने चाहा कि लेख जब छप कर आवे तो मैं पढ़ूँ और राय दूँ।

मैंने वह लेख अभी देखा है, आज के हंस में आया है। मुझ जैसे के लिए वह कुछ डरावना है। उसमें जानकारी इतनी है कि मुझसे कठिनाई से उठे। मैं वह सब कुछ नहीं जानता। उतना मैंने पढ़ा नहीं। विलायत वाले अपनी जानें। उनके हालात, यहाँ से जुदा हैं। उनकी सब बातें यहाँ के लिए ठीक होंगी, यह मैं नहीं जानता।

भाई श्रीपतराय ने जब एकांकी नाटकों का अंक निकालने के निश्चय की बात मुझे लिखी, तब मैं उसे समझ नहीं पाया था। एकांकी नाटक साहित्य के बहुत से रूपों में से एक रूप है, वह परिस्थितियों के कारण सम्भव हुआ। जहाँ परिस्थितियों की लाचारी नहीं है। वहाँ उसे अनावश्यक रहने देने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। किसी वाह्य रूप को जब तक वह अन्तःप्रेरित न हो, खींच लाने का आग्रह जरूरी नहीं है।

मैंने श्रीपत भाई को लिखा कि एकांकी नाटक कोई ऐसी चीज़ नहीं है कि उस पर विशेषांक निकाला जाय। उन्होंने कहा कि बात शायद मेरी ठीक ही हो, लेकिन निश्चय चूँकि हो चुका है, इसलिए मैं कुछ एकांकी के रूप में लिख भेजूँ तो अच्छा है। मैंने तब 'टकराहट' लिख भेजा।

एकांकी का क्या स्वरूप हो, क्या उसकी परिभाषा है, क्या नियम, यह मैं कुछ नहीं जानता था। लेकिन कहानियाँ इतनी लिखी हैं—उसके ही नियम मैंने कब क्या जाने हैं। फिर भी कहानी लिखता गया, किसी

आज हम सफल और कला-पूर्ण एकांकी नाटक लिखने लग जायँ, तो उनके लिए हिन्दी में रंगमच भी तैयार हो जाय और वे लोकप्रिय भी हो जायँ। (इसका दूसरा पक्ष भी इतना ही सबल है। पर शायद जो पक्ष हमने लिया है, वह अधिक बलवान है।) यदि महाराष्ट्र में साहित्यिक एकांकी नाटक सफलता-पूर्वक उपस्थित किये जा सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि हिन्दी में भी वैसा न हो सके। सच तो यह है कि आज हमें एकांकी नाटकों की ज़रूरत है। सिनेमा से हमें जो आनन्द प्राप्त होता है, वह आनन्द उससे सर्वथा भिन्न है, जो हमें अपने सामने रंगशाला में जीते-जागते पात्रों के अभिनय से मिलता है। हो सकता है यह विवादग्रस्त प्रश्न हो कि इनमें से कौन-सा आनन्द अधिक व्यापक है, पर इतना निश्चित है कि वे भिन्न हैं। और नाटकीय रंगमंच से मिलने वाला आनन्द इतना तुच्छ नहीं है, यह भी सिद्ध है। तब हम क्यों एकांकी नाटकों की ओर से विमुख और निराश हों। भाई उपेन्द्रनाथ अश्क का जवाब उचित है और हमारी उससे सहमति है। पत्र दोनों नीचे किये जाते हैं।

[सम्पादक हंस]

श्री जैनेन्द्र का पत्र

भाई उपेन्द्रनाथ जी,

'आपने जिक्र किया था कि हंस के 'एकांकी नाटक' वाले विशेषांक में चन्द्रगुप्त जी का जो पत्र छपा है, उसका उत्तर आपने दिया है।

उसके लिए काफ़ी अध्ययन भी आपने किया है और चन्द्रगुप्त जी की बात से आप सहमत नहीं हैं। यह भी आपने कहा था कि उस आपके लेख में मेरे एकांकी का भी ज़िक्र आ गया है। आपने चाहा कि लेख जब छप कर आवे तो मैं पढ़ूँ और राय दूँ।

मैंने वह लेख अभी देखा है, आज के हंस में आया है। मुझ जैसे के लिए वह कुछ डरावना है। उसमें जानकारी इतनी है कि मुझसे कठिनाई से उठे। मैं वह सब कुछ नहीं जानता। उतना मैंने पढ़ा नहीं। विलायत वाले अपनी जानें। उनके हालात, यहाँ से जुदा हैं। उनकी सब बातें यहाँ के लिए ठीक होंगी, यह मैं नहीं जानता।

भाई श्रीपतराय ने जब एकांकी नाटकों का अंक निकालने के निश्चय की बात मुझे लिखी, तब मैं उसे समझ नहीं पाया था। एकांकी नाटक साहित्य के बहुत से रूपों में से एक रूप है, वह परिस्थितियों के कारण सम्भव हुआ। जहाँ परिस्थितियों की लाचारी नहीं है। वहाँ उसे अनावश्यक रहने देने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। किसी बाह्य रूप को जब तक वह अन्तःप्रेरित न हो, खींच लाने का आग्रह ज़रूरी नहीं है।

मैंने श्रीपत भाई को लिखा कि एकांकी नाटक कोई ऐसी चीज़ नहीं है कि उस पर विशेषांक निकाला जाय। उन्होंने कहा कि बात शायद मेरी ठीक ही हो, लेकिन निश्चय चूँकि हो चुका है, इसलिए मैं कुछ एकांकी के रूप में लिख भेजूँ तो अच्छा है। मैंने तब 'टकराहट' लिख भेजा।

एकांकी का क्या स्वरूप हो, क्या उसकी परिभाषा है, क्या नियम, यह मैं कुछ नहीं जानता था। लेकिन कहानियाँ इतनी लिखी हैं—उसके ही नियम मैंने कब क्या जाने हैं। फिर भी कहानी लिखता गया, किसी

ने मेरा हाथ नहीं रोका, बल्कि कुछ ने शाबाशी दे दी।

ऐसे ही हंस की ओर से भाई श्रीपत की माँग आने पर एकांकी मैंने लिख डाला। इस चिन्ता की ओट नहीं ले सका कि एकांकी के विधि-विधान को मैं नहीं जानता हूँ, इसलिए क्यों और क्या लिखूँ ?

जान पड़ता है कि अगर आपका लेख या कोई एकांकी नाटक सम्बन्धी पुस्तक मैं पढ़ने बैठता तो 'टकराहट' या कुछ और का उत्साह मेरा बिलकुल चुक जाता और परिणाम शून्य रहता है। अब इतना तो है कि 'टकराहट'—चाहे वह 'अनेकांकी नाटक' हो चाहे 'एकांकी अनाटक' हो चाहे न एकांकी हो न नाटक हो—के नाम पर कुछ तो हंस के पाठक के समक्ष अपना मुँह रखने लायक रख ही सका।

क्या आप यह पसन्द करते कि मैं जब तक ठीक 'एकांकी' ठीक 'नाटक' और ठीक 'एकांकी नाटक' लिखने लायक अपने को न बना लूँ, तब तक कलम उठाऊँ ही नहीं। शायद आप ऐसा पसन्द नहीं करते।

अब प्रश्न यह है कि एकांकी नाटक के नाम पर जो कुछ लिखा गया, उसकी सफलता इसमें है कि वह आपकी गिनाई गई शर्तों को पूरा करे, या वह सफलता इस बात में है कि पढ़ने वाले चित्त को तृप्ति दे, रस दे ?

मान लीजिए कि पढ़ते समय वह आपको अच्छा लगता है। जैसा कि शायद 'टकराहट' आपको अच्छा लगा भी है। तब यह कहकर कि वह एकांकी नाटक नहीं है, मेरी आँखों को कैसे खोला जा सकता है। मेरे और पाठक के बीच में शब्दों का माध्यम है। उस माध्यम

से मैं अपने भावों को प्रकट करता हूँ और पाठक उस माध्यम द्वारा मुझे ग्रहण करता है। इस विधि हम दोनों में परस्पर सहानुभूति जागती है, इस सहानुभूति की गहराई के अलावा और बाहरी माप कौन सा हो सकता है। जो सफलता अथवा असफलता का निर्णायक हो।

आज की हालत में एकांकी नाटक भी इसी क़िस्म की चीज़ है। उसका माध्यम लिखा और पढ़ा जानेवाला शब्द है, सुना जानेवाला शब्द माध्यम नहीं है। अर्थात् स्टेज माध्यम नहीं है। हिन्दी का स्टेज कहाँ है? आज की हालत में लगभग असम्भव है कि साहित्यिक लेखक पाठक से भिन्न किसी दर्शक को अपने सामने अनुभव करे और उसको ध्यान में रखकर लिखे। एकांकी लिखे जाते हैं तो वे छपते ही हैं, खेले वे नहीं जाते।

अब स्टेज वह है, जो काल्पनिक नहीं है। अगर आज स्टेज है तो है, अगर आज वह नहीं है तो यह कहने में कुछ मतलब नहीं कि भविष्य की स्टेज का हम ख्याल रखें। स्टेज पैदा करें यह तो ठीक है, पर जब तक वह पैदा नहीं हुई है, उससे पहले ही उसके ख्याल से साहित्यिक काट-छाँट और आलोचन-विलोचन का काम कैसे शुरू किया जा सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता।

इसीलिए मुझे प्रतीत होता है कि एकांकी नाटक आज के लिए कुछ कृत्रिम चीज़ है। उसके अपनाये जाने का कारण फैशन है, न कि आवश्यकता। उसमें जो कोष्टक लगते हैं, वे तमाशा बन जाते हैं। कोष्टक का अर्थ है कि वे पाठक के लिए नहीं हैं, पढ़े जाने के लिए नहीं हैं, वे निर्देशक के लिए निर्देश हैं, लेकिन लेखक और पाठक के बीच कोई निर्देशक आता ही कब है? परिणाम यह होता है कि वैसे कोष्ठक-गत

निर्देशों में साहित्यिक छटा भी दिखाई जाती है। जब तक कसौटी नहीं है, तब तक उस कसौटीवाली परख की बात उठाने से कोई विधायक अभिप्राय पूरा नहीं होगा।

एकांकी नाटक, अगर वह छपता है, तो सुपाठ्य होना चाहिए, और बस। इससे आगे और अलग किसी भी और तरह की माँग उससे नहीं की जा सकती। क्योंकि उस वस्तु का गाहक अखबार पढ़नेवाला है। हाँ अगर गाहक पढ़नेवाला न होकर देखनेवाला हो तो बेशक इस बात की चिन्ता अनावश्यक हो जाती है कि वह सुपाठ्य है भी या नहीं। तब तो उसका दृश्यरूप मनोरंजक होना चाहिए। तब उसे आवश्यक रूप में ऐसा होना चाहिए कि दर्शक तृप्त हो। ऊँचे-से-ऊँचे विचार और सुन्दर-से सुन्दर भाषा अथवा साहित्य-सम्बन्धी वह सब विशेषता जो उसको एक ही साथ दृश्य-रूप में मनोवेधक बनने में सहायता नहीं देती, निरर्थक हो जाती है, लेकिन जब तक हालत वह नहीं है, हम दर्शक को कुछ नहीं दिखाते, पाठक को ही पढ़ाते हैं, तब तक दर्शक की ओर से वकालत करना निराशय उत्साह का चिन्ह है, आवश्यकता से संगत वह नहीं है।

विलायतों में नाटक, और एकांकी नाटक भी, दिखाने के लिए लिखे जाते हैं। अगर वहाँ भी ऐसा नहीं है तो वहाँ भी गलती है। ईजाद आवश्यकता में से होगी ही। ज़बरदस्ती नयी बात कहने और नया काम करने की कोशिश उपहास्य होती है। पर चूँकि परिस्थितियाँ प्रतिक्षण बदलकर अपने को नया बनाये रहती हैं, इसलिए सभी दिशाओं में नये-नये ढंग भी निकलते रहते हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि नयेपन की कमी कभी होगी। पर एकांकी नाटक यहाँ किस आवश्यकता की उपज है, अथवा कि वह उपज भी है, या कि उस

रूप को एक अनुकरण की धुन में ओढ़ लिया गया है ?

लेकिन आप जानते तो हैं कि मैंने खुद 'टकराहट' लिखा है। उसमें ब्रेकिटों से भी यथाविधि काम लिया गया है। फिर भी मुझे जान पड़ता है कि वे ईमानदारी के ब्रेकिट नहीं हैं, फैशन के ब्रेकिट हैं। लेकिन मेरे पास तो यह सांत्वना है कि मैंने फैशन निबाहा तो निबाहा, पर और लिहाज़ से ईमानदारी के साथ मैंने पाठक के प्रति अपने नाते का ख़्याल रखा। स्टेज से मेरी दोस्ती क्या परिचय भी नहीं था। स्टेज ने मुझ से कुछ नहीं माँगा था। 'हंस' ने अपने पाठकों के लिए ही मुझसे कुछ चाहा था, तब मेरी इसी पर छुट्टी थी कि मैं जो लिखूँ वह पढ़ने में दिलचस्प हो। इसके आगे या इधर-उधर में जाता तो पाठक के प्रति अकृतज्ञता न होती ?

आपने एकांकी की परिभाषाओं से और व्याख्याओं से खूब साफ कर दिया है। लेकिन उससे आप देखेंगे कि असली काम पूरा नहीं होता। उससे हिन्दी में लिखे जाने वाले एकांकी नाटकों का परिष्कार नहीं होगा, बल्कि लेखक कुछ विकल्प में पड़ जायगा। यदि आप समझते हैं कि एकांकी स्थायी चीज़ है, उसे अपनाना है, उसे परिष्कार देना है तो उसकी राह यह है कि स्टेज पैदा हो और खेलने के लिए एकांकी माँगे जायँ। अभिनय ही जब नहीं है, तो अभिनेता की जाँच के लिए कोई खरी कसौटी भी नहीं है, इसलिए तब तक अभिनेता के दृष्टिकोण से नाटक-साहित्य की आलोचना सत्समालोचना भी कैसे ठहर सकेगी।

आपका दृष्टि-कोण अयथार्थ नहीं है। आप स्टेज को अपने से दूर नहीं पाते और रेडियो का एक-एक कर, दूर-दूर फैला हुआ लिसनर (श्रोता) भी आप से दूर नहीं रह गया है। लेकिन औसत हिन्दी

लेखक के लिए क्या इन स्थितियों की वास्तविकता इतनी प्रकट है! नहीं है। इसलिए उस तराज़ू पर उनकी रचनाओं को तौलने और पास या फ़ेल करने से विशेष फल नहीं निकलेगा।

मैं चाहता हूँ कि स्टेज पर, फिल्म पर साहित्य का अधिकाधिक व्यक्तिकरण हो। उसके लिए आप उद्योग करें। और लोग भी उद्योग करें। तब उस प्रकार की माँग साहित्य के सामने साफ़-साफ़ आयेगी और तदनुकूल लचक भी स्वस्थ साहित्य में पाई जायगी। उससे पहले, किताबों के आधार पर जो विधि-विधान का प्रेम दिया जायगा, वह शिकंजे के तौरपर साबित होगा और साहित्य की स्फूर्ति को बढ़ायेगा नहीं, उस पर बोझ के मानिन्द होगा। बस अब खत्म करूँ।

दिल्ली
२३-६-३८

आपका
जैनेन्द्र कुमार।

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क का उत्तर

मान्यवर जैनेन्द्र जी,

मैं कृतज्ञ हूँ कि आपने मेरा लेख पढ़ा और पढ़कर उस पर मुझे कुछ लिखने की कृपा की। बहुत हद तक मैं आपकी बातों से सहमत भी हूँ और एक-दो जगह जो मेरा आपसे मतभेद है, वह भी वैयक्तिक रुचि-अभिरुचि का सवाल है और कुछ अन्तर दृष्टिकोण का भी है। आपकी इस चिट्ठी का कुछ जवाब देने के बदले में अपने उसी लेख में दी गई चन्द बातों को और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

पहली तो बात यह है कि उस लेख को लिखने से मेरा उद्देश्य कदापि हिन्दी लेखकों के मार्ग में रुकावट पैदा करने का न था और मेरा ख्याल है कि वह उन्हें किसी प्रकार के विकल्प में रखेगा भी

नहीं। कहानी की टेकनिक मौजूद है तो क्या नये लेखक किसी प्रकार की द्विविधा में पड़ते हैं ? जिसके अन्दर उद्‌गार बाहर निकलने के लिए तड़प रहे हैं, वह तो लिखेगा ही, चाहे वह टेकनिक से भिज्ञ हो या अनभिज्ञ, फिर भी टेकनिक की आवश्यकता है, इससे किसी को इनकार नहीं हो सकता और यह भी सत्य है कि टेकनिक की मौजूदगी में भी महान् लेखक उसे लताड़ते हुए चले जाते हैं और टेकनिक दासी की भाँति उनके पीछे-पीछे चलती है—ये सब बातें परस्पर विरोधी होते हुए भी सत्य हैं।

फिर वह लेख लिखने से मेरा उद्देश्य उतना एकांकी नाटक की टेकनिक बताना नहीं था, जितना उस भ्राँति को दूर करने का प्रयास करना, जो विविध प्रकार के नाटकों को छपे देखकर साधारण पाठक के मन में एकांकी के प्रति उत्पन्न हो जाती है। (जिसका आभास भाई चन्द्रगुप्त के लेख से भी मिलता है) इसलिए मेरा लेख हिन्दी लेखकों के लिए उतना न होकर पाठकों के लिए अधिक है और इसलिए है कि वे विभिन्न प्रकार के एकांकी नाटकों को ठीक तौर पर ग्रहण कर सकें। उदाहरणतया आपका नाटक पढ़े जानेवाले नाटकों का उत्तम नमूना है। उसे यदि मेरे जैसा पाठक, जिसके मस्तिष्क पर रंगमंच का प्रभाव है, उस टेकनिक पर नापे और कहे कि वह अच्छा नहीं, तो वह गलती करेगा। ताज़े अंक में छपा हुआ श्री धर्मप्रकाश आनन्द का सुन्दर नाटक भी दर्शक के लिए न होकर पाठक के लिए ही अधिक है। इसी प्रकार यदि किसी ऐसे नाटक के (जो रंग-मंच का है पर साथ छपा भी है) बहुत से कोष्टकों को देखकर कोई उस पर नाक-भौं सिकोड़े और इसी बिना पर नाटक को नापसन्द कर दे तो मेरे ख्याल में यह बड़ा भारी अन्याय है।

आपने तो भला अपने नाटक में कुछ निर्देश दिये भी, पर ऐसी कुछ स्वतन्त्र चीजें भी हो सकती हैं जो न पढ़नेवाले और न खेलने वाले नाटक की कोटि में आती हैं, अर्थात् जिन्हें नाटक नही कहा जा सकता, पर फिर भी वे सुन्दर हो सकती हैं, एकांकी-अंक में छपी हुई श्री हरदयाल मौजी की सुन्दर चीज़ उसी तरह की है। उसे उसके स्वतन्त्र रूप में पढ़कर उसका आनन्द लेना चाहिए। कौन-सी चीज स्टेज के लिए लिखी गई है, कौन-सी महज़ पाठक के लिए और कौन-सी श्रेणी-बद्ध न होकर अपना स्वतन्त्र रूप रखती है, इन सब बातों का निर्णय पाठक स्वयं अपने मन में कर सके, मेरे उस लेख का यही सबसे बड़ा उद्देश्य था।

साथ ही उस लेख से मेरा मतलब उन भ्राँतियों को दूर करना था, जो एकांकी नाटक के सम्बन्ध में भाई चन्द्रगुप्त के मन में थीं और जिनका आभास उनकी निम्नलिखित बातों से मिलता है।

१. यह कि एकांकी की कोई अपनी टेकनिक नहीं और इसलिए साहित्य में उसका स्थान नहीं।

२ यह कि एकांकी महज़ चचा-भतीजा वाला संभाषण-मात्र है और केवल मनोरंजन की चीज़ है।

३. यह कि एकांकी लिखना बहुत आसान है।

और चूँकि अपने लेख में उन्होंने अपने-आपको महज़ हिन्दी एकांकी नाटकों तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उनके विचार यूरोप के नाटकों के सम्बन्ध में भी यही थे, इसलिए मुझे विस्तार के साथ वह लेख लिखना पड़ा।

अब यदि मेरे उस लेख को पढ़कर आपको या अन्य किसी मित्र को यह आभास मिला है कि मैं उन्हीं नाटकों को नाटक मानता हूँ,

जो केवल खेलने के लिए लिखे जायँ, तो यह मेरे प्रति अन्याय होगा। यहाँ तो भला स्टेज नहीं, यूरोप में, जहाँ स्टेज है और पूर्ण रूप में है, वहाँ भी आज पढ़ने के लिए नाटक लिखे जाते हैं। और कुछेक का मैंने अपने लेख में उल्लेख भी किया है।

रही आपकी यह बात कि जब हिन्दी में स्टेज नहीं तो स्टेज की आवश्यकताओं को सामने रखकर नाटक लिखना, उसी तराजू पर उसे तोलना और उस दृष्टिकोण को सामने रख, उसकी आलोचना करना ठीक नहीं तो इस सम्बन्ध में मैं विनय-पूर्वक आपसे यह पूछूँगा कि यदि हिन्दी में और दस वर्ष तक स्टेज का आविर्भाव न हो तो क्या हम अपनी वर्तमान अचल स्थिति से सन्तुष्ट रहेंगे? क्या हम अपने पाठकों के सीमित दायरे तक अपने नाटक पहुँचाकर चुप हो बैठ जायेंगे, क्या रंग-मंच द्वारा सहस्रों अशिक्षित देहातियों तथा नागरिकों तक पहुँच जाने की हम इच्छा नहीं करेंगे? भारत के असंख्य अशिक्षित नर-नारियों तक पहुँचने का एक-मात्र उत्तम साधन एकांकी का रंगमंच है। रेडियो पर वह सीधी अपील कहाँ?

अब सवाल आप उठायेंगे कि रंगमंच जब है नहीं तो फिर लेखक क्या करे! इस सम्बन्ध में मेरा अपना विचार है कि यदि आज हम ऐसे सुन्दर नाटक लिखें जो रंगमंच पर खेले जा सकें तो कल रंगमंच भी अपनी वर्षों की नींद से जाग उठेगा। यूरोप में भी तो यही हुआ। जब सिनेमा और समयाभाव के कारण लम्बे-लम्बे नाटक खेलने का जमाना चला गया और सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन के कारण शेक्सपियर की तरह के दुखांत नाटक लिखना असम्भव हो गया तो इबसन और दूसरे लेखकों ने नयी तरह के छोटे नाटकों को जन्म देकर स्टेज का पुनरुद्धार किया।

रहा मात्र एकांकी का प्रश्न तो उसकी उपज की आवश्यकता इसलिए है कि हम जीवन की विविध समस्याओं को असंख्य देहातियों और नागरिकों के सामने रख सकें। देहातों में न तो नगरों के सिनेमा, क्लब-हाउस अथवा थीएटर हैं और न उनके पास इन सब के लिए पर्याप्त धन है। एकांकी की स्टेज में न उतना व्यय होता है और न समय लगता है और बड़ी सुगमता से मनोरंजन के साथ-साथ देहातियों की शिक्षा का काम हो सकता है।

मैं मानता हूँ कि एकांकी पहले-पहल नगरों के एमेचर रंगमंच पर खेले जायेंगे पर यदि देहातियों के लिए नाटक लिखे गये और ऐसी सभाएँ बनाई गईं तो शीघ्र ही एकांकी देहात में फैल सकता है। यूरोप में यह प्रयास सफल रहा है और कोई कारण नहीं कि भारत में न हो।

आप कहेंगे कि यह तो अनुकरण हुआ। तो मैं निवेदन करूँगा कि अव्वल तो अनुकरण अपने में कुछ बुरा नहीं और फिर हम तो अनुकरण नहीं करते, हमारे यहाँ एकांकी तब मौजूद था, जब यूरोप में किसी को इसका स्वप्न भी न था। हम उसे ही नये हालत के अनुसार पुनर्जन्म देना चाहेंगे और कुछ नहीं।

फिर आज हमारे स्कूलों कालेजों में अँग्रेज़ी एकांकियों के अनुवाद इसीलिए खेले जा रहे हैं कि हिन्दी उर्दू में मौलिक एकांकी नहीं हैं। यदि हम अच्छे एकांकी लिखेंगे तो एमेचर रंगमंच की माँग को भी पूरा करेंगे।

विनीत
उपेन्द्रनाथ अश्क

———

परिचय

व्यक्तित्व

श्री भैरवप्रसाद गुप्त

सेहत मन्द मरीज़

डा० द्वारका प्रसाद

जीवन

श्री निर्मल चन्द्र श्रीवास्तव

व्यक्तित्व

"A writer cannot write about anything and anyone. He is limited in his choice of subject matter and choice of characters. Every writer, even the greatest, has walls. The work of a writer is determined by the society in which he lives. This every one now knows. But what a writer produces is also determined by his biography, his experience, his character."

Ilya Ehrenburg

आज भी हमारे यहाँ बहुत-से ऐसे लेखक हैं, जो यह बात नहीं मानते। उनका यह कहना है कि लेखन-कार्य का लेखक के जीवन,

चरित्र और आचरण से कोई सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं। अनुभव की बात आज सभी मानने लगे हैं, किन्तु यह बात मानने से इनकार करते हैं कि अनुभव का ग्रहण करना बहुत कुछ हमारे जीवन, चरित्र और आचरण पर ही निर्भर है। कल्पना, मूड और दैवीशक्ति और जन्मजात प्रतिभा की बात करनेवाले ऐसे लेखकों की कलई तब खुलती है, जब उनकी रचनाएँ आप पढ़ें।

क्या कारण है कि उर्दू का प्रगतिशील से प्रगतिशील शायर भी शराब के वर्णन से छुटकारा नहीं पाता? क्या कारण है कि भारतेन्दु बाबू पौराणिक नाटकों से सामाजिक नाटकों पर उतर आये? क्या कारण है कि जयशंकर प्रसाद अपने नाटकों में दूर अतीत के शवों को ही जीवित करने में जीवन-भर लगे रहे? क्या कारण है कि हमारे दूसरे कुछ नाटककारों की प्रतिभा, जो निकट अतीत के ऐतिहासिक चरित्रों को चित्रित करने में सफल हुई, वह वर्तमान के सामाजिक स्तर पर आकर सूख गई?

कोई माने या न माने, कारण उनका अपना जीवन, चरित्र और आचरण ही है। नशा भूत की तरह सिर पर चढ़ कर बोलता है। वर्तमान के सामाजिक कर्तव्यों के प्रति जागरूक होकर कोई शुतुरमुर्ग की तरह सिर गाड़कर नहीं रह सकता। वर्तमान से निराश, कुण्ठित तथा अतृप्त रहनेवाला अतीत के गौरव का खोल ओढ़कर जीवित रहता है। आन-बान-शान का भूखा राजपूत और मुग़ल काल में ही अपने सपनों को चरितार्थ होते देखता है और वर्तमान के दैन्य, दुख और कठोर संघर्ष की आँच लगते ही उसके सपनों के पंख झुलस जाते हैं।

अतीत का कोई अर्थ नहीं यदि वह वर्तमान को प्रेरणा न दे;

वर्तमान का कोई मतलब नहीं यदि वह भविष्य को कोई स्वप्न न दे। सच्चा साहित्यकार अतीत को वर्तमान के लिए लेता है और वर्तमान को भविष्य के लिए! वह अतीत में नहीं जीता, जीता वह वर्तमान में है, और देखता वह भविष्य की ओर है।

अश्क को कल्पना, मूड, दैवी शक्ति और जन्मजात प्रतिभा के प्रति कोई भुलावा नहीं। वे आप से साफ़-साफ़ कह देंगे कि उनकी कल्पना वैसी प्रखर नहीं; मूड के वे गुलाम नहीं; कोई दैवी हाथ उनका कलम नहीं चलाता और जन्मजात प्रतिभा उनमें थी नहीं। जीवन भर उन्होंने संघर्ष किया है, हर मोड़ को समझकर उन्होंने सही रास्ता पकड़ा है, कितने ही भटकावों से लड़कर उन्होंने अपने लेखक की रक्षा की है और स्वयं ही हाथ-पाँव मारकर उन्होंने तैरना सीखा है। उन्हें गर्व है कि उन्होंने लेखक बनना चाहा और वे अपने अथक परिश्रम से बन गये। वे अपनी सीमाओं को खूब अच्छी तरह समझते हैं और अपने विस्तार को बराबर बढ़ाते रहने में सजग रूप से प्रयत्नशील रहते हैं। श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतर से श्रेष्ठतम उनका लक्ष्य है। उनका कहना है कि अपने जीवन की श्रेष्ठतम रचना देकर ही वे यह संसार छोड़ेंगे, उसके पहले नहीं।

अश्क सागर के तल में पड़े मोती या आकाश में खिलनेवाले फूलों की ओर हाथ नहीं लपकाते। वे जो जीते हैं, वही उनका सरमाया है, उसी को लिखते हैं। उन्होंने जीवन से कहीं कन्नी नहीं काटी, जो पड़ा, जहाँ पड़े, भरपूर जीवन जिया। पहाड़ और घाटी, मैदान और दलदल, सड़क और पगडंडी, नदी और नाले, काँटे और फूल—सब से होकर, आशा का सम्बल लिये, सभी सर्दियों-गर्मियों को सहकर वे आज अपनी मंजिल के करीब पहुँच गये हैं। फिर भी उन्हें चैन नहीं।

संघर्षपूर्ण जीवन ने उन्हें जो खज़ाना दिया है, उसके एक-एक सिक्के को जब तक वे नहीं भुना लेते, उन्हें चैन कहाँ ? लेकिन संघर्षशील, गतिशील, सजग जीवन के खज़ाने से जहाँ एक सिक्का निकलता है, वहाँ क्या दो और आकर शामिल नहीं हो जाते ? अश्क अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक लिखेंगे। हमारे कुछ साहित्यकारों की तरह भरे जीवन में ही वे जेबें उलटकर दीवाला नहीं बोल देंगे या पुरानी साख पर खोटे सिक्के चलाने का प्रयत्न नहीं करेंगे।

संघर्ष पूर्ण जीवन का नाटक जितना सम्पन्न होता है, उतना और क्या होगा ! अश्क के नाटकों की सम्पन्नता का यही रहस्य है। अश्क एक नायक की तरह पूरा जीवन जिये हैं। उनके जीवन और व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह नायकत्व ही है। आप उनसे मिलिए, आप हर क्षण यह अनुभव करेंगे कि आप एक बड़े ही शक्तिशाली नायक से मिल रहे हैं। कपड़ा-लत्ता, चाल-ढाल बात-चीत, लबो-लहजा, हाव-भाव, सभी कुछ आपको एक नायक का मिलेगा और आप मात्र एक दर्शक रह जायँगे। इस नायकत्व और नाटकीयता से भरपूर अश्क का व्यक्तित्व हर स्थान पर अलग, असाधारण, भिन्न दिखाई देता है। कोई बड़े से बड़ा 'स्नाब' भी अश्क और अश्क के व्यक्तित्व के महत्व को फ़रामोश करने में सफल नहीं हो सकता। बीसियों पात्रों में जिस तरह नायक का व्यक्तित्व होता है, वैसा ही अश्क का है और जहाँ यह नहीं, वहाँ अश्क नहीं। अश्क नायक के व्यक्तित्व में विश्वास रखते हैं, साधारण पात्र बनकर रहना उनके लिए कहीं भी सम्भव नहीं। जीवन-संघर्ष से एक नायक की तरह विजय की पताका लहराते हुए प्रगट होने वाले अश्क की यह शान जितनी स्वाभाविक है, उतनी ही मुग्धकर। आप तालीं बजाने, वाह-वाह करने पर मजबूर हो जाते हैं, आप प्रशंसा किये बिन

रह ही नहीं सकते। नायक की विजय दर्शकों की विजय होती है। हाँ, अगर आप भी अपने को नायक समझे हुए हों, तो बात दूसरी है, आप जलिए और हाथ मलिए और आपको अपनी सेहत प्यारी है, तो अश्क के क्षेत्र से बाहर रहिए।

भारतीय मंच के सबसे सफल अभिनेता पृथ्वीराज के साथ अश्क को कई बार देखने के अवसर इन पक्तियों के लेखक को मिले हैं। जहाँ तक शारीरिक स्वास्थ्य, कद और व्यक्तित्व का सम्बन्ध है, कहाँ पृथ्वीराज और कहाँ अश्क! लेकिन अश्क का व्यक्तित्व अपना ज़ोर लगाता है, और यह शारीरिक भेद आप ही हवा हो जाता है। पृथ्वीराज अपने पूरे दल के साथ बैठे हैं। अश्क कहते हैं, मैं अपना एक हास्य रस का नाटक सुनाता हूँ, आप हँसते-हँसते लोट-पोट हो जायेंगे। पृथ्वीराज जैसे मन में कहते हैं, अच्छा! अभिनेता अभिनेता है, वह आवश्यकता की मूर्त्ति बनकर मंच पर उतरता है, रोना-हँसना उसके अभिनय में आवश्यकतानुसार ही होता है, एक इंच भी इधर-उधर नहीं। और पृथ्वीराज यह क़स्द करते हैं कि वे शान्त रहने का अभिनय करेंगे। और नाटककार अश्क कहते हैं, हँसा न दिया, तो कोई बात है। और वे 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' को अपने पूरे नाटकीय ढंग सुनाते हैं। सारा दल लहालोट है और सफल अभिनेता मूरत की तरह स्थिर, और अश्क अपने रंग में, अपनी सफलता के प्रति आश्वस्त! और फिर वही हालत होती है—'खसी माल मूरति मुसकानी!' और पृथ्वीराज अपने को रोक नहीं पाते, सचमुच हँस पड़ते हैं और एक बार हँसते हैं तो फिर अपने पर अधिकार नहीं रख पाते। यहाँ अभिनेता नाटककार अश्क हैं और पृथ्वीराज एक दर्शक के कर्त्तव्य निबाहने के लिए मजबूर हैं।

अश्क को अपनी रचनाएँ, विशेषकर नाटक सुनाने में बड़ा मज़ा

आता है। उनकी यह बात धुन की सीमा तक पहुँची हुई है। और इन में उनको वह महारत हासिल है कि उनको सुनना एक 'ट्रीट' है। अश्क कोई नाटक लिख रहे हैं, आप मिलने आ जाते हैं। कुछ लेखकों की तरह वे मूड की परवाह कर के, आपको टरकाते नहीं, बुला लेते हैं और कहते हैं—यह नाटक लिख रहा हूँ, इतना हो गया है, चाहो तो सुना दूँ। और वे सुना जाते हैं और आप की राय भी ले लेते हैं, आप कौन हैं, आपको नाटक की कितनी समझ है, इससे कोई वास्ता नहीं। आप इन्सान हैं और कुछ नहीं तो एक पाठक और एक दर्शक तो हैं ही और नाटककार अश्क के लिए आपकी राय का मूल्य है।

और दस मिनट बाद फिर कोई आ पहुँचा, तो फिर वही बात। नाटक पूरा होते-होते अश्क उसे बीसियों बार बीसियों आदमियों को सुना चुके होते हैं। औरों के देखे यह सिर्फ सुनना-सुनाना होता होगा, अश्क के लिए यह बार-बार दुहराना होता है—बोल-बोलकर, सुना-सुनाकर जैसे मंच पर से, दुबारा, सहबारा, बीसियों बार वे अपनी पांडुलिपि को माँझते हैं। वे नाटक लिखते नहीं, नाटक पर काम करते हैं—एक मज़दूर की तरह, उसकी एक-एक पंक्ति पर, एक एक शब्द पर, एक-एक अक्षर पर; रात और दिन, दिन और रात; अच्छे रहे तो, बीमार रहे तो; रोग अपना काम करता है, अश्क अपना; रोग एक दिन का हो तो कोई परवाह करे, रोज़-रोज़ के रोग की परवाह कोई करे भी तो कहाँ तक? और वह भी अश्क-जैसे आदमी, जिनके लिए जिन्दगी का नाम ही काम है, काम नहीं, तो ज़िन्दगी क्या। परिस्थितिवश जब कभी ऐसा हो जाता है कि वे कुछ काम नहीं कर पाते, उस दिन अश्क जैसा दुखी, बेचैन और चिड़चिड़ा इन्सान दुनिया में कोई दूसरा नहीं; और जिस दिन वे चार पंक्तियाँ भी अच्छी लिख लेते हैं, उनके जैसा

खुश, सन्तुष्ट और दिलचस्प आदमी दुनिया में नहीं। अश्क की जिन्दगी का नाम है—लिखना, लिखना और लिखना !

एक नाटक पूरा करके भी वह महीनों स्टीफ़न ज्वाइग की तरह 'ज्वायफुल हंट' में लगे रहते हैं और जब तक अपनी जान में उसका अक्षर-अक्षर दुरुस्त नहीं कर लेते, पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं हो जाते, पुस्तक का रूप नहीं देते। यह नहीं कि लिखा और ले भागे।

अश्क के नाटककार और उनके निजी व्यक्तित्व में ज़रा बराबर भी फर्क नहीं। आपने कई हास्य रस के लेखकों को ऐसा देखा होगा कि उनके चेहरे को देखकर रोना आता है। यह विरोध अश्क के चरित्र में नहीं। अश्क को नाटकीयता, नाटकीय व्यक्ति, नाटकीय घटनाएं, नाटकीय रंग बहुत पसन्द हैं। सीधा-साधा जीवन भी कोई जीवन है, भोला-भाला आदमी भी कोई आदमी है, यह भी कोई बात हुई कि कोई घटना ऐसे घट गई कि किसी को ख़बर तक न हुई और वह रंग भी क्या जो रंगारंग न हो! अरे भाई, कुछ भी असाधारण तो हो। आपका घृणा का पात्र अश्क का सबसे प्यारा हो सकता है। यह दुनिया है, यह ज़माना है और यह समाज है, सीधे का गुज़र कहाँ ! घी और शक्कर, दुनिया और मक्कर। आप इससे सचमुच मुक्त हैं तो आप देवता हैं और अगर आप करते वही सब हैं, लेकिन उसे सफेदपोशी में ढँके रहते हैं, तो आप राक्षस हैं। अश्क न देवता हैं न राक्षस, वे इन्सान हैं। कुछ ढँकते नहीं, जो कहते हैं, करते हैं; जो करते हैं कह देते हैं। उनका चरित्र एक खुली हुई किताब है, आप पढ़ लीजिए, अच्छा लगे तो खुश, बुरा लगे तो खुश।

अश्क को नाटक लिखने में जितनी खुशी होती है, उतनी ही उसे खेलने में भी। अश्क के लिए नाटक लिखना और खेलना दो चीज़ें

नहीं। नाटक अगर खेला न गया, तो नाटक क्या हुआ। परसी हुई थाली पर बैठनेवाला नहीं आता है तो गृहणी को जितना कष्ट होता है, वही अश्क को अपने नाटक के न खेले जाने पर होता है। अश्क ने कितनों को उत्साहित किया, कितना परिश्रम किया, कितना पैसा खर्च किया, यह कोई छिपी हुई बात नहीं। अश्क जितना परिश्रम नाटक लिखने में करते हैं, उतना ही उसे खेलने और उसके दिग्दर्शन में भी। अश्क के दिग्दर्शन में काम करनेवाले तोबा बोल देते हैं, लेकिन बीमार अश्क हैं कि सब कुछ से बेखबर जुटे हुए हैं। अश्क का दिल रोता है कि हमारा कोई मंच नहीं। अश्क की सबसे बड़ी महात्वकांक्षा मंच खड़ा करने की है। और यहीं अश्क के सच्चे नाटककार के दर्शन होते है। एक नाटक को सफलतापूर्वक खेलकर अश्क एक बच्चे की तरह खुश हो उठते हैं। कभी अवसर मिले, तो आप अश्क की नकलें सुनिए। आप मानेंगे कि उन्हें जस-का-तस रेकार्ड कर लिया जाय, तो वे हास्य की बहुमूल्य निधियाँ हों।

इन पंक्तियों के लेखक के एक लेखक मित्र एक बार अश्क से मिलकर आये। पूछा गया, क्या ख्याल है? उन्होंने कहा, ही इज़ ग्रेट! अश्क के सभी परिचितों को आप यही कहते पायेंगे। और 'ग्रेट' शब्द के सभी प्रचलित अर्थों में अश्क 'ग्रेट' हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं!

सेहतमन्द मरीज़
एक संस्मरण

मई १९५३ में, जब अश्क जी मसूरी में थे, एक शाम वे हमारे कुछ पड़ोसी युवकों के साथ सैर को गये—पूरी बाहों वाला बन्द गले का पुलोवर, मैच करता हुआ मफलर, पेंट और स्पोर्ट्स कैप पहने और हाथ में छड़ी लिये—हिमालय क्लब के पास पहुँच कर साथी युवकों ने निकट के एक बँगले में जाने की इच्छा प्रकट की। वहाँ उनके वकील मामा जगाधरी से आये हुए थे। हम एक आध बार उनसे मिले थे, पर अश्क जी का उन वकील साहब से कोई परिचय न था। लेकिन जैसा कि फक्कड़पने की उनकी आदत है, वे किसी तरह के परस्पर परिचय के बिना चले गये। उनका स्वागत एक बड़े ही मोटे दम्पत्ति ने किया। पड़ोसी युवकों ने बड़े गर्व से अश्क जी का परिचय दिया, पर जगाधरी के उस मोटे दम्पत्ति ने एक बार दाँत निपोरने के बाद, फिर

उनकी ओर ध्यान नहीं दिया और अपने भानजे-भानजियों के साथ जगाधरी की मुहल्ला-राजनीति में लवलीन हो गये।

अश्क जी बैठे-बैठे ऊब गये। चंचल, उनकी प्रकृति, निश्चल बैठे रहना उनके लिए कठिन, वे ओठों में बायीं ओर हवा भर कर सीटी बजाने लगे। इस तरह वे लाल मुनिये जैसी सुरीली सीटी की आवाज़ निकाल लेते हैं और जाने-अनजाने वे ऐसी सीटी बजाते रहते हैं। फिर उठ कर उन्होंने कमरे में एक-आध चक्कर लगाया, कुछ अजीब तरह से खाँसे भी और उनके उस तरह खांसने पर हम में से कुछ हँसे भी। वहाँ एक गूँगा-बहरा पण्डित बैठा था। वह वकील साहब के तुफ़ैलियों में था। बड़ी देर से वह अश्क जी की ओर देख रहा था। आखिर उसने स्लेट निकालकर उस पर लिखा—नाटक—और अश्क जी की ओर इशारा किया। इस पर वकील साहब ने बड़े गर्व से बताया कि वे पण्डितजी ज्योतिषी हैं और उनके ज्योतिष की बड़ी प्रशंसा की और यह भी बताया कि वे उससे पूछे बिना चार पग भी नहीं उठाते, वे मामला जीतेंगे या हारेंगे, पण्डित जी सदा बता देते हैं। जब अश्क जी चलने लगे तो ज्योतिषी ने स्लेट पर लिखा—फिल्म में जाओ।

अश्क जी ने चलते हुए मुस्करा कर उन पण्डित जी से स्लेट ले ली और उस पर लिख दिया—मैं फिल्म में हो आया हूँ—और वैसे ही ओठों की बायीं ओर हवा भर कर, सीटी बजाते हुए बाहर आ गये।

उस रात 'लक्समाँट' में, जहाँ मसूरी प्रवास में हम और अश्क जी ठहरे थे, उस गूँगे बहरे ज्योतिषी की विद्वत्ता की चर्चा होती रही।

लेकिन अश्क नाटककार हैं, यह जानने के लिए किसी तरह के ज्योतिष की आवश्यकता नहीं। नाटकीयता उनके व्यक्तित्व में कूट कूट कर भरी है और कई बार, जब वे मूड में होते हैं तो पहली ही भेंट में इसका पता चल जाता है। किसी की चाल, किसी की हँसी, किसी की बोली की नकल वे लगा देते हैं। बात करते हैं तो ऐसे नाटकीय ढंग से कि तत्काल मालूम हो जाता है, यह आदमी अभिनेता है या नर्तक या नाटककार!

कौशल्या जी ने 'दो धारा' में अश्क जी की बेतकल्लुफ़ी तथा लोकाचार की ओर से उनकी बेपरवाही की एक दो मनोरंजक घटनाएँ दी हैं। मसूरी में हमें प्रत्यक्ष वह सब देखने को मिला। अश्क जी जब आये थे तो पैंट और बंद गले का स्वेटर कसे थे। उसके बाद चंद दिन हमने उन्हें स्फेद बुश्शर्ट, काले पैंट और स्वेड के सफेद जूतों में भी देखा। फिर कुछ दिन बाद सहसा एक दिन पाया कि बड़े चौड़े किनारे की रेशमी रंगीन साड़ी को दोहरा कर, उसकी तहमद लगाये, छड़ी घुमाते हुए माल पर घूम रहे हैं।

मसूरी की माल पर शाम को बड़ी रौनक हो जाती है, सुबह भी काफी लोग लाइब्रेरी या शार्लेविले तक सैर को जाते हैं। जब तक कौशल्या जी ने इलाहाबाद से लट्ठे की तहमदें नहीं भेजीं, अश्क वही साड़ी पहने माल पर घूमते रहे। एक दिन सुबह जब हम अश्क जी के साथ सैर से वापस आ रहे थे, मेरे एक मित्र मिल गये। परस्पर अभि-वादन के बाद उन्होंने ज़रा-सा मुझे रोक लिया। अश्क जी ज़रा आगे बढ़ गये तो उन्होंने पूछा "यह साहब कौन हैं?" जब मैंने बताया तो बोले, "खूब हैं"!

अश्क सिनेमा नहीं देखते। देशी फिल्मों में अधिकांश जैसी हैं, उन्हें देखना वे समय को बरबाद करना समझते हैं। लेकिन मसूरी में हम उन्हें कई बार सिनेमा देखने ले गये। तब देखा कि अश्क जी दसन्नी वालों की तरह फिल्म देखते —आवाज़े कसते और सीटियाँ बजाते हैं। उधर हीरोइन ने लम्बी साँस भरी, इधर अश्क जी ने कहा, 'हो जाय अब एक गाना!' हीरोइन विरह का गाना गाने लगी तो आप 'हाय हाय' करने लगे।

एक बार तो देखा कि सामने बैठे युवक भी उन्हीं की तरह हँसने और फबतियां कसने लगे। हम तो खूब हँसे, पर कुछ लोग खासे परेशान हुए।

बाहर निकलने पर हमने पूछा तो बोले, आम हिन्दुस्तानी फिल्में मुझे 'बोर' करती हैं। तबीयत को बहलाने के लिए यह सब करना पड़ता है। फिल्म अच्छी हो तो आवाज़े कसने की सुध ही किसे रहती है!"

और हमने देखा कि 'ब्लड ऐंड सैंड (Blood & Sand) को देख कर अश्क जी ऐसे चुप हुए कि न केवल रास्ते भर नहीं बोले, बल्कि दूसरे दिन भी चुप बने रहे।

कौशल्या जी ने अपने संस्मरण में लिखा है कि अश्क को पराकाष्टाएँ पसन्द हैं—कभी पहाड़ के शिखर और कभी गहरी घाटियाँ; कभी जन-संकुल नगर और कभी निर्जन वीराने—वे कभी जी खोलकर हँसते हैं तो कभी घण्टों उदास बैठे रहते हैं।

लेकिन अश्क जी की उदासी को उनके मित्र बहुत कम जानते हैं। इस बात का प्रथम अनुभव हमें उन्हीं दिनों हुआ। अश्क जी हमारी बगल वाली फ़्लैट में रहते थे। एक दिन हमने उनसे अनुरोध किया

कि वे हमारी एक गोष्ठी में अपनी कोई कविता या कहानी सुनायें।

'कविता कहानी तो नहीं', उन्होंने कहा, 'मैं आपको अपना एक एकांकी सुना दूँगा।'

'एकांकी' ? हमने हैरत से पूछा।

'हाँ, एकांकी ! कविता कहानी से कहीं ज्यादा रस आपको उसमें मिलेगा।'

'एकांकी ही सही', हमने सोचा ! हमारे मित्र और स्नेही तो उनसे कुछ भी सुनने का अनुरोध कर रहे थे। अश्क जी से वचन लेकर हमने समय तय कर दिया और मित्रों को निमन्त्रण दे दिया। निमन्त्रित व्यक्तियों में सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा० सत्यकेतु विद्यालंकार और उनकी धर्म-पत्नी श्रीमती सुशीला केतु तथा अन्य कई मित्र भी थे।

प्रोग्राम के दिन हमने सुबह ही पाया कि अश्क जी कुछ उखड़े-उखड़े से हैं। फिर भी उनके हँसने-हँसाने में कोई खास फ़र्क न था। हमने सोचा, शायद हमारा ख्याल ग़लत हो। फिर भी संदेह दूर करने को हमने शाम से कुछ पहले उनसे पूछ ही दिया, आपकी तबियत ठीक तो है ?' उन्होंने जवाब दिया, 'पता नहीं आज क्या हो गया है, तबयित बेहद उदास है।' मुझे एक साथ दो चिन्ताएँ हुईं, एक तो उनकी उदासी के सम्बन्ध में, दूसरी यह कि ऐसी हालत में क्या प्रोग्राम को चलाना उचित है। लेकिन अश्क जी शायद मेरे मन की बात समझ गये, इसलिए हँस दिये और बोले, 'मेरी उदासी की फिक्र न करो। जब मैं भीतर से उदास होता हूँ तो बाहरी दुनियाँ में अधिक खुश दीखता हूँ। मैं सफलतापूर्वक नाटक सुनाऊँगा और इतना हँसा दूँगा कि लोगों के पेट में बल न पड़ जायँ, तो मेरा नाम अश्क नहीं।'

और हुआ भी वही। अश्क जी ने अपना नाटक 'पर्दा उठाओ

और पर्दा गिराओ सुनाया। सुनाया कहना उस 'सुनाने' को पूरी तरह व्यक्त नहीं करता। वास्तव में उन्होंने अकेले तेरह चौदह भूमिकाओं में आवाज़ बदल कर, भावभंगियों सहित वह नाटक कुछ ऐसे एक्ट करके दिखाया कि हँसते-हँसते हमारे पेट में बल पड़ गये। दर्शकों में कोई कल्पना भी न कर सकता था कि जो व्यक्ति औरों को इतना हँसा रहा है, उसके अन्दर एक घोर उदासी का आलम छाया है। सच पूछिए तो मैं भी भूल गया।

उनके इस गुण से मैं कुछ ऐसा प्रभावित हुआ कि अपने उपन्यास 'सुनील—एक असफल आदमी' अश्क जी को समर्पित करते हुए यह लिखने को मजबूर हुआ :

> **'भाई उपेन्द्रनाथ अश्क को—**
> **मसूरी प्रवास की याद में,**
> **जो बगल के फ्लैट में रहते हुए, जब**
> **उनकी तबियत नहीं लगती थी तो**
> **हमारी बहला जाते थे'**

और अश्क जी के पड़ोसी और मित्र जानते हैं कि वे बच्चों से लेकर बूढ़ों तक, सब को समान रूप से घंटों हँसा सकते हैं। अश्क जी के अधिकांश मित्रों ने उनका यही रूप देखा है। पर कौशल्या जी उनके दूसरे रूप को भी जानती हैं और 'दो धारा' के अपने संस्मरण में उन्होंने इस ओर संकेत भी किया है। यह और बात है कि जब अश्क स्वयं उदास होते हैं तो मित्रों को खूब हँसाते हैं।

अश्क के व्यक्तित्व की इस दोरुखी का रहस्य, जिसने हिन्दी साहित्य को एक ओर गहन गम्भीर नाटक और दूसरी ओर बेहद

हलके फुलके प्रहसन दिये हैं, उनके बचपन में खोजा जा सकता है।

अश्क जी 'बचपन में वैसे फक्कड़ नहीं थे। एक जगह उन्होंने स्वयं लिखा है, 'बचपन में मैं बेहद रोना, चिड़चिड़ा और धुन्ना था। ज़रा-सी बात पर रो देता था और लड़ पड़ता था। भाई मुझे बड़ा परेशान करते थे और पिता सख्त असंतुष्ट रहते थे। उनका कोई पुत्र मेरे जैसा पतला-दुबला चिड़चिड़ा, और रोना हो, यह उनके अहं को स्वीकार न होता था।'......लेकिन दोष उनका ही था। वे खाने-पीने वाले, मनमौजी आदमी थे। कई बार सारा का सारा वेतन उड़ा देते थे। अश्क जी छै भाई थे। उस स्थिति में किसी कमज़ोर और अस्वस्थ बच्चे की कितनी देखभाल, या इलाज-उपचार हो सकता है, इसकी कल्पना की जा सकती है।

फिर किस तरह यह रोना, चिड़चिड़ा और उदास रहने वाला बालक फक्कड़ और गगन भेदी ठहाके लगाने वाला हो गया, यह भी कम दिलचस्प नहीं।

इस परिवर्तन का आरम्भ आठवी कक्षा की उस लम्बी बीमारी से होता है, जिसने उन्हें नाटक का शौक दिया*। तब वे दस महीने बीमार रहे। जूड़ी देकर अतरा बुखार आता रहा, फिर रोज़ ज्वर रहने लगा। अश्क जी बेहद कमज़ोर हो गये। नया-नया उनका मकान बना था। ऊपर की बैठक खुली थी। अपनी बीमारी के उन दिनों वे उसी खुली बैठक में टाँगें लटकाये, निश्चेष्ट बैठे रहते और नीचे मुहल्ले में होने वाले सारे कार्य-व्यापार को चुपचाप देखा करते। मन तो उनका भावप्रवण था ही। हर बात का नक्श उनके दिमाग में अंकित होता रहता। तभी उन्होंने बैठे-बैठे खोमचेवालों की आवाज़ों; और औरतों,

* देखिए नौटकी से पृथ्वी थीएटर्ज़ तक।

बच्चों तथा बूढ़ों के हँसी-रुदन और चाल-ढाल को अपने दिमाग में उतार लिया—ऐसे कि जब वे चाहते अपनी माँ और भाइयों को उनकी नकल करके दिखाते। भाई खूब हँसते और अश्क जी का भी मनोरंजन होता। माँ भी हँसतीं, पर उन्हें ऐसा करने से सदा रोकतीं, क्योंकि किसी कि नकल करना उनके ख्याल से अच्छा नहीं था। लेकिन अश्क जी सदा ऐसा करते रहे और अपने उदास बीमार क्षणों में हँसने-हसाने की सामग्री जुटाते रहे—यहाँ तक कि यह उनके स्वभाव का एक अंग बन गया।

रहा साहित्य-क्षेत्र, तो अश्क जी की इस आदत का किसी को पता भी न चलता, यदि १६३६ में वे हिन्दी, उर्दू 'प्रीतलड़ी' के सम्पादक होकर मध्य पंजाब के एक आधुनिक गाँव प्रीत नगर में न जा पहुँचते।

प्रीत नगर में वे चुपचाप अपनी कोठी में बने रहते थे। प्रीतनगर प्रगतिशील विचारों के उदार सिक्खों की कॉलोनी थी, जो जति-पाँति से दूर, प्रीति की तार में बंधे हुए लोगों का एक नगर बसाना चाहते थे। उस समय केवल वहाँ अ[illegible]स कोठियाँ बनी थीं और लोग मिल-जुल कर रहते थे। कुछ अपनी मानसिक स्थिति के कारण और कुछ इसलिए कि वे नये-नये वहाँ गये थे, अश्क जी उनके साथ घुल-मिल न पाते थे। फिर अपने और प्रीतनगर-वासियों के मेल-जोल का कोई साझा क्षेत्र उन्हें दिखाई न देता था और इसी कारण अश्क जी खासे परेशान थे।

उन्हीं दिनों लोढी का त्योहार आया। प्रीतनगर वासी त्योहार कुछ अतिरिक्त उत्साह से मनाते थे। अश्क जी का मन त्योहार में जाने को न था, लेकिन प्रीत नगर के सेक्रेट्री उन्हें खींच ले गये। वहाँ लकड़ी का एक बहुत बड़ा अम्बार जल रहा था और प्रीतनगर वासी उसके इर्द-गिर्द नाच गा रहे थे। किसी ने अश्क जी से कुछ सुनाने को कहा।

वे हैरान कि क्या सुनायें। कविताएँ वे बड़ी उदास लिखते थे। 'प्रातः दीप' और 'उर्मियाँ' की आरम्भिक कविताएं उसी समय की हैं। कोई उदास कविता सुना कर उनका मूड खराब करना उन्हें पसन्द न आया यों भी हिन्दी कविता वे लोग कम ही समझते थे। जब अनुरोध बढ़ने लगा और उसके साथ अश्क जी की परेशानी बढ़ी तो अचानक उनके दिमाग में आठवीं कक्षा में अपना वह नकल करना बिजली सा कौंध गया और सहसा अपने बायें ओठों पर उलटा हाथ रख कर उन्होंने नव-जात पिल्लों के रुदन की नकल सुनाई। सुन कर लोग ठहाके मार उठे। तभी जब वे नकल कर रहे थे, जाने कैसे और क्यों, प्रीतनगर के एक कर्मचारी की बड़े-बड़े बालों वाली पालतू कुतिया भीड़ में से आकर अश्क जी के पास खड़ी हो गई। इस पर प्रीतनगर वासियों में जैसे ठहाके पड़े होंगे, इसकी कल्पना की जा सकती है।

पहली नकल की सफलता के बाद अश्क जी ने आठवीं क्लास में एकत्रित अपना वह सारा खज़ाना वहाँ लुटा दिया। उसी शाम उन्हें अपने और प्रीत नगर वासियों के मध्य मेल-जोल का साझा-क्षेत्र मिल गया और वे अकस्मात लोकप्रिय हो गये। दूसरे ही दिन से उन्हें चाय के निमन्त्रण मिलने लगे। लोग चाय वाय पीकर उनकी कविता या कहानी सुनने की अपेक्षा उनसे अनुरोध करते—'अशक जी जरा ओ कुत्ते दी बोली ताँ सुनाओ!' अथवा 'अशक जी जरा ओह कनारी वाले दी अवाज ताँ लगाओ!' और मन बुझा होने के बावजूद अश्क जी उनका अनुरोध पूरा कर देते।

वह दिन सो आज का दिन अश्क जी निरन्तर ऐसा कर रहे हैं। उनमें विनोद-वृत्ति (Sense of Humour) का अभाव नहीं और वे एक दम अपने साहित्यकार की महानता को भूल कर आम लोगों के स्तर

पर उतर, उनका मनोरंजन करने लगते हैं।

आम जनता की रुचि के इस पक्ष ने जहाँ अश्क जी के साहित्कार का मन दुखाया होगा। वहां उसे लाभ भी कम नहीं पहुँचाया। इसी की बदौलत उन्हें बिलकुल अजनबियो से घुल मिल जाने का अवसर मिला है, जिसने न केवल उनकी अनुभूतियों में वृद्धि की है, बल्कि उनके व्यंग्य की धार को भी तेज़ किया है।

अपनी उदासी के क्षणों में अश्क जी अपनी बातों, चुटकलों अथवा अभिनय ही से लोगों का मन नहीं बहलाते, वरन् हास्य रस के नाटक भी उन्हीं क्षणो में लिखते हैं। यह अजीब बात है कि जब वे चिंतित और परेशान होते हैं, उन्हें सदा हास्य रस की चीज़ें लिखने की सूझती है। अपनी हास्य रस की कहानियों के संग्रह 'छींटें' में उन्होंने यह बात लिखी भी है। 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' के हास्य-भरे नाटक भी प्रायः ऐसी ही अवस्था से लिखे गये हैं। हो सकता है उनका चिंतित मन हास्य की सामग्री जुटा कर, कुछ बहल जाता है। यह भी हो सकता है कि उस चिंतित उदास मानसिक स्थिति में उनकी दृष्टि बड़ी तीव्र हो जाती है और वे अपनी और अपने इर्द-गिर्द रहने वाले लोगों की कमज़ोरियों को और भी स्पष्ट रूप से देखने लगते हैं। जो भी हो हिन्दी साहित्य को उनके उदास क्षणों की देन बड़ी महत्वपूर्ण है, क्योंकि हिन्दी में हास्य-रस—वह भी शिष्ट हास्य-रस—का नितांत अभाव रहा है।

चंचल, सरल, फक्कड़, लेकिन सब के ऊपर घोर परिश्रमी—मसूरी प्रवास में अश्क को हमने ऐसा ही पाया। पिछले कई वर्षों से वे कुछ

महीनों को पहाड़ आते हैं। हमारा ख्याल था, पहाड़ पर वे सेहत बनाने आते हैं और सेहत बनाने वालों की तरह खूब घूमते और सैर करते हैं, लेकिन हमने पाया कि प्रायः जब सारा मसूरी माल पर सैर को निकला होता, अश्क जी अपना कमरा बन्द किये, नाटक या लेख लिखने में तल्लीन होते। हमने कई बार उनसे कहा कि भाई शाम के समय कोई भलामानुस काम नहीं करता। चलिए घुमा लायें।

'पहले तो मैं भलामानुस नहीं', वे हँसते, 'फिर शाम ही को मुझ पर 'वही नाज़िल'[1] होती है। तभी मैं कुछ लिख पाता हूँ।'

पहले पहल तो हम उन्हें ज़ोर ज़बरदस्ती अपने साथ ले जाते रहे, लेकिन जब हमने देखा कि उनका हर्ज होता है वे उदास हो जाते हैं और आकर आधी आधी रात तक काम करते हैं तो हमने उन्हें उनके हाल पर छोड़ दिया।

अश्क जी चार पाँच बजे शाम के बाद काम पर बैठते तो नौ-साढ़े नौ उठते। तब खाना खाकर वे माल पर सैर को निकल जाते। माल रात के नौ साढ़े नौ बजे लगभग सूनी हो जाती है। सिनेमा शो से वापस आने वालों तथा अन्तिम शो जाने वालों के सिवा वहाँ कोई न होता। अश्क अकेले कभी लाईब्रेरी तक और कभी उससे आगे घूम आते। कभी कभी मैं सोचा करता—क्या वे सचमुच अकेले होते हैं? मेरा ख्याल था कि वे अकेले महसूस करें तो यों अकेले कभी सैर को न जायँ। लगता कि वे अपनी तन्हाई में भी तन्हा नहीं होते। उनकी भावी रचनाओं के पात्र उन अकेली सैरों में सदा उनके साथ रहते हैं। अश्क जी ने माना भी कि उनकी कहानियों, नाटकों या नावलों के उलझे कथानक सदा उन सैरों में सुलझ जाते हैं। लेकिन इसके विपरीत, उन्होंने

---

१ वही निज़िल होना=(सव्यंग्य) इलहाम होना=दैवी प्रेरणा होना।

स्वयं बताया कि प्रायः जब वे भीड़ का अंग बन कर हँसते हँसाते हैं, अंतर में कहीं निपट अकेले महसूस करते है। शायद इसी कारण मसूरी की भीड़ का अंग वे तभी से बने, जब मित्रों या रिश्तेदारों के कारण मजबूर हुए, नहीं सुबह शाम ऐसे वक्त अकेले सैर को जाते रहे, जब माल प्रायः सूनी रहती। दोपहर को जब लोग ब्रिज या शतरंज खेलते या गप लगाते, अश्क जी सोते और शाम को जब लोग सैर करते वे कमरा बंद कर लिखने में रत रहते।

अश्क बड़े भावप्रवण हैं, छोटी सी बात का बुरा मान जाते हैं, इतना तीन महीने साथ रहने पर हम भली-भाँति जान गये, लेकिन यह जान कर हमें हैरत भी कम न हुई कि वे कुछ ऐसी बातों का बुरा नहीं मानते, जिनका प्रायः सभी बुरा मान लेते हैं। यदि कोई सम्पादक उनकी चीज़ लौटा दे तो वे गुस्सा नहीं होते, बल्कि दूसरी चीज़ भेज देते हैं। १६३८ की बात है, 'हंस' बनारस ने एकांकी नाटक अंक निकालने की घोषणा की तो अश्क जी को भी नाटक लिखने के लिए कहा। अश्क जी ने सात आठ दिन की लगातार मेहनत से 'अधिकार का रक्षक' लिख कर भेजा। हंस सम्पादक ने, जो अश्क जी के परम-मित्रों में से हैं, इस उलाहने के साथ नाटक लौटा दिया कि उन्हें थर्ड-रेट चीज़ भेज दी गई है।

अपनी चीज़ को थर्ड-रेट कहने वाले सम्पादक से (वह मित्र ही क्यों न हो) कितने लेखक सदव्यवहार रख सकते हैं? लेकिन अश्क जी ने तत्काल वह नाटक 'सरस्वती' को भेज दिया और एक दिन ही में 'लक्ष्मी का स्वागत' लिख कर हंस सम्पादक को भेज दिया। दोनों नाटक एक ही महीने में दोनों पत्रिकाओं में छपे और चाहे 'हंस' सम्पादक

ने 'अधिकार का रक्षक' थर्ड-रेट घोषित कर ठुकरा दिया था, पर लोक-प्रियता की दृष्टि से वह 'लक्ष्मी का स्वागत' से ज़रा भी कम सिद्ध नहीं हुआ। और रंगमंच पर 'लक्ष्मी का स्वागत' से ज्यादा बार ही खेला गया।

अश्क जी की यह आदत अब भी है। इस मामले में वे ज़रा भी सेंस्टिव नहीं। सम्पादक यदि उनकी कृति लौटा देता है तो वे कभी बुरा नहीं मानते। वे प्रायः पारिश्रमिक पहले मँगा लेते हैं। जो सम्पादक उनकी कृति के पैसे पेशगी देता है, अश्क जी समझते हैं, यह उसका हक है कि नापसन्द होने पर वह रचना वापस कर दे। एक चीज़ वापस आने पर वे उसे नयी चीज़ भेज देते हैं। यदि वह भी उसे पसन्द न आये तो रुपये वापस कर देते हैं। यों ऐसा कभी नहीं हुआ। प्रायः दूसरी रचना सम्पादक को पसन्द आ जाती है। लेकिन ऐसा प्रायः हुआ है कि सम्पादक द्वारा लौटाई गई रचना दूसरे द्वारा पसन्द की गई और खूब लोक-प्रिय हुई।

अश्क जी रेडियो में भी रहे हैं और फिल्म मे भी, लेकिन रेडियो नाटक या स्क्रीन-प्ले में उनकी आस्था नहीं। मसूरी की बैठकों में प्रायः रेडियो और फिल्मों पर उनसे बात चीत हुई। रेडियो की अपनी उन्नत कला है, इसे अश्क जी मानते हैं। अपनी नौकरी के दिनों में उन्होंने 'तुलसीदास' 'कबीर', 'मयार्दा पुरुषोत्तम', 'उर्मिला', 'भगवान बुद्ध' और 'निमर्ला' खालिस रेडियो नाटक लिखे (अंतिम प्रेमचन्द के उपन्यास का रेडियो संकरण था) मर्यादा पुरुषोत्तम राम का रेकार्ड बी० बी० सी० लंदन से भी ब्राडकास्ट हुआ। लेकिन अश्क जी ने इनमें से एक नाटक भी किसी संग्रह में प्रकाशित नहीं कराया। यह ठीक

है कि उनके लगभग तमाम रंग-नाटक भी रेडियो से ब्राडकास्ट हुए हैं, लेकिन अश्क जी ने उन्हें रेडियो के लिए न लिख कर सदैव स्टेज के लिए लिखा और रेडियो के लिए उन्हें काट छाँट कर तैयार कर दिया। अपने नाटक-संग्रह 'पर्दा उठाओ, पर्दा गिराओ' के परिशिष्ट में इसका कारण देते हुए वे लिखते हैं......

"इसका यह कारण नहीं कि मैं रेडियो नाटक को कम महत्व की चीज़ समझता हूँ अथवा उसकी कला को निम्न-कोटि का ख्याल करता हूँ या फिर मेरे ख्याल में रेडियो नाटक की अपील कम है। रेडियो नाटक की अपनी उन्नत कला है और यदि उस कला को ध्यान में रख कर नाटक लिखा जाय तो वह किसी खेले जाने वाले नाटक से कम सुन्दर न होगा। रही उसकी अपील तो रेडियो की पहुँच कहाँ कहाँ तक है, इसे सभी जानते हैं। कम से कम आज दिन तो वह रंगमंच की अपेक्षा कहीं व्यापक है। यह मानने में भी मुझे कोई संकोच नहीं कि जो थोड़ी बहुत ख्याति नाटककार के रूप में मुझे मिली है, उसमें रेडियो का बड़ा हाथ है। किन्तु इन सब बातों के होते भी, केवल पाठकों-श्रोताओं को ध्यान में रखकर मेरे नाटक न लिखने का और रंगमंच के अभाव में भी रंगमंच पर लिखने का सबसे बड़ा कारण मेरी व्यक्तिगत रुचि है !

क्या समायेगी वहाँ सूरत कोई ?
जिसकी आँखों में तेरी छब बस गई।"

नाटक से अश्क के इश्क का भी यही हाल रहा।

रही फिल्म, तो जिस प्रकार आल इंडिया रेडियो में काम करते

हुए, वे उससे अलग बने रहे, उसी तरह फिल्मी दुनिया में बड़ी सफलता से काम करते हुए भी वे उसकी दलदल में नहीं फँसे। अश्क चाहते तो अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल पर (वे कहानी, सिनारियो, संवाद, गाने सभी कुछ लिखते और अभिनय भी करते रहे) फिल्म में दोनों हाथों रुपया बटोरते, लेकिन जैसा कि उन्होंने स्वयं बताया—न उस दुनिया में एक दिन को उनका मन लगा, न उस काम में। न उन्हें फिल्म का नाटक रुचा न अभिनय और वे फिल्मी दुनिया में रहकर भी रंगमंच के अध्ययन और उत्थान की कोशिश करते रहे। बम्बई में न केवल उन्हें आधुनिक नाटक देखने का अवसर मिला, बल्कि उन्होंने जन-नाट्य-संघ के लिए अपना नाटक—'तूफ़ान से पहले'— लिखा और उसका निर्देशन किया।

जिन दिनों अश्क जी 'तूफ़ान से पहले' का निर्देशन कर रहे थे हैदराबाद का एक युवक 'सईद रज़ी' उनसे मिलने आया हुआ था। अपने संस्मरण में उसने बम्बई के उन दिनों का ज़िक्र किया है। अश्क जी ने उसे 'तूफान से पहले' पढ़कर सुनाया तो उसे ज़रा भी अच्छा न लगा, लेकिन जब एक दिन उसने अश्क जी को उसका निर्देशन करते देखा तो उस. लिखा है कि वही बेजान शब्द कुछ ऐसा रूप बदल कर सामने आये कि मेरे रोंगटे खड़े हो गये।

फेफड़े के रोग के कारण अश्क ने रंगमंच पर उतरना अथवा निर्देशन करना छोड़ दिया है तो भी देश के एमेचर रंगमंच को उनका पूरा योग मिला है। न केवल वे लगातार उसके लिए नाटक लिखते हैं, बल्कि परामर्श भी देते हैं। इलाहाबाद में नीटा (नार्थ इंडियन थीएट्रीकल एसोसिएशन) तथा इप्टा (इंडियन पीपुल्स थीएटर्स एसोसिएशन) के वे प्रधान है और गत दो वर्ष में 'नीटा' और 'इपटा' ने दूसरी संस्थाओं

से मिल कर दो-तीन बड़े और कई छोटे-छोटे नाटक खेले हैं। स्वयं अश्क जी का बड़ा नाटक 'अलग-अलग रास्ते' पिछले दिनों 'पैलेस थीएटर' इलाहाबाद में हुआ और इतना पसन्द किया गया कि उसे कुछ ही दिन बाद दूसरी बार खेलना पड़ा। दिल्ली में ग्वालियर के 'आर्टिस्ट कम्बाइन' ने अश्क जी का नाटक 'छठा बेटा' खेला जिसकी प्रशंसा स्टेट्स मैन और टाइम्ज़ आफ इंडिया आदि पत्रों ने की।

जहाँ तक साहित्यिक अश्क का सम्बन्ध है, हमने उन्हें अपनी नियति और अपने कृतित्व के बारे में एक दम आश्वस्त पाया। 'बहुत पहले', उन्होंने एक बार कहा, 'अपनी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद मैंने जान लिया था कि मेरे भाग्य में लेखक बनना बदा है, सो मैंने सदा नियति को अपनी इच्छा पूर्ण करने में मदद दी है।' अश्क भाग्यवादी नहीं। उनकी इस बात का हमने यही अर्थ लिया कि सब कुछ कर देखने पर उन्होंने पाया कि लिखने में उन्हें सबसे ज्यादा सुख मिलता है और वे समझते हैं जीवन को उपादेय ढंग से जी रहे हैं और इस लिए वे लगातार लिखते हैं।

अपनी लेखनी में उनके विश्वास का पता इससे चलता है कि आज से पन्द्रह वर्ष पहले जब हंस के एकांकी नाटक अंक में श्री जैनेन्द्र और श्री चन्द्र गुप्त ने लिखा था कि हिन्दी साहित्य में एकांकी का कोई स्थान नहीं तो अश्क जी ने इसका विरोध किया था।† उनका ख्याल था कि जब देश आजाद होगा, देश का रंगमंच अपनी नींद से जागेगा तो एकांकियों और आधुनिक नाटकों की जरूरत पड़ेगी। अपने इस विश्वास को लेकर अश्क जी ने निरन्तर एकांकी

† देखिए—एक पत्र और उसका उत्तर !

और सामाजिक नाटक लिखे और आज जब देश का रंगमंच अपनी नींद से जागा है तो अश्क जी के नाटक जगह-जगह खेले जा रहे हैं।

लेकिन अश्क ने केवल नाटक लिखने और उन्हें उनके भाग्य पर छोड़ देने ही पर बस नहीं की। बम्बई से, जहाँ वे नाटक की और भी भूख लाये, वहाँ उसके प्रचार का साधन भी ढूँढ़ लाये। पृथ्वी राज कपूर ने अपने अतुल स्वास्थ्य और धन दोनों के ज़ोर से एक थीएटर कम्पनी खोली और देश का दौरा करके व्यवसायिक रंगमंच की स्थापना की। अश्क जी का स्वास्थ्य यक्ष्मा के बाद कभी अच्छा नहीं रहा। हर साल तीन चार महीनों के लिए वे पड़ जाते हैं, लेकिन इस पर भी उन्होंने गत दो तीन वर्षों में देश के लम्बे-लम्बे दौरे किये हैं और अपने एकांकियों का प्रदर्शन कर, न केवल सहस्रों लोगों का मनोरंजन किया है, बल्कि एमेचर आंदोलन में नयी रूह फूंकी है। अभी गत वर्ष उन्होंने एक ही दौरे में मद्रास, विजयवाड़ा, वर्धा, नागपुर, इन्दौर उज्जैन, भूपाल, बड़ौदा और ग्वालियर में अपने एकांकियों का प्रदर्शन किया। उज्जैन में तो अश्क जी के प्रवास ही में वहाँ के छात्रों ने उनका नाटक उन्हें खेल कर दिखाया।

अश्क जी के व्यक्तित्व का परिचय देते हुए श्रीमती कौशल्या अश्क ने लिखा है :

> अश्क जी का स्वभाव ऐसे शांतिप्रिय व्यक्ति का सा नहीं, जो पहाड़ की चोटी पर पहुँच कर उस पर डेरा डाल दे, बल्कि ऐसा चंचल राही है, जिसको कभी पहाड़ के शिखर पसन्द हैं, कभी गहरी घाटियाँ, जो कभी जन-संकुल नगरों को पसन्द करता है और कभी निर्जन वीरानों में

जा रमता है। पराकाष्टाएँ उसे पसन्द हैं, कोई एक
सीमा-रेखा और मध्य का मार्ग जिसे रुचिकर नहीं।

लेकिन आम मिलने वाले को अश्क की पहली झलक एक सख्त फक्कड़ आदमी की लगती है। ऐसे युवक जो उनके बेटे के बराबर हैं उनसे अनायास खुल जाते हैं। अश्क अपने हृदय के अन्तःपुर को कृत्रिम शिष्टता की चहारदीवारी में कैद नहीं रखते। गोपनीयता उनके लिए गुनाह है और उनकी स्पष्टता इतनी मुखर है कि लोगों को उनकी सरलता और निष्कपटता पर भी संदेह होने लगता है। उनका मन पर्दानशीन नहीं है, इसलिए वे मध्य मार्ग के तंग रास्ते पर नहीं चलते। या तो उन्हें खुले मैदान में रेंगने वाली पगडंडी भली लगती है या राजमार्ग। और शायद दोनों को छोड़कर जब मजबूरन उन्हें मध्य मार्ग के तंग रास्ते पर चलना पड़ता है तभी उनका आत्म-संघर्ष तीव्र हो जाता है, उनके व्यंग्य की धार तेज़ हो जाती है और हास्य का कल-कल निनाद गूँजने लगता है!

अश्क अस्वस्थ रहते हैं, पर सेहतमंदों से ज्यादा काम करते है ख्वाजा अहमद अब्बास ने अपना उर्दू कहानी संग्रह 'मैं कौन हूँ' उनके नाम समर्पित करते हुए दो पंक्तियों में उनके व्यक्तित्व को उजागर कर दिया है।

"उपेन्द्रनाथ अश्क—एक सेहतमंद मरीज़ के नाम,
जिसका फेफड़ा कमज़ोर और दिल मजबूत है।"

जीवन

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क का जन्म पंजाब प्रान्त के जालन्धर नामक नगर में १४ दिसम्बर १९१० को एक मध्य वित्त के ब्राह्मण परिवार में हुआ। अश्क छै भाइयों में दूसरे हैं। उनके पिता पंडित माधो राम स्टेशन मास्टर थे। अश्क जी बचपन के आठ नौ वर्ष उनके साथ पंजाब के दूर-दूर स्टेशनों पर घूमते रहे। इसके बाद, चूँकि उनके पिता रिलीविंग में आ गये और फिर कोयटा चले गये, इसलिए अश्क जी को उनकी माँ, बड़े और छोटे भाइयों के साथ, जालन्धर ले आईं, जहाँ वे एंग्लो संस्कृति हाई स्कूल की प्राइमरी ब्राँच में सीधे तीसरी कक्षा में दाखिल करा दिये गये। तीसरी कक्षा में इसलिए कि माँ ने उन्हें घर पर काफ़ी पढ़ा रखा था। वही से १९२७ में उन्होंने मैट्रिक किया। और वहीं के डी० ए० वी० कालेज से उन्होंने १९३१ में बी० ए० की

डिग्री ली।

बी० ए० करते ही, बल्कि यों कहा जाय कि बी० ए० की परीक्षा देते ही. अश्क के सामने जीवकोपार्जन की समस्या आ उपस्थित हुई। बात यह है कि यद्यपि अश्क जी के पिता स्टेशन मास्टर थे और उस ज़माने का स्टेशन मास्टर बड़ा आदमी समझा जाता था, लेकिन अश्क के पिता जी अजीब मन-मौजी और रंगीले आदमी थे, पीने की उन्हें बड़ी लत थी और दीवाली के दिनों जुआ खेलना—और सब कुछ भुलाकर जुआ खेलना—उन्हें पसन्द था। कई बार सारे का सारा वेतन हार देते थे। फलस्वरूप अश्क जी का परिवार बड़ी कठिनाई से दिन गुजारता था। इस के अतिरिक्त पंडित माधोराम बड़े उदार दिल वाले थे, कोई उनके आश्रय में आये और वे उन्हें आश्रय न दें, कोई उनके सामने याचना का हाथ फैलाये और वे उसे निराश कर दें, यह उनके बस में न था। कई बार पास रुपया न होने पर वे अपनी बीवी को ज़ेवर तक गिरवी रख देने पर मजबूर कर देते थे और अपने छै बेटों के अलावा उन्होंने इतने बेटे बना रखे थे कि उनकी पालना करने में उन्हें अपने बेटों का ध्यान ही न रहता था*। अश्क जी का मन एम० ए० करने को था, पर एम० ए० के लिए लाहौर जाना ज़रूरी था, और इतनी पूँजी न थी, इसलिए परीक्षा देते ही वे अपने स्कूल में

*छठा बेटा में पं० बसन्त लाल का चरित्र उनसे प्रभावित है, पर पंडित माधोराम की उदार दिली, दृढ़-प्रतिज्ञता और इच्छा-शक्ति का शतांश भी बसन्त लाल के चरित्र में नहीं। लगभग पैंतीस वर्ष तक शराब पीकर एक दिन उन्होने- जो उसे छोड़ा तो फिर मरते मर गये, पर उसे मुँह नहीं लगाया। यह अन्तर्भूत latent इच्छा-शक्ति 'छठा बेटा' के पण्डित बसन्त लाल में नहीं आ पाई ? पर शायद वैसा कुछ 'छठा बेटा' के शराबी पिता से लेखक को अभीष्ट भी नहीं था।

अध्यापक हो गये।

अश्क जी छुटपन में अध्यापक बनने, लेखक और सम्पादक बनने, वक्ता और वकील बनने, एक्टर और डायरेक्टर बनने और थियेटर अथवा फिल्म में जाने के सपने अक्सर देखा करते थे। अध्यापक बनते ही उनका पहला सपना पूरा हो गया, किंतु प्राइवेट स्कूल की अध्यापकी ने उस सपने का सारा सौन्दर्य छिन्न-भिन्न कर दिया और छै ही महीने में उस जीवन की संकीर्णता से ऊब कर अश्क जी लाहौर भाग गये और वहाँ उर्दू दैनिक 'भीष्म' में पच्चीस रुपये पर काम करने लगे। कुछ महीने 'भीष्म' में काम करने के बाद वे ला० लाजपतराय द्वारा संचालित उर्दू दैनिक 'वन्देमातृरम' में चले गये। उसी वर्ष उनकी शादी हो गई।

१६३३ में अश्क जी ने उस नौकरी को भी छोड़ दिया और कुछ महीने स्वतन्त्र रूप से जीवकोपार्जन करते रहे। इस बीच में ऐसे दिन भी आये, जिनमें उन्होंने साप्ताहिक 'भूँचाल' का सम्पादन भी किया और साप्ताहिक 'गुरू घंटाल' के लिए प्रति सप्ताह एक रुपये में एक कहानी लिखकर दी। इसी बीच में आपने 'झंडू फार्मेसी' के लिए विज्ञापन लिखे और 'मस्ताना जोगी' के लिए जड़ी बूटियाँ पर लेख... ...और दूसरे कई पापड़ बेले।

लेकिन १६३४ में आपने अचानक ला-कालेज ज्वाइन कर लिया और १६३६ में फर्स्ट डिवीजन में पास हुए। सात सौ छात्रों में ऊपर में आठ दस छात्रों में उनका नम्बर था। ला-कालेज में दाखिल होने के कई कारण थे। एक तो दो अढ़ाई वर्ष पत्रकार जगत को—विशेषकर उर्दू समाचार पत्रों के जगत को—निकट से देखने पर अश्क जी का दूसरा सपना भी टूट चुका था, दूसरे कई घरेलू कारणों से उन्होंने यही

उचित समझा कि वे ला० पास कर सब जजी के कम्पीटीशन में बैठें और सब जज होकर दम लें। जिस साल अश्क जी ने ला किया, उस वर्ष ग्यारह छात्र चुने जाने वाले थे। इसलिए यदि वे कम्पीटीशन में बैठते तो उनके सफल होने का काफी चांस था, पर कम्पीटीशन के दो महीने पहले ११ दिसम्बर १६३६ को लम्बी बीमारी के बाद, अश्क जी की पहली पत्नी की मृत्यु हो गई और उनका सब जज बनने का सारा उत्साह जाता रहा। अश्क जी ने कानून की किताबें बेच-बाच डालीं और स्वतन्त्र रूप से साहित्य-सेवा करने लगे। कौशल्या जी (अश्क जी की वर्तमान संगिनी) ने अपने रेखाचित्र में इस घटना का यों उल्लेख किया है।

> "........छोटी आयु ही में उनका विवाह हो गया था—एक सरल, किन्तु अशिक्षित ग्रामीण लड़की के साथ। वह किसी योग्य हुई तो यक्ष्मा ने लम्बी यातना के बाद उसे अपनी गोद में ले लिया। उसकी मृत्यु से अश्क जी को बड़ा धक्का लगा। इनके यहाँ पहली पत्नी का देहान्त होते ही रिश्ते आने लगते हैं। अश्क जी को पहली पत्नी पसन्द न थी, किन्तु चार वर्ष के सहचर्य से उसे चाहने लगे थे। उन्होंने जल्दी दूसरा विवाह नहीं किया। सब जजी करने को कानून पास किया था, किन्तु प्रतियोगिता से दो महीने पूर्व पत्नी की मृत्यु हो जाने के कारण, खिन्न मन हो, वह संकल्प छोड़ साहित्य-सेवा में रत हो गये।"

१६३६ के बाद अश्क जी के साहित्य का अति-उर्वर-युग आरम्भ होता है। उन दिनों में अश्क जी ने न केवल बहुत लिखा, बल्कि बहुत अच्छा लिखा। अश्क जी इससे पहले भी लिखते थे। उर्दू में

'नवरत्न' और 'औरत की फ़ितरत' नामक उनके दो कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके थे और हिन्दी कहानी संग्रह 'जुदाई की शाम का गीत' की अधिकांश कहानियाँ भी उर्दू में छप चुकी थीं, लेकिन जैसा कि उन्होंने स्वयं माना है १६३६ के पहले की ये कृतियाँ उतनी अच्छी नहीं बनीं। वे आदर्शोन्मुख, कल्पना-प्रधान अथवा कोरी रोमानी थीं। अनुभूति का स्पर्श उन्हें कम मिला था। १६३६ के बाद अश्क जी की कृतियों में सुख-दुख-मय जीवन के व्यक्तिगत अनुभव से निखार आ गया है। इसके अतिरिक्त जहाँ पहले अश्क जी बारह तेरह घंटे काम करते थे, वहां अब साहित्य-सृजन के सिवा वे और कुछ न करते थे।

अश्क जी की पहली पत्नी डेढ़ वर्ष बीमार रही। अपने सीमित साधनों में अश्क जी ने उसकी भरसक सेवा की, पर यक्ष्मा के रोगी को बचाने के लिए, विशेषकर उन दिनों में, जिन साधनों की आवश्यकता थी, उसका उनके पास नितान्त अभाव था। इन सब कठिन परिस्थितयों में निम्न-मध्यम वर्ग के उस उलझे हुए जीवन की यथार्थता के कुछ ऐसे अनुभव अश्क जी को हुए कि जब सब जजी और वकालत का ख्याल छोड़कर अपने मन को लगाने के लिए उन्होंने कलम उठाई तो उनकी लेखनी अबाध गति से बह निकली। उर्दू काव्य की एक नयी धारा' (आलोचनात्मक ग्रन्थ) जय-पराजय (ऐतिहासिक नाटक) 'पापी' 'वेश्या' 'अधिकार का रक्षक' 'लक्ष्मी का स्वागत' 'जोंक', 'पहेली' और 'आपस का समझौता' (एकांकी) स्वर्ग की झलक सामाजिक नाटक) उनके कहानी संग्रह 'पिंजरा' की सभी कहानियाँ, 'छींटे' की कुछ कहानियाँ और 'प्रातः दीप' की सभी कविताएँ उनकी पत्नी की मृत्यु के दो अढ़ाई

साल बाद ही के अल्प समय में लिखी गईं ।

इन रचनाओं में अश्क ने कोरी कल्पना से काम नहीं लिया और अपनी अनुभुतियों को लेखनी की नोक पर रख दिया, इसलिए क्या उर्दू और क्या हिन्दी, दोनों क्षेत्रों में अश्क अगली पंक्ति के लेखकों में आ गये। हिन्दी में अश्क लिखने तो १९३५ में ही लगे थे, पर हिन्दी में भी अधिकांश कृतियां उन्होंने इसी अढ़ाई वर्ष के समय में लिखीं।

१९३९ में अश्क जी 'प्रीतनगर' चले गये और वहाँ से निकलने वाली एक मासिक पत्रिका के उर्दू हिन्दी दोनों संस्करणों का सम्पादन करने लगे। प्रीतनगर अश्क जी पौने दो साल रहे। यहाँ उन्होंने अपनी तीन चार कहानियाँ, 'छठा-बेटा' नाटक और 'गिरती दीवारें' का काफी भाग लिखा।

पहली पत्नी के मृत्यु के बाद, दूसरी शादी करने की कुछ वैसी अभिलाषा अश्क जी को नहीं थी, पर अचानक १९४१ में उन्होंने कुछ महीने के अन्तर से दो शादियाँ कर डाली। अश्क जी का घरेलू जीवन सुखमय नहीं था, उनकी पत्नी की मृत्यु जिन हालात में हुई, उसका प्रभाव अश्क के मन पर गहरा पड़ा, पर लाहौर का निम्न मध्यमवर्गीय जीवन भी उन दिनों खासा जुगुप्सा भरा था। स्वतन्त्र रूप से काम करते करते जो अश्क जी प्रीतनगर भागे थे तो लाहौर के इस जीवन से ऊब कर ही। कौशल्या जी ने 'दो धारा' के अपने रेखाचित्र में अश्क की उन दिनों की मानसिक स्थिति का सुन्दर खाका खींचा है —

> "ला ौर का जीवन तब काफी जुगुप्सा और लांच्छना भरा था। कोई न कोई कलंक कहानी तब वहाँ नित्य फैलती रहती। अश्क जी वहाँ से शान्ति की खोज में भागे तो मध्य पंजाब के एक आधुनिक आदर्शवादी गाँव प्रीतनगर में जा

पहुँचे। वहाँ भी लांछना ने पीछा नहीं छोड़ा। 'अश्क जी इतने तंग आ गये कि अपने बड़े भाई को लिख दिया—'मेरी शादी कहीं तय कर दो।' उन्होंने देखे सुने बिना एक जगह शादी पक्की कर दी। अश्क जी कुछ शान्त हुए तो लगा कि खासी गलती हो गई है, पहला विवाह भी कुछ ऐसे ही हुआ था। अनुभव खासे कटु थे। अश्क जी ने भाई साहब को लिखा—'सगाई तोड़ दो।' उन्होने कहीं दूर के रिश्ते में सगाई तय की थी। वे माने नहीं। मन की ऐसी दुविधा भरी खिन्न और क्लान्त दशा में थे, जब मेरा उनसे परिचय हुआ।"

अश्क चाहते थे—कौशल्या उनसे चुपचाप शादी कर लें, सगाई अपने आप टूट जायगी। कौशल्या चाहती थीं कि वे खुले आम सगाई तोड़ें और शादी करें। अश्क जी के विवाह की तिथि पहले ही से निश्चित थी। महीने भर में बारात चढ़ने वाली थी। इसी असमंजस में वह तारीख आ पहुँची और अश्क अनिच्छापूर्वक फरवरी १९४१ में दूसरी शादी कर आये।

दूसरी पत्नी से अश्क जी की नहीं पटी। अपने ही कथनानुसार एक ही महीने के उस दिखावटी जीवन के नरक से वे ऊब उठे और प्रीतनगर की नौकरी पर लात मार, फ़र्नीचर आदि बेच, पत्नी को मैके भेजकर, उन्होंने दूर बंगलौर में एक ट्यूशन ले ली। लेकिन बंगलौर के लिए चलने से चन्द दिन पहिले ही कथाकार कृष्णचंद्र ने उन्हें आल इंडिया रेडियो में बुला लिया और जून, १९४१ में वे वहाँ परामर्शदाता के रूप में काम करने लगे। सितम्बर की छुट्टियों में कौशल्या जी दिल्ली आईं। अश्क जी ने उनसे फिर चुपचाप शादी करने का प्रस्ताव

भी उन्हें पसन्द न आया, इसलिए उन्होंने वापस लाहौर जाने का निर्णय कर लिया। लेकिन उस समय जब वे फिलमिस्तान छोड़कर लाहौर जाने के सपने देख रहे थे और अपने नाटक 'तूफ़ान से पहले' को 'इपटा' के लिए डायरेक्टर कर रहे थे, वे बीमार पड़ गये और दो महीने की बीमारी के बाद डाक्टरों ने यक्ष्मा का फतवा दे दिया। कौशल्या जी लाहौर सामान छोड़कर वापस आ रही थीं कि दिल्ली में उन्हें अश्क जी की बीमारी का तार मिला। वे तत्काल बम्बई पहुँचीं और लाहौर ले जाने के बदले अश्क जी को पंचगनी के सेनेटोरियम में ले गईं।

१९४७-४८ का काल, जहाँ एक ओर अश्क जी की घोर अस्वस्थता का काल है, वहाँ उनके सृजन की उर्वरता का भी स्वर्ण-समय है। बीमारी के पहले छै महीने में अश्क जी को पूरा आराम करने और निरन्तर बिस्तर पर लेटे रहने का आदेश था। वे लेटे लेटे कविता करते रहे। दिन भर में अपने मस्तिष्क में जो छन्द वे बनाते सांझ को अपने छोटे भाई या अपनी पत्नी को लिखा देते। अपनी प्रसिद्ध कविता 'दीप जलेगा' और अपना खण्ड काव्य 'बरगद की बेटी' उन्होंने इसी समय लिखा। जब उनको उठने बैठने और काम करने की इजाज़त हो गई तो उन्होंने फिर कहानी लिखना आरम्भ कर दिया। 'छींटे' की लगभग २० कहानियाँ इसी समय में लिखी गईं। इसके अतिरिक्त अश्क जी ने अपना नाटक 'कइसा साब कइसी आया' यहीं लिखा और 'गिरती दीवारें' का उर्दू अनुवाद पूरा किया। 'चरवाहे' छपवाया और 'आदि मार्ग' के नाटकों की प्रेस कापी तैयार की।

बीमारी के पौने दो वर्षों में पंचगनी सी मंहगी जगह में अपनी बीवी

और बच्चे के साथ रहने के कारण चौदह पन्द्रह हज़ार रुपया जो अश्क जी ने फिल्म में कमाया था खत्म हो गया। सामान का काफ़ी हिस्सा लाहौर रह गया था। उस समय जब अश्क जी बड़े चिन्तित थे, स्व० होमवती देवी के अनवरत श्रम से (जिन्होंने एक ओर साहित्कार संसद की संचालिका श्रीमती महादेवी वर्मा को लिखा और दूसरी ओर अपने मुह बोले भाई, शिक्षा विभाग के तात्कालिक पार्लयामेंट्री सेक्रेट्री श्री रघुकुल तिलक को) उन्हें यू० पी० सरकार से पाँच हज़ार रुपये का स्टाइपेंड मिला और अश्क जी के लिखने पर शिक्षा-मन्त्री ने अढ़ाई हज़ार रुपया पंचगनी पहुँचा दिया। अश्क जी काफ़ी स्वस्थ हो गये थे, डाक्टर उन्हे कुछ महीने और वहाँ गुज़ारने का परामर्श दे रहे थे ताकि वे पूरी तरह नैगेटिव हो जायँ। जून १६४८ में डाक्टरों ने अश्क जी को पंचगनी छोड़ने की इजाज़त दे दी और जुलाई १६४८ में वे दिल्ली से होते हुए इलाहाबाद आ गये। दो महीने बाद कौशल्या जी भी सामान लेकर पहुँच गईं।

१६४८ से ५३ तक—पिछले पाँच-वर्ष अश्क दम्पत्ति के जीवन में बड़े संघर्ष के वर्ष रहे हैं। अश्क यक्ष्मा के चंगुल से चाहे निकल गये, लेकिन नौकरी के योग्य न रहे। इलाहाबाद आकर भी साल भर तो वे ए० पी० लेते रहे। दायाँ फेफड़ा बन्द होने से श्रम का काम करना उनके लिए कठिन था, फिर हर छठे महीने उन्हें इन्जेक्शन लेने पड़ते। तब कौशल्या जी ने पहले यू० पी० और फिर केन्द्रीय सरकार से ऋण लेकर 'नीलाभ प्रकाशन गृह' की नींव रखी और अश्क जी की पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था की। पिछले तीन चार वर्षों में कौशल्या जी ने अश्क जी की लगभग बाइस पुस्तकें अपने प्रकाशन-गृह से छाप दी हैं और अश्क जी के चिर-स्वप्न को साकार रूप दे दिया है। अपना